JIGYASA

As the name reflects itself Jigyasa is a Research Journal focused on gathering knowledge on the different issues of Arts, Linguistics and Social Sciences. It is a journal which generates appetite for knowledge amongst the social scientists, educationists, linguists, policy makers and the politicians and at the same time it also evolves the solutions. Our international and national experts of the subjects will be regularly guiding the society with their thought provoking papers and articles.

Centuries of human thought have pored over, why is there evil when there's also God. Why does God kill innocent children in an atrocious crime that they haven't had the slightest idea about? Above all, why does God scare us with his wrath.... and many more questions about our thoughts and society.

Our effort is to gather the knowledge from all nooks and corners of the society and at the same time to disseminate the same back to the society for its benefit. Let the knowledge be not the slave of a hard cover bound book or a journal. Let's come out with new ideas and theories to improve our society and the political system. We welcome all of you with this edition of our Journal and thank those who have contributed.

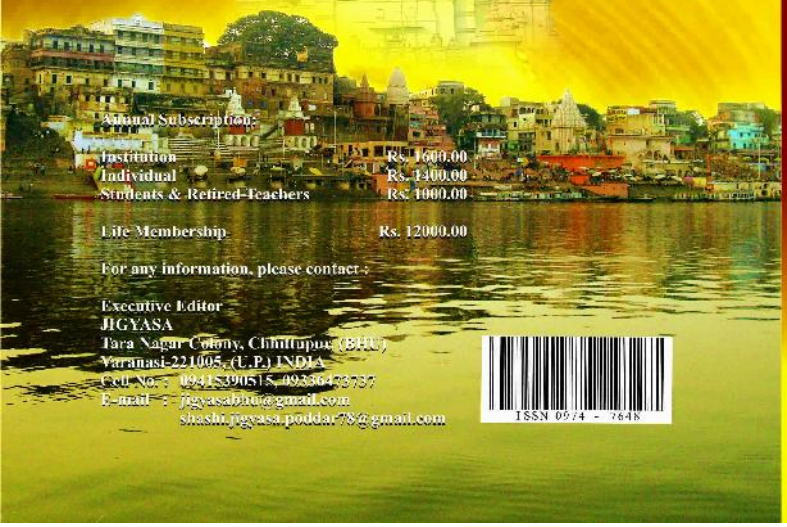

Annual Subscription:

Institution	Rs. 1600.00
Individual	Rs. 1400.00
Students & Retired-Teachers	Rs. 1000.00
Life Membership	Rs. 12000.00

For any information, please contact :-

Executive Editor
JIGYASA
Tara Nagar Colony, Chhitupur (BHU)
Varanasi-221005, (U. P.) INDIA
Cell No. : 09415390515, 09336433737
E-mail : - jigyasabhu@gmail.com
shashi.jigyasa.poddar78@gmail.com

ISSN 0974 - 7648

JIGYASA Vol. 14 No. III March, 2021

UGC Approved Journal No - 40957
ISSN 0974 - 7648

JIGYASA

An Interdisciplinary Peer Reviewed Refereed Research Journal

जिज्ञासा

Chief Editor :
Indukant Dixit

Executive Editor :
Shashi Bhushan Poddar

Editor :
Reeta Yadav

(IIJIF) Impact Factor- 4.172

Regd. No. : 1687-2006-2007 **ISSN 0974 - 7648**

J I G Y A S A

AN INTERDISCIPLINARY PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

Chief Editor : ***Indukant Dixit***

Executive Editor : ***Shashi Bhushan Poddar***

Editor
Reeta Yadav

Volume 14 **March 2021** **No. III**

Published by
PODDAR FOUNDATION
Taranagar Colony
Chhittupur, BHU, Varanasi
www.jigyasabhu.blogspot.com
www.jigyasabhu.com
E-mail : jigyasabhu@gmail.com
Mob. 9415390515, 0542 2366370

JIGYASA, ISSN 0974-7648, Vol. 14, No. III, March 2021

Contents

- **गुरु तेग बहादुर-'हिन्द की चादर'** **1-9**
  डॉ. अमर सिंह वधान, पोफेसर एमरिट्स, डी. लिट्.
- **प्रमाण-सम्पलव एवं प्रमाण-व्यवस्था का विचार** **10-15**
  डॉ . जयंत उपाध्याय, एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन एवं संस्कृति विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा
- **वर्तमान प्राथमिक शिक्षा : दशा एवं दिशा** **16-22**
  प्रियंकर त्रिपाठी, शोध छात्र, शिक्षा संकाय, श्री गांधी पी०जी० कॉलेज, मालटारी, आजमगढ़
- **आधुनिक संस्कृत साहित्य : एक परिचय** **23-29**
  सविता यादव, शोध छात्रा, संस्कृत स्नातकोत्तर महाविद्यालय मलिकपूरा, गाजीपुर
- **'कामायनी' में भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण** **30-37**
  डॉ. तृप्ता, प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, अदिति महाविद्यालय, बवाना, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **गोपीचंद के उपन्यासों में नारी की भूमिका** **38-44**
  प्रियंका सिंह, शोध छात्रा, तेलुगु विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
  प्रो. बी. विश्वनाथ, शोध निर्देशक, तेलुगु विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
- **बाह्य आक्रमण के कारण वर्णाश्रम विरोधी प्रवृत्तियों का उदय और प्रभाव** **45-53**
  डॉ. बासुकी नाथ चौधरी, एसोसिएट प्रोफेसर पी.जी.डी.ए.वी. (सांध्य) कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
- **प्राचीन भारतीय इतिहास में राज्य व्यवस्था का विभिन्न आयाम** **54-58**
  सत्येन्द्र पासवान, शोध छात्र, प्रा० भा० एवं ए० अध्ययन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
- **पूर्व मध्यकाल के पूर्व की धार्मिक स्थिति का एक संक्षिप्त अवलोकन** **59-65**
  डॉ. सर्वेश कुमार मिश्रा, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, डॉ० विभूति नारायण सिंह गंगापुर परिसर महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

- **विश्व संरचना में यन्त्रवाद एवं प्रयोजनवाद की अवधारणा एवं वर्तमान सन्दर्भ में इसकी प्रासंगिकता** **66-68**
  डॉ. ममता सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
- **सोशल मीडिया के मायावी विचित्र संसार का वस्तुनिष्ठ अध्ययन** **69-76**
  डॉ. सेवा सिंह बाजवा, ऐसोसिएट प्रोफेसर, पत्रकारिता एवम् जनसंचार विभाग, चौधरी देवीलाल विश्वविद्यालय, सिरसा
- **विकास नीति और नदी धाटी परियोजनाएः एक समीक्षात्मक अध्ययन** **77-83**
  डॉ. सोनाली सिंह
- **साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में स्त्री** **84-90**
  डॉ. राम कृष्ण, एसो० प्रोफे०, हिन्दी विभाग, पं० दीनदयल उपाध्याय राजकीय बालिका, महाविद्यालय सेवापुरी वाराणसी (उ०प्र०)
- **जनहितवाद** **91-94**
  डॉ. स्मिता पाण्डेय, असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, पं. दी.द. उ.रा.म.पी.जी.कॉ., राजाजीपुरम्, लखनऊ उ०प्र०
- **कनिष्क प्रथम युगीन जैन धर्म तथा कला** **95-100**
  अशोक कुमार यादव, शोधछात्र, प्राचीन इतिहास, गाँधी शताब्दी स्मारक पी० जी० कालेज, कोयसला, आजमगढ़
  डॉ० स्वस्तिक सिंह, अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, गाँधी शताब्दी स्मारक पी० जी० कालेज, कोयसला, आजमगढ़
- **बिहार में राजनीतिक नेतृत्व और कृषि नीति (2000–2020 ई०)** **101-107**
  राजेश कुमार राम, शोध छात्र (राजनीतिशास्त्र), ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा, पिता-हरे कृष्ण राम, ग्राम-दाईग, पो.-महपारा, थाना-बहादुरपुर, जिला-दरभंगा-846009
- **हिंदी गीतकाव्य की परंपरा और निराला के गीतों की विशेषताएं** **108-117**
  मोहन कुमार, शोधार्थी,हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी
- **19वीं शताब्दी में हुए सामाजिक नवजागरण का इतिहास : एक अध्ययन** **118-125**
  डॉ. आशा शर्मा, पी०-एच० डी० इतिहास विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

JIGYASA, ISSN 0974-7648, Vol. 14, No. III, March 2021

- **राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की कमियों का अध्ययन** **126-132**
  दुर्गेश कुमार, शोधार्थी, राजनीति विज्ञान, वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय जौनपुर (उ.प्र.)

- **निर्मल वर्मा के कहानी संग्रह 'परिन्दे' में एकांतिक अनुभूति** **133-137**
  राधा जायस, (शोध छात्रा) किशोरी रमण (पी० जी०) कॉलेज, मथुरा (उ० प्र०)

- **मिथिला क्षेत्र के विकास की अवधारणा** **138-143**
  डॉ. उपेन्द्र मेहत्तर, ग्राम +पो०+थाना-देवधा, भाया-जयनगर, जिला-मधुबनी (बिहार)

- **''लौकिंक संस्कृत वाङ्मये काव्यशास्त्रस्य महत्ता माहात्म्यं वा''** **144-148**
  प्रो. जनार्दन प्रसाद पाण्डेय, शोध निर्देशक (मणि), राष्ट्रीय संस्कृति संस्थान गंगा नाथ झा परिसर प्रयागराज केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, देलही
  रामधन, शोध छात्र,एम.ए., एम.एड., नेट जे.आर.एफ पी.एच.डी.

- **मौर्य कालीन ग्राम्य शासन-एक अध्ययन** **149-150**
  डॉ. प्रवीण कुमार श्रीवास्तव, अध्यक्ष, सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग जवाहर लाल नेहरू स्मारक पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, महाराजगंज, (उ. प्र.)

- **वैश्विक महामारी कोविड-19 का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव एवं चुनौतियाँ** **151-154**
  डॉ. शक्ति सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, के.डी.पी.जी. कालेज, सेवापुरी, वाराणसी

- **पत्रकारिता के शिखर पुरूष : पंडित दीनदयाल उपाध्याय** **155-158**
  डॉ. गीता शाहू, सहायक प्रोफेसर जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
  डॉ. सूर्य प्रकाश पाण्डेय, सहायक प्रोफेसर दर्शन एवं संस्कृति विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

- **रायगढ़ रियासत के गौरव - राजा चक्रधर सिंह** **159-162**
  डॉ. रणजीत कुमार बारीक, सहायक प्राध्यापक (इतिहास), के.एम. टी. शासकीय कन्या महावि., रायगढ़, (छ.ग.)

- **भूमण्डलीकृत दुनियाँ की इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यास की चिन्ताएँ** **163-170**
  बलबीर सिंह, लेखक, शोधार्थी, हिन्दी विभाग, आगरा कॉलेज आगरा

- **उस्ताद अलाउद्दीन खाँ द्वारा विविध वाद्यों की वादन शैली का विस्तार एवं संशोधन** **171-174**
  सुमन यादव, शोध छात्रा, संगीत एवं कला प्रदर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
  प्रो. पं. प्रेम कुमार मल्लिक, शोध निर्देशक, संगीत एवं कला प्रदर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **''स्त्री शिक्षा के सन्दर्भ में आयोगों एवं राष्ट्रीय शिक्षा नीति के सुझावों का विश्लेषणात्मक अध्ययन''** **175-178**
  डॉ. धर्मेन्द्र प्रताप सिंह, विभागाध्यक्ष, बी. एड्. विभाग, प्रताप बहादुर पी. जी. कालेज प्रतापगढ़ सिटी, प्रतापगढ़
- **वर्तमान शिक्षा प्रणाली की प्रमुख समस्याओं का अनुशीलन** **179-186**
  शिख मिश्रा, शोधार्थिनी शिक्षाशास्त्र विभाग, राजा श्री कृष्णदत्त पी. जी. कालेज, जौनपुर, उ. प्र.
  डॉ. गयानन्द उपाध्याय, एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, राजा श्री कृष्णदत्त पी. जी. कालेज, जौनपुर, उ. प्र.
- **''माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों के व्यावसायिक अभिवृत्ति का तुलनात्मक अध्ययन''** **187-193**
  सन्तोष कुमार, (शोध छात्र), शिक्षाशास्त्र (कला वर्ग), हण्डिया पी. जी. कालेज हण्डिया प्रयागराज
- **पर्यावरण सुरक्षा और सन्तुलित विकास : एक अध्ययन** **194-199**
  दिनेश कुमार, शोध छात्र-राजनीति विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
- **विनोबा भावे के शैक्षिक विचारों की वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता : एक आलोचनात्मक अध्ययन** **200-204**
  विवेक कुमार सिंह, शोध छात्र, जे.एल.एन. मेमो.पी.जी. कालेज, बाराबंकी (उ.प्र.)
  डॉ. छत्रसाल सिंह, एसो. प्रो., शिक्षाशास्त्र विभाग, जे.एल.एन. मेमो. पी.जी. कालेज, बाराबंकी (उ.प्र.)
- **चौथा सप्तक के कवि : काव्य दृष्टि एवं विचारधारा** **205-210**
  डॉ. करुणा गुप्ता, एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी), आर्य कन्या महाविद्यालय हापुड़

JIGYASA, ISSN 0974-7648, Vol. 14, No. III, March 2021

- **सामाजिक असमानता के आधार एवं प्रमुख कारण** **211-217**
  डॉ. संजय तिवारी, एम.ए., एल-एल.बी., पी-एच.डी., एसो. प्रो. एवं विभागाध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग, डी.ए.वी. पी.जी., कालेज, लखनऊ
- **भारत में समाजवादी आन्दोलन का प्रारम्भिक चरण** **218-221**
  डॉ. पंकज कुमार सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान , हरिशचन्द्र पी. जी. कॉलेज, वाराणसी
- **''वैशेषिक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप''** **222-224**
  रमेश चन्द्र, शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी - 221005
- **संगीत और मनोवैज्ञानिक तत्व** **225-228**
  डॉ. प्रमिति चौधरी, एसोसिएट प्रोफेसर संगीत, प्रयाग महिला विद्यापीठ डिग्री कॉलेज, प्रयागराज
- **बदलते परिवेश में नारी शिक्षा** **229-233**
  डॉ. विवेक कुमार यादव, पूर्व शोध-छात्र, समाजशास्त्र म.गॉ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी
- **बौद्धवाङ्मय में प्राचीन भारत के राजा और राज्य** **234-252**
  रोशन राज, गवेषक, इतिहास विभाग, भू.ना. विश्वविद्यालय, मधेपुरा, बिहार
- **दलित समाजसुधारक सन्त गाडगे बाबा एवं उनका सामाजिक दर्शन (एक समाजशास्त्रीय मीमांसा)** **253-270**
  डॉ. दिलीप कुमार, असिस्टेन्ट प्रोफसर, समाजशास्त्र विभाग, भानमती स्मारक पी. जी. कालेज, अकबरपुर, अम्बेडकर नगर
- **वासुदेव कृत युधिष्ठिरविजयम् महाकाव्य में परिलक्षित राजनीति के विविध पक्ष** **271-275**
  परशुराम तिवारी, शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
- **स्त्री स्वाधीनता की चेतना और बंग महिला** **276-282**
  शाज़िया बी, शोधार्थी- (पीएच.डी.), हिन्दी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली

JIGYASA, ISSN 0974-7648, Vol. 14, No. III, March 2021

- **आधुनिक समाज में महिलाओं की भूमिका** **298-301**
  डॉ. नमिता अग्रवाल, एसो. प्रो.संस्कृत, अतर्रा पी.जी. कालेज, अतर्रा बाँदा (उ.प्र.)

- **राग प्रकृति और रस : एक विश्लेषण** **302-309**
  शिवा राठौर, शोध छात्रा-संगीत, रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली, उत्तर प्रदेश
  डॉ. शशि शुक्ला, विभागाध्यक्षा-संगीत विभाग, साहू राम स्वरूप महिला महाविद्यालय, बरेली उत्तर प्रदेश

- **बिहार में ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य में आने वाली बाधाएँ** **310-317**
  ममता कुमारी, शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

- **भाषा विज्ञान और संस्कृत ध्वनिग्राम** **318-325**
  गणेश शंकर पाण्डेय, सहायक आचार्य, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, डी.ए.वी. पी.जी. कालेज, आजमगढ़।

- **दलित चेतना एवं स्वैच्छिक संगठनों का संकल्प** **326-336**
  उत्तम कुमार, शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

- **प्रथम बौद्ध संगीति अध्यक्ष बुद्ध अग्रश्रावक महाकाश्यप** **337-341**
  डॉ. यु. कुण्डला, सहायक प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष, चीनी एवं जापानी अध्ययन विभाग, नव नालन्दा महाविहार, (मानित विश्वविद्यालय) संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार, नालन्दा।

- **प्रश्न पत्र गुणवत्ता रेटिंग स्केल उपकरण का निर्माण एवं मानकीकरण** **342-347**
  सुनील कुमार तोमर, शोधार्थी, शिक्षा विभाग, चौ. चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ
  डॉ. राकेश कुमार शर्मा, एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, चौ. चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

- **लिंग एवं परिवेश के आधार पर माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति एवं बुद्धि-लब्धि का अध्ययन** **348-357**
  दीपक मिश्रा, शोध छात्र, शिक्षाशास्त्र विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.।

गुरु तेग बहादुर-'हिन्द की चादर'

डॉ. अमर सिंह वधान *

मानव विकास के प्रत्येक चरण का अपना पैगंबर हुआ है, जिसने अपने समय के लोगों का पथ–प्रदर्शन किया और ऐसे नए, उच्च एवं उत्साहवर्धक मूल्यों की स्थापना की जो जीवन में आशा और विश्वास पैदा करते हैं। भारतीय दर्शन, चिंतन और अध्यात्म की गहरी समझ रखने वाले महापुरुषों ने भी एक नूतन भावात्मक विश्व दृष्टि प्रदान कर मानव के अस्तित्व, उसका जगत् के प्रति लगाव, मानव सेवा और सर्वमुक्ति का विचार लोगों के सामने रखा। उन्होंने पूर्ण सत्य को उसकी समग्रता में ही समझा। यदि मानव के आध्यात्मिक विकास की कोई संभावना है तो वह उत्कृष्ट चेतनता एवं सर्वज्ञता के जीवन में ही है। जब मनुष्य पूर्णता को प्राप्त करता है, तब वह अपने प्रकाश से समूची मानवता को प्रकाशित करता है।

लेकिन भारत में बसने वाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारतीय चिंतन, अध्यात्म, दर्शन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत में आज जो कुछ है, उसकी रचना को भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का बराबर योगदान है। 'हिन्द की चादर' से ससम्मान संज्ञापित होने वाले गुरु तेग बहादुर भी इसके अपवाद नहीं है, क्योंकि उन्होंने अत्याचारों से विचलित धर्म एवं मानवता को स्थिरता प्रदान की। उत्साह, धैर्य, शांति और प्रेरणा के पुंज गुरु साहिब का कहना था कि सिख वह नहीं जो किसी से डरता है या किसी को डराता है, बल्कि सच्चा सिख वह है जो निर्भय और निरवैर है। उन्होंने सिखों को सांसारिक मोह छोड़कर धर्म के लिए कुर्बानी की विधि से भलीभाँति अवगत कराया। उनका यही बीज विचार गुरु गोविन्द सिंह के नेतृत्व में 'खालसा पंथ' के रूप में साकारित हुआ। आश्चर्य नहीं कि गुरु तेग बहादुर के गंभीर, वैराग्यपूर्ण तथा कांतिकारी व्यक्तित्व का प्रभाव सिखों पर ही नहीं, अपितु हिन्दू–मुसलमानों पर भी गहरा पड़ा।

- **जीवन रेखा**

गुरु तेग बहादुर का जन्म मीरी तथा पीरी की दो तलवारें धारण करने वाले गुरु हरिगोबिन्द साहिब के घर माता नानकी के उदर से 1 अप्रैल, 1621 ई. को अमृतसर में हुआ। कुछ विद्वान इनके जन्म की तारीख 18 नवंबर, 1621 ई. बताते हैं। इनकी प्रारंभिक शिक्षा के लिए बाबा बुड्डा जी तथा भाई गुरदास जी का संरक्षण प्राप्त हुआ। आपने अपने धर्मवीर पिता की देख–रेख में आत्म विद्या तथा शस्त्रा विद्या की शिक्षा ग्रहण की। करतारपुर के युद्व में आपने तलवार के ऐसे चमत्कार दिखाए जिस पर पिता

---

* प्रोपेफसर एमरिट्स, डी. लिट्.

ने प्रसन्न होकर कहा, ''तू तो ठीक ही तेग बहादुर है और अपने नाम को सार्थक कर दिया है।'' शैशव काल से ही आप शांत एवं गंभीर प्रकृति के स्वामी थे। इनका मन आध्यात्मिक कार्यों की ओर प्रवृत्त था। पाँच साल की आयु में अन्तर्मग्न हो जाने पर इनके पिता ने आध्यात्मिक नेता होने का अनुमान लगा लिया था। त्यागी, संयमी तथा संतुलित स्वभाव के इस अद्वितीय बालक ने अपना अधिकांश समय ईश्वर आराधना में व्यतीत किया। साथ ही इतिहास, गणित, तर्कशास्त्रा, ब्रह्मविज्ञान, महाभारत, रामायण, कुरान, सूफ़ी धर्म तथा अनेक भाषाओं की विस्तृत जानकारी प्राप्त की। पहलवानी, गतका तथा खड़ग आदि का प्रयोग करना इनकी दिनचर्या थी।

गुरु तेग बहादुर की पत्नी माता गुजरी बड़ी दयालु, बुद्विमान, क्षमावान तथा सुन्दर महिला थी। त्याग, संयम तथा सहनशीलता उनके व्यक्तित्व के गुण थे। इनकी 'बाबा बकाले' में की गई निष्काम सेवा महान पत्नी तथा भक्तिन के रूप को उजागर करती है। गुरु गोविन्द सिंह जैसे सुपुत्रा को जन्म देने का गौरव आपको प्राप्त हुआ, जिन्होंने 'खालसा पंथ' की स्थापना की, अत्याचार के विरुद्व डटने का मंत्रा पूँफका और देश के लिए समस्त परिवार को न्यौछावर करके विश्व में एक अनुपम उदाहरण क़ायम किया।

गुरु तेग बहादुर का अधिकांश समय 'प्रभु सिमरन' में ही बीतता। पंचभूत पदार्थों के प्रति आप शुरु से ही अनासक्त थे। जिस समय पिता गुरु हरिगोबिन्द जी ने स्थितियों को देखते हुए गुरु हरिराय को गुरुआई का भार सौंपा तो माता नानकी जी ने ऐसा करने का कारण जानने की इच्छा व्यक्त की। तब गुरु हरिगोबिन्द जी ने कहा, ''अवसर आने पर गुरु तेग बहादुर को भी गुरु गद्दी मिल जाएगी, चिन्ता न करो।'' यह कहकर उन्होंने गुरु तेग बहादुर को पोथी, कटार और रूमाल देकर 'बाबा बकाला' जाने का आदेश दिया। इनका यहाँ पर ननिहाल भी था।

सन् 1664 में गुरु हरिगोबिन्द जी परम ज्योति में समा गए। बाबा बकाला में गुरु तेग बहादुर का समय प्रभु सिमरन में ही बीतता। साधारण से घर में रहते हुए आध्यात्मिक गतिविधियों में आप अधिक संलग्न रहते। माता गुजरी ;पत्नीद्ध और माता नानकी आपका पूर्णतया ध्यान रखतीं। घोर तपस्या की साधना ने गुरु तेग बहादुर की आत्मा को परमतत्त्व से तादात्म्य करा दिया था। लगभग 20–21 वर्ष ;1644–1664द्ध तक बाबा बकाला में ही रहे। वहाँ रहते हुए इन्होंने कई पावन स्थानों का भ्रमण किया। अक्टूबर, 1661 में गुरु हरिराय के बाद गुरु हरिकृष्ण ने गुरु गद्दी का भार सँभाला। इसी दौरान दिल्ली में शीतला तथा हैजा ने जोर पकड़ा। गुरु हरिकृष्ण पर भी शीतला का घातक प्रहार हुआ। लेकिन उन्होंने संगत को संबोधित करते हुए आगामी गुरु का संकेत 'बाबा बकाला' की ओर किया, जिसका अभिप्राय था कि गुरु गद्दी का उत्तराधिकारी गाँव बकाला में निवास कर रहा है। मार्च, 1664 में गुरु हरिकृष्ण ने बैकुंठ में प्रस्थान किया।

- **गुरु तेग बहादुर का प्रकट होना**

अक्टूबर 9, 1664 को मक्खनशाह लुबाना अपने परिवार सहित 'बाबा बकाला' में गुरु जी के दर्शनार्थ उपस्थित हुआ। दरअसल, कुछ समय पहले उसका माल से लदा हुआ जहाज समुद्री तूपफान की लपेट में आ गया था। तब उसने गुरु नानक देव की परंपरा के 'गुरु' को ईश्वरीय रूप मानकर प्रार्थना की थी कि यदि उसका जहाज समुद्री तट पर सही सलामत लग गया तो इसके उपलक्ष्य में वह 500 मोहरें वर्तमान गुरु को भेंट करेगा। अपनी योजनानुसार उसने गुरु जी के सामने पाँच मोहरें भेंट कीं और इंतज़ार करने लगा। गुरु जी ने उसे बाकी मोहरें प्रस्तुत करने का स्मरण करवाया। मक्खनशाह मन–ही–मन मुस्कराने लगा और आश्चर्य के साथ उच्चारण किया, ''सच्चा गुरु यही है।'' खुशी से झूमते हुए मकान की छत पर जाकर ऊँची आवाज में कहने लगा, ''गुरु लाधे रे गुरु लाधे रे,'' अर्थात् वास्तविक गुरु मिल गया।

- **गुरु गद्दी दायित्व**

गुरु तेग बहादुर ने 44 वर्ष की आयु में (20 मार्च, 1664) को गुरुआई का भार सँभाला। लेकिन धीरमल तथा गुरु घर के विरोधियों ने गुरु तेग बहादुर पर कई तरह के आक्रमण करवाए। इतना ही नहीं, धीरमल ने सम्राट औरंगज़ेब के कान भरने शुरु कर दिए। इसी दौरान कश्मीरी पंडित कृपा राम के नेतृत्व में 25 मई, 1675 को सोलह सदस्यों का एक प्रतिनिधि मंडल गुरु जी के पास आया। उन्होंने दिन–प्रतिदिन धर्म की हानि एवं औरंगज़ेब के अत्याचारों से अवगत कराते हुए आश्रय की माँग की। गुरु तेग बहादुर उनकी व्यथा सुनकर विचारमग्न हो गए। तभी बालक गोविन्ददास ने अंदर प्रवेश किया। बालक ने पिताश्री एवं उपस्थित जन को प्रणाम कर हताशा का कारण जानने की जिज्ञासा प्रकट की। गुरु जी ने कहा, ''किसी महान व्यक्ति एवं महापुरुष का बलिदान ही इस संकट को टाल सकता है, जो औरंगज़ेब के पास जाकर उसकी अनुचित नीति को चुनौती दे।'' इस पर बालक गोबिन्द दास ने पिता श्री के सम्मुख होकर तुरन्त कहा, ''आपसे बढ़कर और कौन महापुरुष हो सकता है जो मुग़ल सम्राट के समक्ष शांति, एकता एवं बंधुत्व का पाठ पढ़ाने में कुशल हो। गुरु जी ने पुत्रा का साहसपूर्ण उत्तर सुनकर मन–ही–मन में भूरि–भूरि प्रशंसा की। आपकी चिंता का निराकरण हो गया।

- **विलक्षण शहादत**

अब गुरु तेग बहादुर ने निर्णय लिया कि इस महान कार्य के लिए वे स्वयं शहादत का जाम पीएँगे। उन्होंने पंडित वर्ग को संबोधित करते हुए कहा कि आप लोग औरंगज़ेब को संदेश भेजें कि यदि मुझे ;गुरु जीद्ध अपने धर्म में सन्निविष्ट करने में वह सपफल हो गया तो शेष सभी बिना आपत्ति इस्लाम धर्म अपना लेंगे। तत्कालीन गवर्नर को गुरु जी का संदेश भेजा गया

जिसे सुनकर औरंगज़ेब अत्यंत प्रसन्न हुआ उसने काज़ियों से विमर्श करके गुरु साहिब को दिल्ली बुला भेजने की आज्ञा दी।

कहा जाता है कि गुरु तेग बहादुर ने दिल्ली जाने से पूर्व 8 जुलाई, 1675 को गुरु गोविन्द सिंह को गुरु गद्दी सौंपी। आपने बालक गोविन्द सिंह के मस्तक पर कलगी लगाई, पाँच पैसे तथा नारियल देकर गुरुआई के कार्य भार की रस्म अदा की। इसके पश्चात् 10 या 11 जुलाई, 1675 को अपने साथ भाई मतीदास, भाई दयालदास तथा मुख्य ग्रंथी भाई गुरदित्ता को लेकर आनंदपुर साहिब से अभियान के लिए चल पड़े। गुरु साहिब का मुख्य उद्देश्य औरंगज़ेब से मिलकर उसकी धार्मिक नीति की प्रक्रिया से अवगत कराना था। गुरु जी ने अपने सेवकों सहित आनंदपुर से गमन कर कीरतपुर, सैपफाबाद, आगरा आदि स्थानों पर ठहरते हुए आगरा के बाहर एक उद्यान में एक गड़रिये के माध्यम से बड़े नाटकीय ढंग से अपने आप को गिरफ़्तार करवाया।

एक विशाल सेना की देख–रेख में गुरु जी को दिल्ली लाया गया। औरंगज़ेब ने गुरु तेग बहादुर को तरह–तरह के प्रलोभन देकर इन्हें विचलित करने का प्रयास किया। गुरु साहिब ने औरंगज़ेब को समझाया कि धर्म के नाम पर अन्याय की नीति मानव समाज और राष्ट्र के हित में नहीं है। धर्म एवं आध्यात्मिकता का सही अर्थ भी बताया। लेकिन यह सब सुनने के बाद औरंगज़ेब ने कहा, ''ईश्वर सर्वोच्च है''। मुझे स्वप्न में आकर उसने निर्देश दिया, ''मैं सारे विश्व को इस्लाम में परिवर्तित कर दूँ। अतः मैं उसकी आज्ञा का पालन करने में संलग्न हूँ।'' गुरु जी ने इस पर उत्तर दिया, ''मुझे मालूम नहीं, तुम झूठ बोल रहे हो या तुम्हारा खुदा।'' गुरु साहिब ने आगे कहा, ''मैं तुम्हें प्रत्यक्ष प्रमाण देता हूँ, जिसे तुम स्वयं देख सकते हो।''

तब गुरु साहिब ने बादशाह को पाँच मन मिर्च मँगवाने का आदेश दिया। सम्राट ने शीघ्र ही आज्ञा का पालन करवाया। गुरु जी ने एक ढेर के रूप में मिर्च एकत्रित कर अग्नि दी। कुछ समय बाद मिर्च के ढेर ने राख का रूप ले लिया। जब उस राख को छाना गया तो उसमें से केवल तीन मिर्च पूरी निकलीं। गुरु साहिब ने कहा, ''औरंगज़ेब तेरे प्रश्न का उत्तर मिल गया है। तू दो धर्मों में एक धर्म बनाने का अभिलाषी था। लेकिन परमात्मा दो की अपेक्षा तीन के पक्ष में हैं। इन तीन मिर्चों से स्पष्ट इंगित है कि भविष्य में हिन्दू, सिख और इस्लाम अशेष धर्म रहेंगे।''

यह सुनकर औरंगजेब ने गुरु जी को एक बड़े लोहे के पिंज़रे में चाँदनी चौक की कोतवाली में रखने का आदेश दिया। यहाँ पर आपको कई प्रकार की यातनाएँ दी गईं। पिफर भी गुरु जी सदा प्रसन्नचित्त दिखाई देते। औरंगज़ेब ने गुरु जी के भक्तों को शहीद किया। असल में, वह गुरु जी के अनुयायियों को कड़ा दंड देकर उनको भयभीत करना चाहता था। औरंगज़ेब के तमाम प्रयास निष्पफल हो गए। अपनी अमर शहीदी पाने से कुछ क्षण पहले गुरु तेग बहादुर ने जालिमों को स्पष्ट कहा था, ''धन अमीरों

के पास है और करामात पीरों के पास। हम तो प्रभु के फकीर हैं और हमें उसी के नाम का आश्रय है। हाँ, बिना किसी हथियार के सच्चाई के लिए लड़ मरना सबसे बड़ी करामात है।'' अंततः 11 नवंबर, 1675 समय दोपहर, स्थान चाँदनी चौक ;वर्तमान गुरुद्वारा सीसगंजद्ध कोतवाली में लाकर गुरु जी को खड़ा किया गया। हज़ारों की संख्या में लोग जमा थे। जलालुद्दीन नामक जल्लाद के द्वारा गुरु तेग बहादुर को शहादत का प्याला पिलाया गया। व्यघ्र तथा खामोश जनता में करुणा की लहर दौड़ गई। आँखों से अश्रुधरा बह निकली। औरंगज़ेब की धर्म ध्वजता की यह निरंकुश पराकाष्ठा थी।

इसी बीच प्रकृति ने ऐसा विकराल रूप धारण कर लिया कि चारों ओर आँधी और तूपफान उठ खड़ा हुआ। इस भीषण चमत्कार का लाभ भाई जैता जी ने उठाया और अपने पिता से मिलकर अगहर की तैयारी की हुई थी। गुरु तेगबहादुर के शीश ;शवद्ध को उठा लिया और बड़ी शीघ्रता से उसने आनंदपुर साहिब में पहुँचाया। वहाँ उसने गुरु गोविन्द सिंह के सामने शव रखकर 'रंगरेटा गुरु का बेटा' का वरदान पाया। पूरी श्रद्वा से संस्कार की रस्में संपन्न की गईं। दूसरी ओर गुरु जी के अनन्य भक्त लक्खी शाह ने अपने पुत्राों के सहयोग से 11 या 12 नवंबर, 1675 को रात अपनी गाड़ियों में रुई भरकर गुरु जी की पावन देह को गाँव रकावगंज ले आया और सुबह होने से पूर्व उसने समस्त घर को आग लगा दी। इस तरह उसने गुरु जी के देह संस्कार को नतमस्तक होकर पूर्ण किया। आजकल यहाँ का गुरुद्वारा 'रकावगंज' नाम से प्रसिद्व है। इस प्रकार सिख धर्म परंपरा के नौवें चिराग़ की ज्योति परम ज्योति में समा गई।

- **वाणी एवं शब्द प्रयोग**

गुरु ग्रन्थ साहिब में नौवें महल्ले के अंतर्गत 116 पद्यों का संकलन गुरु तेग बहादुर की वाणी माननीय है, जिसमें 59 पद्य तथा 57 श्लोक उपलब्ध हैं। गुरु जी की वाणी 15 रागों से आवृत्त है। इसको 17 रागों में भी विभाजित किया जा सकता है, यदि बसंत तथा हिंडोल को अलग–अलग तथा तिलंग को क़ापफी से भिन्न मान लिया जाए। इसके अतिरिक्त गद्य में रचित 22 'हुक्मनामे' आपकी रचना में माननीय है। शब्द प्रयोग की दृष्टि से देखें तो गुरु तेग बहादुर ने अपनी समूची वाणी में 4298 शब्द रूपों का प्रयोग किया है। इनमें कई शब्दों का एक से अधिक बार प्रयोग हुआ है। अतः इनमें से दोहराव वाले शब्दों को मनफ़ी करने के बाद केवल 1156 शब्द रूप बचते हैं। प्राप्त शब्द रूपों में 448 संज्ञा शब्द, 52 सर्वनाम, 144 विशेषण, 438 क्रियाएँ, 14 क्रिया–विशेषण, 29 संबंधक, 14 नकारवाचक, 12 प्रश्नवाचक, 2 सहायक क्रियाएँ एवं 2 संबोधन शब्दों का प्रयोग मिलता है।

- **दार्शनिक चिंतन**

गुरु तेग बहादुर सादगी, सद्भाव एवं सदाचार की त्रिावेणी हैं। मूलतः संत स्वभाव होने की वज़ह से आपने अविराम प्रभु की आराधना में

अपना जीवन यापन किया। उस अनंत, असीम तथा अज्ञात परमसत्ता से लगाव गुरु साहिब की प्रकृति रही। इनकी वाणी में ब्रह्म, सृष्टि, नश्वरता, मृत्यु, माया, भक्ति, वैराग्य आदि दार्शनिक तत्त्वों पर गहन विचार हुआ है।

- **ब्रह्म**

गुरु तेग बहादुर की वाणी में ब्रह्म का निराकार रूप ही मान्य है। ब्रह्म के एकेश्वरवाद में निष्ठा व्यक्त की गई है। उन्होंने ब्रह्म को असीम, अतुलनीय, अलख, निरंजन, अपार, अगणित आदि से अलंकृत कर अपनी अनुपम माया ;सृष्टिद्ध का स्वयं द्रष्टा कहकर संबोधित किया है–

अगनत अपारू अलख निरंजन जिह सभ जगु भरमाइयो।
अपनी माइया आपि पसारी आपहि देखनहारा।

(रागु बिहागड़ा, 9–1)

गुरु साहिब ने ब्रह्म की तुलना दर्पण की छाया से की है। ब्रह्म के साथ तादात्म्य वही कर सकता है जिसके पास दिव्य नेत्रा हैं। गुरु जी की वाणी में घर छोड़कर कहीं भी पहाड़ों, जंगलों, गुपफाओं आदि में मनुष्य को जाने के लिए नहीं प्रेरित किया गया है। वे मानव को बार–बार बाहर की अपेक्षा परमात्मा को अंदर ही पाने के संकेत देते हैं। उन्होंने ब्रह्म को भवसागर से पार कराने में सक्षम माना है। उसके स्मरण करने से जीवात्मा की गति हो जाती है–'तिह सिमरन गति पाईऐ' ;श्लोक–10द्ध गुरु जी ने ब्रह्म को भय को नष्ट करने वाला, दुर्बुद्वि को दूर भगाने वाला तथा सभी कार्य सिद्व करने वाला कहा है। पति–पावन, अनाथों के नाथ, दयालु, सुखदाता, रक्षक आदि विशेषणों से भी संबोधित किया है। ब्रह्म को राम, हरि, गोविन्द, निरंजन, गुसाई, रघुनाथ, चिंतामणि, मुरारी, स्वामी, भगवान आदि नामों से पुकार भ्रमित जीवात्मा के मानसिक संतुलन को संतुष्ट किया है। ऐक्य की भावना पर अधिक बल दिया गया है। 'ब्रह्म' को मुक्ति का कारण बताते हुए जीव को सचेत किया गया है कि यदि अजामिल ;पापीद्ध, गणिका ;वेश्याद्ध तथा गज ;हाथीद्ध का उद्वार नाम सिमरन से हो सकता है तो मनुष्य के लिए भी मोक्ष असंभव नहीं–

अजमल गनिका जिह सिमरत मुक्त भए जीअ जानो।
गज की त्रास मिटी छिन हू महि जबही रामु बखानौ।

(बिलावल, 9–1)

- **सृष्टि**

गुरु साहिब ने सृष्टि का कर्ता परमात्मा को स्वीकार किया है। समस्त जगत् इसके रहस्य से अनभिज्ञ है। उन्होंने जगत् की अस्थिरता को स्पष्ट करते हुए रेत की दीवार, बादल की परछाईं, धुएँ का पहाड़, पानी का बुलबुला, स्वप्न अलंकारों से विमंडित कर संसार की क्षणभंगुरता को सुदृढ़ किया है। उन्होंने जगत् को मृगतृष्णा के समान माना। बाहर से भव्य दिखाई देने वाला यह संसार भीतर से असत्य, मिथ्या एवं नाश्वान है। जीव लौकिक सुन्दरता पर आसक्त रहता है। गुरु तेग बहादुर का उद्देश्य जीव को

विमूढ़ता से निकालना था। संसार की वास्तविकता एवं सत्य को उजागर करने के मूल में उनकी मानवीय उद्धार की भावना क्रियाशील थी–

जैसे जल ते बुदबुदा उपजै बिनसै नीत।
जग रचना वैसे रची कहु नानक सुनि मीत।।

(श्लोक–25)

गुरु जी स्पष्ट करते हैं कि संसार में कोई किसी का नहीं। विमोह के कारण हम एक–दूसरे से लिपटे हुए हैं। इसमें अपने स्वार्थ की गंध छिपी है। इसे हमने संबंध का नाम दिया हुआ है। मनुष्य वैभव में आनंद लूटता है, दुःख में संवेदना प्रकट करता है। किसी के चले जाने पर जीव और जगत् के कार्य अवरुद्ध नहीं होते। दुनिया वैसी ही गतिशील रहती है। अकेले जाने वाले व्यक्ति को अपना हिसाब भी स्वयं ही चुकाना पड़ता है। सांसारिक चक्र से मुक्ति पाने का मार्ग 'नाम सिमरन' ही है, जो अंतिम समय काम आता है। भक्ति के अतिरिक्त सब कुछ बेमानी है। सृष्टि का मार्ग टिकाऊ नहीं है। गुरु साहिब ने निर्लिप्त रहने की शिक्षा दी है।

- **नश्वरता**

गुरु तेग बहादुर ने अपनी वाणी में जगत् की नश्वरता की गहन व्याख्या की है। वे कहते हैं कि यह संसार रेत की दीवार की तरह है और इस पर अधिक समय तक विश्वास नहीं किया जा सकता–

जग रचना सभी झूठ है जानि लेहु रे मीत।
कहु नानक थिरु न रहै जिउ बालू की भीति।।

(श्लोक–49)

गुरु जी ने दृश्यमान वस्तुओं को बादलों की छाया के सादृश्य घोषित किया है। बाहर से सुन्दर एवं आकर्षित लगने वाला संसार अन्दर से खोखला और असत्य है। प्रभु वन्दना ही सत्य है जो अंतिम समय प्राणी को यम के पंफदे से मुक्त कराने में सहायक होती है। जगत् की नश्वरता को धुआँ, बादल, स्वप्न आदि प्रतीकों के ज़रिए उभारा गया है।

- **मृत्यु**

असल में, मृत्यु ईश्वरीय रज़ा अथवा हुक्म है। इसे परमात्मा का 'भाणा' भी कहा गया है। कोई जीव मृत्यु से बच नहीं सकता। गुरु तेग बहादुर की वाणी में यम, यमपंफदा, यमराज, यमपफाँसी, यमत्राास आदि शब्दों के माध्यम से 'मृत्यु' का आभास कराया गया है। क्षण–प्रतिक्षण जीव विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। उसकी बढ़ती आयु उसे इस दुनिया की अवधि से घटा रही है। लेकिन जीव इस रहस्य से अनभिज्ञ है। गुरु साहिब ने पानी के पूफटे घड़े के माध्मय से मनुष्य को सचेत किया है कि घड़े से निकलने वाला प्रत्येक जल कण उसके भीतर के जल को कम कर रहा है। उसी प्रकार यदि जीव की आयु साठ साल अनुमित है तो क्या जीवन का प्रत्येक क्षण उसे न्यून नहीं करता जा रहा है?

छिनु छिनु अउध बिहानु है पूफटे घट जिउ पानी।

(तिलंग 9–1)

निस्संदेह, मृत्यु एक आवश्यक प्रक्रिया है। बड़े–बड़े ऋषि–मुनि, आचार्य, पराक्रमी, राजा–महाराजा, विद्वान आदि मृत्यु के हाथों से बच नहीं पाए। अवसर आने पर उन्हें भी संसार छोड़ना पड़ा। गुरु जी कहते हैं–

राम गइओ रावणु गइओ जा कउ बहु परवारू।

(श्लोक–50)

मनुष्य मृत्यु रूपी पंफदे से षड्यंत्रा नहीं रच सकता। जगत् में कुछ भी स्थायी नहीं है। आने–जाने का नाम ही दुनिया है। इसलिए गुरु साहिब ने जीव को प्रत्येक क्षण कार्यशील रहने का उपदेश दिया है। मृत्यु उतनी ही निकट है, जितनी अगली साँस।

- **माया**

गुरु साहिब की वाणी में माया के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों की व्याख्या उपलब्ध है। माया को रचना शक्ति, दासी, धन, अज्ञान, अविद्या, यौवन, काम, लोभ, मोह, अहंकार, परिवंश आदि के रूप में उजागर किया गया है। संपूर्ण प्रकृति माया का ही रूप है। इसका प्रसार परमात्मा ने स्वयं किया है–

अपनी माइआ आप ही पसारी आपहिं देखनहारा।

(बिहागड़ा, 9–1)

गुरु तेग बहादुर कहते हैं कि मनुष्य का मूलतः स्वभाव प्रमादी है और इसी कारण वह माया के चंगुल से छूट नहीं पाता। माया सृष्टि का ही अभिन्न अंग है। यदि मानव जीवन का आधार भक्ति है तो माया उसे स्पर्श नहीं कर सकती–

साधो इहु जगु भरम भुलाना।
राम नामु का सिमरनु छोड़िया पाइआ हाथि बिकाना।

(धनासरी, 9–2)

- **वैराग्य**

वैराग्य का सामान्य अर्थ है–जगत् के झंझटों से मन हटाकर ईश्वर की ओर मन की वृत्ति लगाना। लेकिन त्याग और वैराग्य में सूक्ष्म अंतर है। त्याग का अभिप्राय किसी वस्तु एवं पदार्थ को छोड़ने से है। वैराग्य का भावार्थ संसार की ओर से उदासीनता तथा जीव का परमात्मा के साथ गहरा लगाव हो जाना, उसकी याद में व्याकुल होना अथवा तड़पना। गुरु तेग बहादुर आरंभ से ही परिव्राज्क स्वभाव के स्वामी थे। सत्यनिष्ठ, संयम और संत के गुण उनके व्यक्तित्व में सहज ही मिलते हैं। जगत् तथा पंचभूत पदार्थों से उन्हें कोई मोह नहीं था। इक्कीस वर्ष की घोर आराधना ने गुरु जी के आत्म–बल को और अधिक सुदृढ़ किया। उनकी वाणी में वैरागी जीव की विस्तृत व्याख्या की गई है। संपूर्ण विषय–वासनाओं का परिवर्जन करने वाला प्राणी वैराग्य का पान करता है–

जिहि बिखिआ सगली तजी लीओ भेरव वैराग।
कहु नानक सुन रे मना तिह नर माथै भागु।।

(श्लोक–17)

गुरु जी कहते हैं कि वैराग्य का आधार एकात्मकता पर स्थित है। अद्वैत की दशा में प्रभु मिलन संभव है। आत्मा और परमात्मा में एकाकार आवश्यक है। वैराग्य में जीव सुख–वैभव आदि से विमुख तथा परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है। यह प्रभु के प्रति अनुरक्त तथा जगत् के प्रति विरक्त की स्थिति है।

- **भक्ति**

परमसत्ता परमात्मा के प्रति पूर्णतया समर्पित होना ही भक्ति है। श्रद्वा और प्रेम के योग को भी भक्ति कहा गया है। प्रेम सौन्दर्य सापेक्ष है और श्रद्वा गुण सापेक्ष। श्रद्वा में शक्ति और शील दोनों ही निहित हैं। भक्ति के सहयोग से ऋषि, मुनि, योगी तथा वेदपाठी ब्राह्मणों को पछाड़ने वाली माया उनकी दासी बन जाती है। गुरु तेग बहादुर की भक्ति 'प्रेमा भक्ति' के अंतर्गत आती है। उनकी वाणी में भक्ति की अबाध मंदाकिनी प्रवाहित हुई है। उनका आचार–विचार, रहन–सहन, सुख–दुःख और जीवन का प्रत्येक क्रिया–कलाप भक्ति से ओत–प्रोत है। अहंकार को समाप्त कर एकनिष्ठ भाव से अत्यंत विनयी बनकर ही प्रभु की भक्ति मिलती है। कुमति ईश्वर भक्ति के मार्ग में एक बड़ी बाधा है–

मन रे कउनु कुमति वे लीनी।
पर दारा निदिआ रस रचिओ राम भगति नहीं कीनी।

(सोरठि, 9–3)

गुरु जी समझाते हैं कि 'प्रभु भजन' अमूल्य रत्न है। मनुष्य मिथ्या वासनाओं पर आसक्त होकर नाम रूपी रत्न भुला देता है, क्योंकि वह माया पर आश्रित है। भक्ति गुरु जी के जीवन का एक अनिवार्य कर्म एवं मूल लक्ष्य रही। उन्होंने भक्ति की महिमा का यशोगान किया और ऐसे भी प्रमाण दिए हैं जिन्होंने भक्ति मार्ग के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की, भले ही वे कितने अधर्मी, पापी और नीच क्यों न रहे हों। गुरु जी स्पष्ट कह देते हैं कि प्रभु भजन ही जगत् में पवित्रा है–

पावन नामु जगति मै हरि को सिमरि सिमरि कसमल सभुहरू रे।

(गउड़ी, 9–9)

वे आगे कहते हैं कि जिस जीव ने जिह्वा से प्रभु के गुण गाए, कानों से परमात्मा का नाम श्रवण किया, वह यम के घर नहीं जाता।

इतना और कि धर्म मंदिर की नींव धर्म के लिए जीने वाले एवं बलि देने वाले शहीदों के सिर पर ही स्थापित की जा सकती है। कोई धर्म तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता, जब तक वह जीने के साथ मरने की कला जिज्ञासुओं को न सिखाये। बिना शक, यह कला गुरु अर्जुन देव के बाद गुरु तेग बहादुर ने पूरी शान के साथ सिखाई। मानव जीवन का प्रारंभ तथा अंतिम छोर जन्म एवं मरण ही है। जिस मनुष्य ने इन दोनों के रहस्य को पा लिया, वही पूर्ण है, वही सच्चा ब्रह्मज्ञानी अथवा कामिल फकीर है।

***

प्रमाण-सम्पलव एवं प्रमाण-व्यवस्था का विचार

डॉ . जयंत उपाध्याय *

एक प्रमेय का प्रत्यक्षादिक एकाधिक प्रमाणों के द्वारा ज्ञान होने का सिद्धान्त "प्रमाण–सम्प्लव"[1] कहा जाता है और एक प्रमेय का एक ही प्रमाण द्वारा ज्ञान होने के सिद्धान्त को "प्रमाण–व्यवस्था"[2] कहा जाता है। न्यायदर्शन में प्रमाण–सम्प्लव एवं प्रमाण–व्यवस्था पर विचार न्याय–भाष्य से ही प्रारम्भ होता है। भाष्यकार का मत है कि कुछ प्रमेय अनेक प्रमाणों के द्वारा ज्ञात होते हैं (प्रमाण सम्प्लव) और कुछ केवल एक ही प्रमाण द्वारा (प्रमाण सम्प्लव) और कुछ केवल एक ही प्रमाण द्वारा (प्रमाण–व्यवस्था), जैसे आत्मा का ज्ञान तीन पृथक् प्रमाणों से होता है।[3] आप्तोपदेश (शब्द प्रमाण) से आत्मज्ञान होता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख एवं ज्ञान आत्मा के लिंग हैं" इस प्रकार के अनुमान प्रमाण से भी आत्मा का ज्ञान होता है, और युंजान योगी को आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से भी होता है। इसी प्रकार आप्तोपदेश (शब्द प्रमाण) द्वारा भी किसी स्थान पर अग्नि की सत्ता का ज्ञान होता है और धूमदर्शन द्वारा अनुमान से भी, तथा प्रत्यासन्न व्यक्ति को प्रत्यक्ष द्वारा भी उसी अग्नि का ज्ञान होता है।

"अग्निहोत्रं जुह्यात् स्वर्गकामः" इत्यादि आगम प्रमाण के द्वारा ही स्वर्ग का ज्ञान होता है। यह प्रमाण–व्यवस्था है। स्वर्ग का ज्ञान न अनुमान प्रमाण द्वारा हो सकता है और न प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही हो सकता है। सुनकर दूरवर्ती अदृश्य मेघ की सत्ता का ज्ञान अनुमान प्रमाण से ही होता है प्रत्यक्ष अथवा शब्द प्रमाण से नहीं। इस प्रकार न्यायभाष्यकार के अनुसार प्रमाता का प्रमेय के विषय में प्रमाणों का संगर अभिसम्प्लव (प्रमाण सम्प्लव) कहलाता है एवं संगर व्यवस्था (प्रमाण–व्यवस्था) कहलाती है।[4]

बौद्ध–मत

बौद्ध दार्शनिक दिंग्नाग प्रमाणों के सम्प्लव एवं व्यवस्था इस द्विविध रूप को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार प्रमाण–सम्प्लव अर्थात् एक ही अर्थ का एकाधिक प्रमाणों से ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्रमाण का विषय नियत है।[5]

दिंग्नाग का प्रमाण के केवल प्रत्यक्ष और अनुमान यह दो भेद ही स्वीकार्य है और उनके अनुसार इन दोनों के विषय भी क्रमशः विशेष एवं सामान्य यह दो ही होते हैं।[6] इनमें विशेष–विषय (स्वलक्षण) को ग्रहण करने वाला प्रमाण प्रत्यक्ष–प्रमाण है और सामान्य–विषय (सामान्य लक्षण) को ग्रहण करने वाला प्रमाण अनुमान प्रमाण है। इन प्रमाणों की एक दूसरे के विषयों में

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन एवं संस्कृति विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा

गति सम्भव न होने से प्रमाण सम्प्लव सम्भव नहीं है अतः प्रमाण–व्यवस्था ही युक्तियुक्त है।[7]

स्वलक्षण–स्वरूप–विचार–

वस्तु के स्वलक्षण से तात्पर्य है उसका अपना रूप जो किसी प्रकार की शाब्दिक अभिव्यक्ति से रहित हो अर्थात् उसके उस स्वरूप काा ज्ञान जो अनुभूत तो किया जा सके किन्तु अभिव्यक्त नहीं। जो देश काल के अनुगमन के कारण अदेशात्मक एवं क्षणिकत्व से युक्त अर्थ–क्रियाकारित्व से युक्त वस्तु का अपना लक्षण है उसे ही स्वलक्षण कहा जाता है।[8] "देशकाललननुगतं विचारसहमित्यर्थः"[9] कहकर परिशुद्धिकार उदयन भी स्वलक्षण का यही स्वरूप व्यस्थित करते हैं क्योंकि जब व्यक्ति किसी भी ज्ञान को अभिव्यक्त करने लगता है तो उस ज्ञान के विषय में उसके नाम, जाति आदि का प्रयोग करता है। ये जातिनामादि कल्पना–जन्य है। परमार्थ सत् नहीं अतः कम्बुग्रीवादि से अतिरिक्त घट का स्वलक्षण नहीं है, जो प्रत्यक्ष का विषय होगा। इस स्वलक्षण विषयता का अनुमान में अभाव होता है, क्योंकि व्याप्ति वस्तु के सामान्य का ही विषय करती है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों के विषयों में भिन्नता के कारण एक ही दूसरे के विषय में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्य व्यावृत्ति रूप सामान्य सर्वसामर्थ्य से रहित होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता और न तो प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत स्वलक्षण ही अनुमान का विषय हो सकता है, क्योंकि व्याप्ति–गृहीत लिंग से अनुमान होता है वहाँ तादात्म्य एवं कार्य–कारण–भाव की सत्ता होती है। स्वलक्षण में इस कार्य–कारण–भाव एवं तादात्म्यादि का अभाव होने के कारण व्यक्ति का भी अभाव है। अतः स्वलक्षण रूप प्रत्यक्ष का विषय अनुमान का विषय नहीं हो सकता। इन दोनों से अतिरिक्त प्रमेय है ही नहीं जहाँ इन प्रमाणों का सम्प्लव होगा। अतः नैयायिकों द्वारा मान्य सम्प्लव, व्यवस्था युक्तियुक्त नहीं हैं। प्रमाण विशेष विषयक ही है, स्वविशेष विषय से अतिरिक्त में उनकी गति सम्भव नहीं है।

बौद्ध–मत–खण्डन–

वार्तिककार के अनुसार प्रस्तुत बौद्ध मत मान्य नहीं है क्योंकि न तो दो प्रमाण हैं और न दो विषय ही है।[10] अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम रूप प्रमाण चार प्रकार का है और विषय तीन प्रकार के होते हैं, सामान्य, विशेष और सामान्य–विशेष वाला (तद्वत)[11] प्रमाण–सम्प्लव और प्रमाण–व्यवस्था भी व्यवहार सिद्ध है। अतः व्यवहार–सिद्ध विषय का अपलाप नहीं किया जा सकता है। जैसे "उस देश में अग्नि है" इस प्रकार आप्तोपदेश से अग्नि–विषयक शाब्दबोध के उत्पन्न होने पर प्रमाता उस देश की ओर जाता है और दूर से उस देश से उठता हुआ अविच्छिन्न–धूम देखता है पुनः उस धूम के विशेषण भूत अग्नि का अनुमानात्मक ज्ञान करता है और अग्नि की दर्शन रूप आकांक्षा के वशीभूत प्रमाता उस देश के और निकट आता है और चक्षुरिन्द्रिय से अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान करता है। इस

प्रकार प्रमाण–सम्प्लव व्यवहार सिद्ध है। भाष्यकार कहना है कि प्रमाण सम्प्लव स्थल में जो प्रमिति होती है उनमें प्रत्यक्ष ही प्रधान होता है क्योंकि किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष होने के पश्चात् उस विषय में कोई जिज्ञासा नहीं रह जाती।[12] उपर्युक्त उदाहरण में अग्नि का प्रत्यक्ष हो जाने पर अग्नि के विषय में जिज्ञासा नहीं रह जाती है। प्रमाण–व्यवस्था स्थल में यह प्राधान्य विचार नहीं रहता क्योंकि वहाँ एक ही प्रमाण द्वारा एकमात्र प्रमिति होती है।

यहाँ पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है कि प्रमाण–सम्प्लव स्थल पर एक प्रमाण के द्वारा किसी अर्थ का ज्ञान होने पर पुनः उसी अर्थ का प्रमाणान्तरों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार कोई पिसे हुए गेहूँ को पुनः पीसे अतः प्रमाण सम्प्लव निरर्थक है।[13]

पूर्वपक्ष कृत प्रस्तुत शंका उचित नहीं है, क्योंकि एक ही अर्थ का ज्ञान यदि विभिन्न प्रमाणों से एक ही रूप का होता है तो ऐसी दशा में प्रमाण–सम्प्लव निरर्थक होता किन्तु एक ही अर्थ भिन्न–भिन्न प्रमाणों के द्वारा पृथक्–पृथक् ढंग से गृहीत होता है।[14] और उन विभिन्न प्रमाणों से उत्पन्न प्रमिति भी विभिन्न होती है। यथाः एक ही अर्थ प्रत्यक्ष–प्रमाण का विषय होता हुआ इन्द्रिय के साथ उस अर्थ के सन्निकर्ष की अपेक्षा करता है, अनुमान प्रमाण का विषय होता हुआ लिंग परामर्श की अपेक्षा करता है, उपमान प्रमाण का विषय होता हुआ सादृश्य ज्ञान की अपेक्षा करता है और शब्द प्रमाण का विषय होता हुआ पद ज्ञान की अपेक्षा करता है तथा एक ही अर्थ–विषयक विभिन्न–प्रमाणों के द्वारा भिन्न–भिन्न प्रमिति उत्पन्न होती है–यथा प्रत्यक्ष–प्रमाण से प्रत्यक्ष प्रमिति, अनुमान प्रमाण से अनुमिति, उपमान प्रमाण से उपमिति और शब्द प्रमाण से शाब्द–बोध। अतएव प्रमाणों का सम्प्लव निरर्थक नहीं है।

तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए बौद्धों के आक्षेप को उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि "एक प्रमाण से ज्ञात पदार्थ में पुनः अन्य प्रमाण की प्रवृत्ति मानने पर किसी पुरुषार्थ की सिद्धि सम्भव न होने के कारण पिष्टपेषण रूप व्यर्थता दोष होगा। प्रमा को आशुतरविनाशी मानकर भी इस व्यर्थता दोष का निवारण सम्भव नहीं है, क्योंकि यद्यपि प्रमा एवं प्रमाण क्षणिक है किन्तु प्रथम प्रमा से उत्पन्न अर्थविषयक ज्ञान से संस्कार की उत्पत्ति होती है पुनः द्वितीय ज्ञान उसी को विषय करता है तब अन्य प्रमाण की उत्पत्ति होती है। उस समय भी प्रथम संस्कार से उत्पन्न विषय–स्मृति की सत्ता के कारण वह अर्थ ज्ञात ही होता है अतः उसका पुनः ज्ञान पिष्टपेषण की भाँति व्यर्थ ही है।[15]

तात्पर्यटीकाकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह मत उचित नहीं है क्योंकि व्यक्ति एक वस्तु को जब देखता है तो उसका संस्कार इतना दृढ़ नहीं होता जितना बार–बार देखने से होता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपनी प्रिय वस्तु को बार–बार देखने की इच्छा रखता है और बार–बार देखने पर भी उसमें किसी प्रकार का अप्रमात्व, और व्यर्थता का अनुभव नहीं

होता है।[16] प्रमाता के आशय से ही प्रमाण की प्रमेय में प्रवृत्ति अथवा अप्रवृत्ति नहीं होती (यद्यपि प्रभित्सा भी कारण है किन्तु वह करण नहीं है। अपितु इसके अपने सामर्थ्य से होती है। यदि प्रमाणों की प्रवृत्ति प्रमाता की अपनी इच्छा पर निर्भर हो तब तो अग्नि–दाहादि जितने भी दुःखमूलक पदार्थ हैं उनके प्रत्यक्षत्व या ज्ञान का प्रसंग ही नहीं होगा,[17] क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति दुःख से निवृत्ति ही चाहता है।)

प्रमाणों से गम्य प्रमेय स्थल में प्रमाता एक ही प्रमाण का प्रयोग करें अथवा उसका ज्ञान न करें इससे प्रमाण की ज्ञापकत्व–शक्ति का निषेध नहीं हो जाता, क्योंकि पिपासु व्यक्ति यदि पानी को न भी पीये तो पानी की पिपासोपशमन शक्ति का नाश नहीं हो जाता। उसी प्रकार प्रमाणों का प्रमाता द्वारा प्रयोग न होने पर प्रमाणों के सम्प्लव अथवा प्रामाण्य का निषेध नहीं होता। अतः एकत्रित–कारण'सामग्री से जनित बुद्धि है प्रमा और वह प्रमाण समानविषय में भी प्रमाणों द्वारा सम्पादित हो सकती हैं अतः प्रमाण सम्प्लव उपपन्न है। सम्प्लव स्थल में उन सभी प्रमाणों का प्रयोग न होने पर भी व्यवस्था स्थल में उपयोग के कारण प्रमाणों के सर्वथा वैयर्थ्य की प्रसक्ति सम्भव नहीं है। अतः प्रमाणों की सम्प्लव एवं व्यवस्था सिद्ध होती है।

कोई भी बात तभी सम्पूर्ण कहलाती है जब वह बात किसी और के द्वारा मानोनीत अथवा समर्थित होती है। अतएव प्रमाण–सम्प्लव और प्रमाण व्यवस्था के सिद्धान्त को सम्पूर्ण बनाने के लिए भाष्यकारोक्त आदि–भाष्य–वाक्य के "प्रमाणतः"[18] पद को दृष्टान्त रूप से ग्रहण किया जा सकता है। आदिभाष्य–वाक्य[19] में "प्रमाणतः" पद का उल्लेख भाष्यकार ने मुख्य रूप से प्रमाण की विभक्ति–व्याप्ति और प्रमाण विवेचन व्याप्ति को प्रदर्शित करने के लिए किया है।[20] पूर्वपक्षी का कथन है कि "प्रमाणतः" पद पंचमी विभक्ति का रूप है अर्थात् प्रमाण शब्द का पंचमी विभक्ति का एकवचन "प्रमाणतः" है और इस "प्रमाणतः" पद के द्वारा प्रमाण कह हेतुता को कहा गया है। अर्थात् प्रमाण अर्थप्रतिपत्ति का हेतु है इस प्रकार कहा गया है। पूर्वपक्षी के इस कथन के उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि यह "प्रमाणतः" पद पंचमीविभक्ति के एक वचन का रूप नहीं है किन्तु प्रमाण शब्द के साथ तसिल्–प्रत्यय के योग से "प्रमाणतः" पद बना है और इस तसिल् प्रत्यय का मुख्य उद्देश्य विभक्ति–व्याप्ति और वचन व्याप्ति को दिखाना है। पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है कि "पंम्या तसिल" रूप पाणिनि सूत्र के अनुसार पञ्चमी–विभक्ति के साथ तसिल् प्रत्यय होता है। अतः यहाँ बिना पञ्चमी–विभक्ति के तसिल् प्रत्यय का प्रयोग किस प्रकार सम्भव है? पूर्वपक्षी के आक्षेप के उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि पाणिनि ने "पंचम्या तसिल" रूप सूत्र के द्वारा पञ्चमी–विभक्ति के साथ तसिल–प्रत्यय का विधान किया है यह सत्य है और साथ–साथ "आधादानुपसंख्यानादिति" सूत्र के द्वारा उपर्युक्त नियम का व्यक्तिक्रम भी कहा है। "आद्यादावुपसंख्यानाद" (वार्तिक–आद्यादिभ्य.....) सूत्र के अनुसार आदि, अन्त, मध्य और अन्य शब्द

के साथ बिना पंचमीविभक्ति के भी तसिल–प्रत्यय होता है। यथा, आदितः (आदि से) मध्यतः मध्य से इत्यादि शब्द का प्रयोग देखा जाता है। अतः "प्रमाणतः" पद के भी "प्रमाण से" अर्थ में प्रमाण शब्द के साथ तसिल प्रत्यय किया गया है। अतएव उपर्युक्त दोश सम्भावित नहीं है।

इस प्रकार "प्रमाणतः" शब्द में तसिल् प्रत्यय का प्रयोग विभक्तिव्याप्ति और वचन–व्याप्ति को दिखाने के लिए किया गया है।[21] विभक्ति व्याप्ति के द्वारा प्रमाण के करणत्व और हेतुत्व स्वरूप की प्राप्ति होती है[22] और वचन–व्याप्ति के द्वारा प्रमाण के प्रमाण सम्प्लव एवं प्रमाण–व्यवस्था स्वरूप की प्राप्ति होती है।[23] अतः प्रमाणों का सम्प्लव सम्भव है।

संदर्भ :

1. प्रमाणेन प्रमाणभ्यां प्रमाणेरिति सम्प्लवो गम्यते। न्यायवार्तिक, 1.1.1, पृ0 12
2. प्रमाणेनैवेति व्यवस्था। न्यायवार्तिक, 1.1.1, पृ0 23
3. किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसंप्लवन्तेऽथ प्रतिप्रमेयं व्यवतिष्ठनते इति? उभयथा दर्शनम्.....नानुमानंनागम इति।–न्यायभाष्य, 1.1.3.
4. प्रमातुः प्रमाणानां संकरोऽभिसंप्लवः, अस¯करो व्यवस्थेति। न्यायभाष्य, 1. 1.2, पृ0 93.
5. संप्लवानुपपत्तिर्विशिष्टविषययत्वादिति चेतु। न्यायवार्तिक
6. प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
   प्रमेयं तत्प्रयोगार्थ न प्रमाणान्तरं भवेत्।।2।। प्रमाणसमुच्चय
7. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1.1.1, 13,111.
8. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः। एतदेवास्य स्वमसाधारणलक्षणं यद्देश तोऽननुगमेनादेशात्मकस्य परमार्थत्वं कालतोऽननुगमेन च क्षणिकत्वम्।– न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1.1.1, पृ0 13
9. परिशुद्धि, 1.1.1, 105,7.8.
   प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे, लक्षणद्वयम्।
   प्रमेयं, तत्र संधाने न प्रमाणान्तरं, न च। प्रमाणसमुच्चय, 1.2.
   तत्र प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे द्वे एव, यस्माद् लक्षणद्वयं प्रमेयम्, नहि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामन्यत् प्रमेयमस्ति। प्रमाणसमुच्चयस्ववृत्ति।
10. न तावत् प्रमाणद्वयं प्रतिपद्यामहे, न विषयद्वयं, नाप्यसंरम्। न्यायवार्तिक, 1.1.3, पृ0 13
11. प्रमाणानि तावच्चत्वारि, विषयः सामान्यविशेषतद्वभेददात् त्रेधा। न्यायवार्तिक, 1.1.3, पृ0 14
12. सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा...उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते।–न्यायभाष्य, 1.1.3, पृ0 92
13. अधिगतत्वाद् वैयर्थ्यमिति चेत्। न्यायवार्तिक, 1.1.11, पृ0 14
14. न अन्यथा तदधिगतेः। न्यायवार्तिक, 1.1.1, पृ0 14

15. यद्यप्यधिगतस्य आशुतरविनाशिन्यस्तथाऽप्येकतरप्रमाणजनिताऽधिगति लघुजन्मनः....प्रमाणेन पिष्टं पिष्टं स्यात्। न्यावार्तिकतात्पर्यटीका, पृ0 14
16. .....प्रियस्य वस्तुनोऽनेन भूयों भूयः प्रमित्सि तत्वात्। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1.1.1, पृ0 14
17. तस्मान्न प्रमात्रभिसन्धानात् प्रमाणस्य प्रवृत्तिप्रवृत्तिर्वाऽर्थे किं तु सामर्थ्ययात्, अन्यथाऽग्निदाहदिदुःखस्याप्रत्यक्षत्वप्रसंगः। न्यायवार्तितात्पर्यटीका, 1.1.1, पृ0 14
18. तत्र प्रमाणत इति तसिर्वचनविभक्तिव्याप्तिप्रदर्शनार्थः। न्यायवार्तिक, 1.1. 1, पृ0 12
19. प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तो.....। न्यायभाष्य, 1.1.1 (प्रस्तावना)
20. अस्याभिधानं वचनव्याप्त्यर्थ विभक्तिव्याप्त्यर्थंच। – न्यायवार्तिक, 1.1.1., पृ0 12
21. न्यायवार्तिक, 1.1.1
22. विभक्तिव्याप्त्या हेतुकरणं भावः। न्यायवार्तिक, 1.1.1, 12,7.8.
23. वचनव्याप्त्या सम्प्लवो व्यवस्था च। 1.1.1., 12,6.

***

वर्तमान प्राथमिक शिक्षा : दशा एवं दिशा

*प्रियंकर त्रिपाठी**

समूचे विश्व में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा बनाने का प्रचलन 19वीं शताब्दी के मध्य से ही प्रारम्भ हो गया था। इस दिशा में सर्वप्रथम सफल प्रयास 1842 में स्वीडन में किया गया था, इसके उपरान्त वर्ष 1852 में यह कार्य संयुक्त राज्य अमेरिका ने किया। इग्लैंड ने इसके दस वर्ष पश्चात् सन् 1870 में यह कार्य किया। यूरोप के कुछ छोट–छोटे देशों हंगरी, पुर्तगाल, स्वीट्जरलैण्ड ने 1905 में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य कर दिया था। इन देशों में प्रायः 7 से 14 वर्ष तक के बच्चे अनिवार्य रुप से शिक्षा प्राप्त करते हैं।

बींसवी सदी के प्रारम्भ में भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरुप जनसाधारण के मन में आशा का संचार हुआ राष्ट्रीय नेता अपने देशवासियो की सामाजिक, आर्थिक तथा बौद्धिक उन्नति के लिए शिक्षा के महत्व पर बल दे रहे थे। ऐसे समय मे अनेक महानुभावों ने विभिन्न प्रान्तों की सरकारों से अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ करने का अनुरोध किया। सन् 1882 में दादाभाई नौरोजी ने भारतीय शिक्षा आयोग (हंटर कमीशन) के सामने प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बनाने की मांग रखा थी। उनकी इस मांग ने अनिवार्य और निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता की ओर सबका ध्यान आकर्षित जरुर किया। सन् 1892 में बडौदा के महाराज सियाजी राव गायकवाड़ ने अपने राज्य में प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बना दिया। बड़ौदा महाराज के इस कार्य से उत्साहित होकर गोपाल कृष्ण गोखले ने भारत सरकार को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की दिशा में क्रियाशील बनाने का प्रयास किया। वे तत्कालीन भारत में प्राथमिक शिक्षा की दयनीय दशा से अत्यन्त व्यथित थे। उनका विचार था कि ''अशिक्षित व अज्ञानी राष्ट्र कभी भी उन्नति नही कर सकता तथा वह जीवन की दौड़ में पिछड़ जाता है।''

अनिवार्य और प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में 1910 से 1913 के बीच केन्द्रीय धारा सभा में अपना प्रस्ताव कई बार रखा। गोखले के अकाट्य तर्को के बावजूद सरकार ने विधेयक को अस्वीकार कर दिया। अस्वीकृत होने के बाद इस विधेयक का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। देश में प्राथमिक शिक्षा की मांग धीरे–धीरे बढ़ने लगी। बिट्ठल भाई पटेल के प्रयासों से वर्ष 1917 में 'पटेल कानून' के अन्तर्गत बम्बई नगर निगम क्षेत्र में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य कर दिया। तत्पश्चात् 1919 में बिहार, उत्तर प्रदेश, बंगाल और उड़ीसा में 1920 में मध्यप्रदेश में, 1926 में असम में 1913 में मैसूर में

* शोध छात्र, शिक्षा संकाय, श्री गांधी पी०जी० कॉलेज, मालटारी, आजमगढ़

प्राथमिक शिक्षा के अधिनियम बनाये गये। 1911 में जार्ज पंचम के आगमन के पश्चात् 1913 में भारत सरकार ने शिक्षा नीति सम्बन्धी प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया कि निरक्षरता दूर करनी चाहिए तथा प्राथमिक शिक्षा पर अधिक जनकोश खर्च करना चाहिए। सन् 1926 में हर्टाग समिति, 1936–37 में वुड रिपोर्ट ने प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी नीति प्रकट की।[1]

इसी समय (जुलाई 1937) में महात्मा गांधी ने हरिजन समाचार पत्र में लेखों की श्रृंखला प्रकाशित की। वे भारत के पुनर्निर्माण में शिक्षा के महत्व से भली–भांति परिचित थे। उन्होंने शिक्षा की अपनी एक योजना प्रस्तुत की जो बेसिक शिक्षा योजना के नाम से जानी जाती है। 1937 में वर्धा में अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए अपनी योजना के बारे में बताते हुए गॉधी जी ने कहा कि ''देश की वर्तमान शिक्षा पद्धति किसी भी तरह देश की आवश्यकताओं को पूरा कर सकती, इस शिक्षा के द्वारा जो लाभ होता है उसमें देश को कर देने वाला प्रमुख वर्ग वंचित रह जाता है। अतः प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम कम से कम सात साल का होना चाहिए, जिसके द्वारा मैट्रिक तक का ज्ञान दिया जा सके, पर इसमें अंग्रेजी के स्थान पर कोई शिल्प जोड़ दिया जाए। सर्वांगीण विकास के उद्देश्य से सारी शिक्षा जहां तक हो सके किसी उद्योग के माध्यम से दी जाय, जिससे पढ़ाई का खर्च भी पूरा हो सके।''[2]

स्वतंत्रता पूर्व गम्भीरता से हमारे राजनेता एवं राष्ट्र के कर्णधारों की कल्पना रही कि भारतीय जनता को बिना लिंग व क्षेत्र का भेदभाव किये, सभी के लिए निःशुल्क प्राथमिक स्तर की शिक्षा का अनिवार्य रुप से प्रबन्ध करने से ही जन–जन में मानवीय एवं सामाजिक प्रवृत्तियों का विकास ही किया जा सकता है। किसी भी प्रजातांत्रिक देश की सफलता वहां के नागरिकों की मानसिक चेतना पर निर्भर करती है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय संविधान में अनुच्छेद 45 में व्यवस्था की गई कि इस संविधान के लागू होने के दस वर्ष के अन्दर–अन्दर राज्य 14 वर्ष तक की आयु के समस्त बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करेगा।[3]

वास्तव में शिक्षा जीवन का एक ऐसा आईना है जिसमें मनुष्य अपनी योग्यताओं और क्षमताओं को प्रतिबिम्ब के रूप में देखता है। डॉ0 एस0 राधाकृष्णन् ने शिक्षा के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा था कि ''शिक्षा केवल जीविकोपार्जन का साधन नहीं है, न यह विचारों की संवर्धन स्थली है और न ही नागरिकता की पाठशाला है। यह आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश की दीक्षा है, सत्य की खोज में लगी मानव आत्मा का प्रशिक्षण है।''[4] शिक्षा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए गॉधी जी ने कहा था कि– ''शिक्षा से मेरा अभिप्राय मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा का सर्वांगीण एवं सर्वश्रेष्ठ विकास करना है।''[5]

इसी प्रकार शिक्षा मानव जीवन के सर्वांगीण विकास का आधार है। यह किसी भी आधुनिक, सभ्य, उन्नत और विकसित कहे जाने वाले समाज का अनिवार्य लक्षण है। इसके बिना प्रगति कभी भी पूर्ण और बहुआयामी नहीं हो सकती है। एक शिक्षित व्यक्ति, शिक्षित समाज तथा शिक्षित राष्ट्र ही प्रगति के दुर्गम पथ पर अनवरत् यात्रा कर पाने में समर्थ होता है।

समाजशास्त्रीय विचारधारा के अनुसार शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है।[6] शिक्षा समाज में, समाज के लिये समाज के द्वारा संचालित एक प्रक्रिया है। समाज के अस्तित्व पर ही शिक्षा का अस्तित्व निर्भर करता है। अतः यह सामाजिक प्रक्रिया है। इस अवधारणा ने विद्यालय (साधन के रूप में) तथा अध्यापक (ज्ञान देने वाले) के एकाधिकार को समाप्त करने पर बल दिया है। इस प्रक्रिया में विद्यालय के अतिरिक्त अन्य अनौपचारिक तथा गैर औपचारिक साधनों को शिक्षा प्रदान करने के लिये स्वीकार किया है। आधुनिक समाज में अध्यापक को बहुध्रुवीय तथा मानवोपयोगी सामग्री के अध्ययन में निपुण होना चाहियें।

शिक्षा बालक के सर्वांगीण विकास के लिये प्रयुक्त होने वाली एक प्रक्रिया के रूप में प्रयोग की जानी चाहिये जो कि बालक की अन्तर्निहित शक्तियों का स्वाभाविक रूप से विकास कर सके। इसमें अध्यापक की भूमिका जैसा कि स्वामी विवेकानन्द जी भी कहते हैं, केवल एक सहायक या पथ प्रदर्शक की होनी चाहिये।

वर्तमान में शिक्षक का दृष्टिकोण मानवतावादी है। वह पुनर्रचनावाद, धर्मनिरपेक्षता एवं समाजवाद को अपना रहा है। वह आज बालक का मार्गदर्शक है।[7] निःसंदेह शिक्षण आज एक आदर्श व्यवसाय है। इसलिए शिक्षक के उत्तरदायित्व, उसकी भूमिकाएं तथा उसके कार्य अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण है, आधुनिक शिक्षा पद्धति में शिक्षक के स्वरूप की संकल्पना करें तो लगता है शिक्षक वर्तमान प्रचलित शिक्षण पद्धतियों तथा कार्य प्रणाली के साथ परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप भी अपने को ढाल रहा है। वह शिक्षक होने के नाते एक अच्छा मार्गदर्शक बनता है। वह शिक्षण में नई एवं सामयिक विधियों, नव प्रौद्योगिकी तथा यांत्रिकी उपकरणों या प्रयोग करता है। वह प्रवेश प्रक्रिया, शिक्षा, मूल्यांकन तथा अभ्यास आदि में नव तकनीकि का प्रयोग भी करता है। शिक्षक बालकों का मित्र तथा सहयोगी होने के कारण मार्गदर्शक के रूप में भूमिका अदा करता है। साथ ही विद्यार्थियों में मूल्यों का विकास तथा राष्ट्रीय एकता के विकास में भी भूमिका निभाता है। अतः पूर्व की तुलना में वर्तमान में शिक्षक बालकों के अधिक निकट हैं।[8]

प्रो0 कुमायूँ कबीर के शब्दों में ही ''शिक्षा प्रणाली की कुशलता शिक्षकों की योग्यता पर निर्भर है।'' दार्शनिकों ने अपने–अपने दर्शन के आधार पर शिक्षा की परिभाषा देने का प्रयास किया है। अरस्तू के अनुसार–

''शिक्षा वह है जो स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण करे।''[9] पेस्टालॉजी के विचार से –''शिक्षा का कार्य है कि वह मानव की समस्त जन्मजात शक्तियों का प्रगतिशील एवं पूर्ण विकास करे।''[10] स्वामी विवेकानन्द के अनुसार– ''मनुष्य की अर्न्तनिहित पूर्णता को अभिव्यक्ति करना ही शिक्षा है।''[11] शिक्षा जीवन विकास और व्यक्तित्व की पूर्णता की उपलब्धि का ऐसा साधन है जो व्यक्ति को विविध प्रकार की परिस्थितियों में अनुकूलित होने की क्षमता प्रदान करता है।

मनुष्य विकासशील प्राणी है। जन्म के बाद से ही प्राणी विविध प्रकार की परिस्थितियों के सम्पर्क में आकर उनसे संघर्ष करने जगता है। इस संघर्ष के फलस्वरुप उसे अनुभव प्राप्त होते हैं। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक अनुभवी और विकसित माना जाता है, यही अनुभव व्यक्ति की शिक्षा है। शिक्षा के बिना व्यक्ति की स्थिति जंगल में पनपने वाले पेड़ पौधों जैसी है। एक शिक्षित व्यक्ति बाग का वह विकसित पेड़ होता है जो माली के संरक्षण में विकास के सभी तत्व संतुलित रुप से पाता रहता है। शिक्षा ही व्यक्ति को सुव्यवस्थित तथा सुसंस्कृत बनाती है।

इस प्रकार शिक्षक का महत्व समाज तथा शिक्षा पद्धति दोनों में स्पष्ट है। वस्तुतः शिक्षक उन भावी नागरिकों का निर्माण करता है जिनके ऊपर देश के उत्थान एवं पतन का भार है। शिक्षक का शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षक ही विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाता है। यह उसके ऊपर निर्भर है कि उसके द्वारा शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थी चरित्रवान बने या न बनें। मनुष्य के अन्दर मनुष्यता की स्थापना एक शिक्षक द्वारा ही समभव है। शिक्षक चूँकि राष्ट्र निर्माता होता है। अतः वह भावी राष्ट्र नेताओं को जन्म देता है। राष्ट्र निर्माण हेतु जिस नेतृत्व और आत्म नियन्त्रण की आवश्यकता होती है उसे एक शिक्षक ही दे पाता है। अतः अध्यापन अन्य सभी कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण होता है।

शिक्षा के प्रतिवर्ष गिरते स्तर के लिए शिक्षक को जिम्मेदार माना जाता है। आज जो अभिभावक बच्चों पर इतना धन खर्च कर रहे हैं उन्हें ठोस परिणामो ं की अपेक्षा रहती है। अतः आवश्यक है कि वांछित परिणाम न देने वाले शिक्षकों की जबाबदेही तय की जाए। किसी भी कार्य की गुणवत्ता बहुत कुछ जबाबदेही पर निर्भर करती है। जबाबदेही के अभाव में शिक्षण कार्य की प्रवृत्ति भी ऐच्छिक हो जाती है। बालक के व्यक्तित्व का विकास अध्यापक और उसकी जबाबदेही पर निर्भर करता है। किसी भी विद्यालय का भवन, पाठ्यक्रम तथा पर्यावरण कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो जब तक शिक्षक कर्तव्यनिष्ठ तथा जवाबदेह नहीं होगें विद्यालय की उन्नति तथा शिक्षण स्तर ऊपर नहीं उठ सकता।

नई शिक्षा नीति के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों में कदम उठाए गए हैं जिनमें से ''अध्यापकों की जबाबदेही'' विषय विचारणीय है। अतः आज के

परिवेश में इस पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है। यद्यपि यह भी देखने में आया है कि शिक्षक अपनी जबाबदेही के अनुरूप कार्य करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु वास्तविकता के धरातल पर कार्य करते समय अनेक ऐसे नकारात्मक पहलू सामने आ जाते हैं जिससे शिक्षक का मनोबल कमजोर होने लगता है। इसी से इस ओर ध्यान आकर्षित होता है कि वे कौनसे पहलू हैं जो शिक्षकों की जबाबदेही में बाधक होते हैं किन क्षेत्रों में उन्हें जवाबदेह होना है? किन आधारों पर वे संस्था, विद्यार्थियों अभिभावकों, समाज एवं राष्ट्र के प्रति जबाबदेही की कसौटी पर खरे उतरकर इन प्रश्नचिह्नों की सीमाओं से बाहर निकल सकते हैं।

वर्तमान में शिक्षकों को आवश्यक है कि उनमें राष्ट्रीय भावना हो और वे आगे अपने सामूहिक हितों का त्याग करें। अतः सबसे पहले आवश्यक यह है कि वे छात्रों में जाति, धर्म और संस्कृति आदि किसी भी आधार पर भेद न करें। सभी के साथ समान व्यवहार करें। समान व्यवहार शिक्षक तभी कर सकता है, जब उनके ह्रदय में देश के सभी क्षेत्रों, सभी जातियों, सभी धर्मों, सभी भाषाओं एवं सभी संस्कृतियों के प्रति आदर भाव हो। अतः राष्ट्र में अनेक भिन्नताएं होते हुए भी उसकी अपनी एक पहचान होती हैं। उसका अपना राष्ट्र चिह्न, राष्ट्र ध्वज, राष्ट्र गान और राष्ट्र भाषा होती है। शिक्षकों को स्वयं इनका सम्मान करना चाहिए और छात्रों को इनका सम्मान करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। राष्ट्र के सभी शिक्षकों को राष्ट्र भाषा हिन्दी सीखनी चाहिए और विद्यालय में इसका प्रयोग करना चाहिए। उन्हें अपने इस कर्तव्य का पालन पूर्ण निष्ठा और ईमानदारी से करना चाहिए। शिक्षक की इस भूमिका के द्वारा राष्ट्रीय एकता का विकास अवश्य हो सकेगा। इस कार्य की पूर्ति हेतु शिक्षक को अभिभावकों का सहयोग प्राप्त करने के लिए भी प्रयास करने होंगे। परिवार, समुदाय और धार्मिक संस्थाओं के सहयोग से शिक्षक राष्ट्रीय एकता के विकास में सफल होंगे और इन सबसे भी अधिक उनहें राज्य का सहयोग होना चाहिए।

अतः वर्तमान शैक्षिक परिवेश में शिक्षक को समाज में उत्पन्न समस्याओं और परिस्थितियों का अध्ययन कर छात्रों को उनके कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट करना होगा। शिक्षक का यह कर्तव्य है कि वह छात्रों को उस उत्तरदायित्व को वहन करके योग्य बनाये, जो कि भविष्य में उसके सामने आने वाले है तभी एक सशक्त और प्रगतिशील समाज और राष्ट्र का निर्माण होगा।

नई शिक्षा नीति–2020 द्वारा निर्धारित दिशा

वर्तमान में माननीय प्रधानमन्त्री नरेन्द्र दामोदर मोदी के नेतृत्व में भारत को ज्ञान आधारित महाशक्ति बनाने के उद्देश्य को लेकर नई शिक्षा नीति 2020 लागू की गयी है। केन्द्र सरकार द्वारा भारत के लिए नई शिक्षा नीति तैयार करने हेतु सन् 2017 में कस्तूरीरंगन आयोग का गठन किया था। इसी की सिफारिशों के आधार पर नई शिक्षा नीति 2020 तैयार की

गई। वर्तमान मानव संसाधन विकास मंत्री श्री रमेश पोखारियाल इसे लागू करते हुए कहा– नई शिक्षा नीति 2020 के माध्यम से हम भारत को गुणवत्तापरक, नवाचारयुक्त भारत केन्द्रित शिक्षा दे पाने में सफल होंगे। इसके द्वारा सभी स्तरों तथा गतिविधियों से संबंधित प्रावधान किए गये हैं।

नई शिक्षा नीति के नियम भारत में प्रत्येक प्राथमिक विद्यालय को शिक्षा के अधिकार अधिनियम(मध्य विद्यालय + प्राथमिक विद्यालय) द्वारा निर्धारित न्यूनतम मानक बनाए रखने के लिए इन मानदंडों का पालन करना है। जो बच्चे किसी कारणवश उचित समय पर विद्यालय नहीं जा पाते उन्हें भी उचित कक्षा में प्रवेश देने का नियम है। नई शिक्षानीति–2020 में बुनियादी स्तर पर ठोस उपाय किए गए हैं। इसके तहत प्रत्येक गांव में अनिवार्य रूप से एक विद्यालय खोलने का प्रस्ताव है तथा सभी वर्ग के लोगों को कम से कम बुनियादी शिक्षा देने का प्रावधान है। इसमें पिछड़े वर्ग के लोगों को कम से कम बुनियादी शिक्षा देने का प्रावधान है। 12 वर्ष की स्कूली शिक्षा प्रणाली के सथान पर 5+3+3+4 फार्मूला लागू किया जाएगा जिसमें शुआती 3 वर्ष प्री प्राइमरी शिक्षा के होंगे जिसमें आंगनबाड़ी केन्द्र शामिल होंगे। इस प्रकार 5 वर्ष से 3 वर्ष की प्री प्राइमरी शिक्षा तथा पहली व दूसरी क्लास को शामिल किया गया है। उसके बाद तीसरी, चौथी और पांचवीं क्लास को प्राथमिक शिक्षा में शामिल करते हुए मातृभाषा पर जोर दिया गया है तथा 6 से 8 तक के 3 वर्षों में मैंथ, साइंस पर बल देते हुए व्यावसायिक शिक्षा का आरंभ किया जाएगा तथ स्कूली शिक्षा के अंतिम 4 वर्ष अर्थात् 9,10,11 व 12वें ं वर्ष में विद्यार्थियों के लिए वैकल्पिक विषय का चुनाव करने की छूट दी गई है।

नई शिक्षा नीति में सन् 2020 से 2030 तक सार्वभौमिक स्कूली शिक्षा तथा इस नीति को पूर्ण रूप से क्रियान्वित करने का लक्ष्य रखा गया है। इसमें छात्रों की क्षमताओं का ऑकलन करने पर जोर दिया गया है न कि छात्रों को कितना याद रहता है इस बात पर।

नवीन शिक्षा नीति के प्रमुख उद्देश्यों में गुणवत्तापूर्ण तथा सार्वभौमिकीकरण के साथ ही साथ व्यावसायिक शिक्षा पर भी बल दिया दिया गया है। इस शिक्षा नीति में बच्चों के सर्वांगीण विकास करने एवं उनकी वर्ग अभिरुचियों को विकसित करने पर विशेष बल दिया गया है। खेलकूद, योगाभ्यास व अन्य गतिविधियों पर भी विशेष ध्यान दिया गया है एवं राष्ट्रीय भावना पर भी बल दिया गया है। इसके साथ ही इसमें भारतीय संस्कृति एवं आंचलिकता का भी संरक्षण के प्रावधान हैं तथा इसमें भारतीय संस्कृति की विविधता का उचित समावेश किया गया है जो वर्तमान प्राथमिक शिक्षा की दिशा निर्धारित करेगा।

संदर्भ :

1. सारस्वत, मालती एवं एस0 एल0 गौतम(2008), भारत में शैक्षिक प्रणाली का विकास, आलोक प्रकाशन लखनऊ, पृ0 58–59.

2. वही, पृ0 125–126.
3. बसु दुर्गादास : भारत का संविधान भाग–2, नीति निर्देशक तत्व, पृ0 36–51.
4. लालरमन बिहारी(2003), ''शिक्षा के दार्शनिक एवं समाज शास्त्रीय आधार'', विनोद पुस्तक भण्डार, पृ0 32
5. उपरोक्त पृ0 18
6. सक्सेना, राधा रानी (2002); ''उभरते हुए भारतीय समाज में शिक्षा एवं शिक्षक'', जयपुर : क्लासिक पब्लिकेशन्स, पृ0 76
7. सिंह, सुरेश (2012); ''उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक'', इलाहाबाद : अनुभव पब्लिसिंग हाउस, पृ0 35
8. पाठक, आर. पी. (2010); ''आधुनिक भारतीय शिक्षा, समस्याएं एवं समाधान'', नई दिल्ली : कनिष्क पब्लिशर्स।, पृ0 132
9. लाल रमन बिहारी (2001),शिक्षा की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि, भूमिका भाग
10. उपरोक्त
11. पाठक पी0डी0, (2000), शिक्षा मनोविज्ञान, पृ0 103

***

आधुनिक संस्कृत साहित्य : एक परिचय

सविता यादव *

संस्कृत साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल का आरम्भ कब से माना जाए, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। सामान्यतः हम कह सकते हैं कि जो विगत है वह प्राचीन है और जो प्रवर्तमान है वह आधुनिक है, किन्तु ऐसा विचार, आधुनिकता के निर्धारण में निर्णायक तथ्य के रूप में मान्य नहीं है। डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी का कथन है कि– "विश्व और देश में बदलती राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों के बोध के साथ समग्र राष्ट्र के ऐकात्म्य के प्रति दृष्टि कम से कम एक व्यावर्तक है, जो काल और विषयवस्तु की दृष्टि से आधुनिक साहित्य का उपक्रम कराती है।"[1]

संस्कृत साहित्य की धारा निरन्तर प्रवहमान है। भारत में सम्राट पृथ्वीराज के अनन्तर बारहवीं शताब्दी में मुस्लिम शासनसत्ता स्थापित हो जाने के बाद राजदरबारों में अरबी–फारसी की रचनाओं का वर्चस्व स्थापित हो गया, फिर भी संस्कृत में रचनाएँ होती ही रहीं। मुगल काल में भी संस्कृत भाषा में अनेक उत्कृष्ट महाकाव्य तथा अन्य रचनाएँ की गईं जिनमें आसफविलासः, जहाँगीरचरितम्, शेकशुभोदयम्, पारसीकप्रकाशः एवं चिमनीचरितम् आदि प्रमुख हैं।[2] स्पष्ट है संस्कृत साहित्य की धारा किसी युग में व्याहत नहीं हुई और यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि आधुनिक काल अर्थात् विगत शताब्दी और प्रवर्तमान शताब्दी में उसमें रचित उच्चकोटि का विशाल साहित्य हमारे समक्ष उपस्थित है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि संस्कृत रचना का युग सत्रहवीं शताब्दी के बाद समाप्त हो गया। प्रायः लोग पण्डित जगन्नाथ को ही संस्कृत का अन्तिम कवि तथा अलंकारशास्त्री आचार्य मानते हैं। प्राचीनकाल में भारत में संस्कृत साहित्य के इतिहास का लेखन नहीं हुआ। इसके लेखन की परम्परा पहले, विगत शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों ने स्थापित की। विद्वानों द्वारा लिखित संस्कृत साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में इस भ्रान्ति को पुष्ट किया। ए0 बी0 कीथ, बलदेव उपाध्याय, चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा कृष्णमाचारी आदि किसी भी लेखक ने अपने ग्रन्थ में उन्नीसवीं–बीसवीं शताब्दी की रचनाधर्मिता को सम्मिलित नहीं किया है। स्वातंत्र्योत्तर–काल में इस ओर विद्वानों का ध्यान गया है। उनकी गवेषणाओं से अनेक तथ्य उभरकर सामने आये, जैसे– **क**. पिछली बीसवीं शताब्दी से अब तक संस्कृत में प्रायः 350 महाकाव्यों की सर्जना हुई है। कुछ महाकाव्य तो 64 और 84

---

* शोध छात्रा, संस्कृत स्नातकोत्तर महाविद्यालय मलिकपूरा, गाजीपुर

सर्ग के भी हैं। **ख**. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की अनेक लोकप्रिय विधाएँ– गीतिकाव्य, लघुकथा, उपन्यास, एकांकी तथा सानेट आदि उन्नीसवीं शताब्दी में भी प्रतिष्ठित हो गईं।[3]

पं0 अम्बिकादत्त व्यास ने उन्नीसवी शताब्दी में ही अपना प्रसिद्ध उपन्यास शिवराजविजय लिखा। हरिदास सिद्धान्तवागीश, मूलशंकर माणिक्यलाल याज्ञिक तथा मथुरानाथ दीक्षित के नाटकों की रचना भी अगले चरण में हुई। उमापति द्विवेदी, काशीनाथ तथा हरिदास सिद्धान्तवागीश के महाकाव्य(पारिजातहरण, रुक्मिणीहरण) भी इसी काल की रचनाएं हैं।[4]

आधुनिक संस्कृत साहित्य की तीसरी सबसे बड़ी विशेषता थी– व्यवस्था के प्रति विद्रोह। यह विद्रोह 1835 ई0 में लागू लार्ड मैकाले की भाषा नीति का परिणाम था। ज्ञातव्य है कि प्रारम्भिक चरण में गवर्नर जनरल हेस्टिंग्ज तथा कार्नवालिस ने संस्कृत को ही राजभाषा पद पर रखा। शासकीय संरक्षण पाते ही संस्कृत की प्रसुप्त रचनाधर्मिता पुनः प्रबुद्ध हो उठी। चार्ल्स विल्किंस ने गीता को अंग्रेजी में अनूदित किया। अंग्रेजी व्याकरण को इंगलैण्डीयव्याकरणसारः के रूप में प्रस्तुत किया गया। विवादसारार्णवः नामक एक कानून का ग्रन्थ हेस्टिंग्ज ने तैयार करवाया तथा स्वयं उसे अंग्रेजी में भी अनूदित किया। कार्नवालिस ने काशी में अपने रेजिडेण्ट लार्ड जोनाथन डंकन की संस्तुति पर 1791 ई0 में बनारस संस्कृत पाठशाला की स्थापना की, जो आज सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है।[5]

परन्तु लार्ड मैकाले ने संस्कृत को ब्रिटिश राज्य के विस्तार में बाधक माना तथा इंग्लैण्ड की संसद से नई भाषा नीति पारित करा दी। अब अंग्रेजी राजभाषा बन गई। इसका सम्पूर्ण भारत में घोर विरोध हुआ। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, अप्पाशास्त्री राशिवडेकर, स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा महर्षि अरविन्द आदि ने समय–समय पर संस्कृत का पक्ष लेकर घोर संघर्ष किया।

उन्नसवीं शताब्दी की संस्कृत कविता में यही संघर्ष व्यवस्था के प्रति विद्रोह के रूप में अभिव्यक्त हुआ। 1884 ई0 में कांग्रेस की स्थापना के बाद यह संघर्ष 'स्वाधीनता संग्राम आन्दोलन' के रूप में परिवर्तित हो जाता है और सम्पूर्ण संस्कृत रचनाधर्मिता इसी एक बिन्दु पर केन्द्रित हो उठती है।

कुछ लोग 'आधुनिक संस्कृत साहित्य' शीर्षक के औचित्य पर प्रश्न उठाते हैं। उनका तर्क यह है कि अधुनिकता किसका धर्म है? काल का अथवा साहित्य का? इसका उत्तर यही है कि अतीत, अनागत तथा वर्तमान– ये काल के ही धर्म हैं। परन्तु इन्हीं कालखण्डों से जुड़ा साहित्य भी उपचारवश प्राचीन, वर्तमान तथा भावी कहा जा सकता है।[6]

अब दूसरा प्रश्न यह है कि आधुनिक काल संस्कृत रचना में कब आया? इस संदर्भ में प्रो0 राजेन्द्र मिश्र, डॉ0 जगन्नाथ पाठक एवं प्रो0

राधावल्ल्भ त्रिपाठी आदि ने गहन विचार किया है। प्रो0 राजेन्द्र मिश्र सन् 1784 ई0 में सर विलियम जोन्स द्वारा अंग्रेजी में किए गए अभिज्ञान शाकुन्तल के अनुवाद से ही संस्कृत रचना में आधुनिक काल का अवतरण मानते हैं। इसके कई कारण हैं, जो निम्नवत् हैं[7]–

1. 'शाकुन्तल' के अंग्रेजी अनुवाद से ही चिरकाल से अवरुद्ध संस्कृत रचनाधर्मिता का पुनरारम्भ हुआ। मौलिक सर्जना, समीक्षा, भाषान्तर तथा शोध की संभावना के द्वार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर खुले।
2. संस्कृत को विश्वभाषा की मान्यता मिली।
3. संस्कृत रचना में, पारम्परिक प्रतिपाद्य का स्थान नवयुगीन चेतना ने ले लिया।
4. पाश्चात्य जगत् के काव्यशास्त्रीय मानदण्ड संस्कृत में घुलमिल कर एकाकार हो गए।
5. आधुनिक संस्कृत साहित्य प्राचीन काव्य शास्त्रीय निर्देशों, बन्धनों तथा लक्षणों से मुक्त होकर लिखा जाने लगा।
6. आधुनिक सर्जना भाषा की सरलता, नवयुगीन सामाजिक चेतना से जुड़ाव,अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की समीक्षा तथा वैदेशिक छन्दों एवं काव्य विधाओं की स्वीकृति के कारण उत्तरोत्तर लोकप्रिय हुई है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य कविता, कहानी, नाट्य तथा समीक्षादि किसी भी क्षेत्र में भारत की अन्य भाषाओं में प्रणीत आधुनिक साहित्य के समकक्ष अथवा उससे भी परतर प्रतीत होता है।[8]

पहले सप्रमाण निरूपित किया गया है कि विगत सौ वर्षों की अवधि में संस्कृत साहित्य की सभी प्राचीन विधाओं के अतिरिक्त, पाश्चात्य साहित्य में प्रमुख विधाओं से भी प्रभावित साहित्य की रचना पर्याप्त परिमाण में हुई है। सम्पूर्ण भारत में विभिन्न विद्वानों तथा कवियों ने संस्कृत के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से सहस्राधिक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें अनेक कृतियाँ प्रकाशित हैं। उन पर समीक्षा ग्रन्थ भी आधुनिक भाषाओं में लिखे गए हैं। इस दृष्टि से आधुनिक काल की संस्कृत सर्जना को इन तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है[9] –

(1) राशिवडेकर युग (1890–1930)
(2) भट्ट मथुरानाथ शास्त्री युग (1930–1960)
(3) राघवन युग (1960–1980)

इन तीन युगों में संस्कृत गद्य में भी क्रान्तिकारी विकास हुआ। नई विधाएँ पनपीं तथा नये शिल्प के आयामों में अभूतपूर्व विस्तार हुआ। विद्योदय के संपादक हृषिकेश भट्टाचार्य, सहृदया के संपादक कृष्णाचार्य, मित्रगोष्ठी के संपादक विधुशेखर भट्टाचार्य आदि भी उत्कृष्ट मौलिक सर्जक तथा गद्य लेखक रहे। "आधुनिक युग का संस्कृत गद्यकार देवी–देवताओं की स्तुति या उपाख्यान ही नहीं लिखता, अब उसके नायक हैं राष्ट्रनेता, समाजसेवक,

उसकी विषय वस्तु है विश्वशान्ति की आवश्यकता, गुलामी की जंजीरों को तोड़ने का आन्दोलन, सामाजिक विद्रूपताओं पर प्रहार, राजनीति का प्रदूषण, भ्रष्टाचार, विश्वक्षितिज पर हो रही घटनाएँ। सामाजिक सरोकारों पर वह संस्कृत में उपन्यास और कहानियाँ आदि लिख रहा है, आधुनिक युग की विषमताओं पर व्यंग्य और ललित निबन्ध लिख रहा है, विश्व राजनीतिक घटनाओं का मूल्यांकन कर रहा है। विषयवस्तु की यह नवीनता और कथ्य की परिधि में यह विस्तार भी आधुनिक युग की विशिष्ट देन है।"[10]

आधुनिक संस्कृत साहित्यकारों ने विपुल मात्रा में संस्कृत नाट्यकृतियों की रचनाएँ की है। बहुत सी रचनाओं का अभिनय भी विभिन्न विशिष्ट अवसरों पर होता रहता है। कुछ नाट्यकृतियाँ इसी उद्देश्य से लिखी गई हैं। इनमें कहीं–कहीं आधुनिक सामाजिक समस्याओं का भी चित्रण किया गया है। कुछ नाटकों की रचना आधुनिक तथा मध्यकालीन महापुरुषों के जीवन–चरित को लेकर की गई है। अनेक नाटक प्राचीन कथाओं को भी अभिनव दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। प्रमुख संस्कृत रूपकों में मथुरा प्रसाद दीक्षित कृत वीर प्रताप, शंकर विजय, गान्धिविजय एवं भारत विजय, हरिदाससिद्धान्तवागीशकृत मेवाड़ प्रताप, बंगीय प्रताप एवं शिवाजीचरित, रामजी उपाध्याय कृत 'सीताभ्युदय' एवं 'कैकेयीविजय', रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत 'यूथिका','सप्तर्षि–कांग्रेस', वासुदेव द्विवेदी कृत 'भोजराजसंस्कृतसाम्राज्य', राजेन्द्र मिश्र कृत 'प्रमद्वरा', 'विद्योत्तमा', 'प्रशान्त राघव','लीलाभोजराजम्' तथा 'चतुष्पथीय' आदि, राधाबल्लभ त्रिपाठी कृत 'प्रेमपीयूष' आदि। इनके अतिरिक्त कुछ लेखकों ने वर्तमान ज्वलन्त समस्याओं पर भी अपनी रचनाओं द्वारा प्रकाश डाला है।

1954 को नई दिल्ली में साहित्य अकादमी की स्थापना हुई और तब से भारतीय भाषाओं के साहित्य को एक–दूसरे से अनूदित करके प्रस्तुत करने का भी एक व्यवस्थित तथा उपयोगी प्रयास आरम्भ हुआ। साहित्य अकादमी के माध्यम से समकालीन संस्कृत रचनाकारों के मौलिक ग्रन्थ पुरस्कृत होने लगे। उसके बाद तो देश में, विभिन्न राज्यों में संस्कृत अकादमी की स्थापना का दौर आरम्भ हुआ। संस्कृत के कई विश्वविद्यालय तथा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ स्थापित हुए।

आधुनिक संस्कृत साहित्य पर विचार और शोध कार्य का आरम्भ सबसे पहले, मध्यप्रदेश के सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग ने किया, जिसका श्रेय विभागाध्यक्ष प्रो. रामजी उपाध्याय को जाता है। आधुनिक संस्कृत साहित्य पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से संगोष्ठी या परिसंवाद के आयोजन का शुभारम्भ भी सागर विश्वविद्यालय से होता है, जिसमें पठित निबन्धों का संकलन 'आधुनिक संस्कृत साहित्यानुशीलन' नाम से 1865 में प्रकाशित हुआ। भारतीय विद्या भवन, बम्बई से प्रकाशित 'भारतीय विद्या' (त्रैमासिक पत्रिका) के भाग 1, 2–3, 1980 में बीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य पर दिसम्बर 1972 में

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से आयोजित संगोष्ठी में पठित लेख प्रकाशित हुए। राजस्थान अकादमी (जयपुर) की ओर से 1987 में जोधपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग ने अखिल भारतीय संस्कृत लेखक सम्मेलन का आयोजन किया। उसमें पठित निबन्धों का सम्पादित संकलन 'आधुनिक संस्कृत साहित्य' 1988 में प्रकाशित हुआ। फिर इसी अकादमी के सहयोग से 1988 में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के संस्कृत विभाग द्वारा संगोष्ठी आयोजित की गयी, जिसमें पठित निबन्धों का सम्पादित संकलन 'नवोन्मेष' नाम से 1990 में प्रकाशित हुआ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य पर नागपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग में 1985 में अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित संगोष्ठी में पठित निबन्धों का संकलन, 'पोस्ट–इण्डिपेण्डेन्ट संस्कृत लिटरेचर' नाम से 1990 में प्रकाशित हुआ।

इसी प्रकार सागर विश्वविद्यालय, सागर में यू.जी.सी. के आर्थिक सहयोग से 1986 में अखिल भारतीय संगोष्ठी तथा साहित्य अकादमी तथा रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर, कलकत्ता के सम्मिलित सहयोग से 1992 में आधुनिक संस्कृत साहित्य परम्परा और अभिनव परिवर्तन पर राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित हुई। आधुनिक संस्कृत साहित्य में साहित्य की लगभग सभी प्राचीन तथा नव विकसित विधाओं में लेखन हुआ और हो रहा है।

संस्कृत में गद्यकाव्य की अनेक विधायें–कथा, आख्यायिका आदि प्राचीनकाल से प्रचलित हैं। महाकवि बाण भट्ट की रचनाओं, हर्षचरित और कादम्बरी को संस्कृत की अलंकृत गद्यशैली का सर्वोत्कृष्ट प्रयोग माना गया और उनके आदर्श पर अनेक शताब्दियों तक संस्कृत में लेखन की प्रवृत्ति अभिलक्षित होती है। यहाँ तक कि आधुनिक काल में, जब पाश्चात्य प्रभाव के कारण संस्कृत में उपन्यास, लघुकथा आदि विधाओं का विकास हुआ, तब भी अनेक रचनाकार अपने को उससे मुक्त नहीं कर पाये।

आधुनिक काल के संस्कृत रचनाकारों ने एक सर्वथा नूतन सामान्य संस्कृतज्ञों द्वारा ग्राह्य लेखनपद्धति का विकास कर लिया है और अपनी रचनाओं को काल्पनिक कथानक रूढ़ियों से मुक्त कर जीवन की यथार्थ भूमि देने में कुछ सफलता भी अर्जित की है। आधुनिक संस्कृत में पद्य की अपेक्षा गद्य का लेखन कम हो रहा है, फिर भी पत्रिकाओं के माध्यम से गद्य को अवश्य प्रश्रय मिला है।

पहले तो संस्कृत में बंगला आदि साहित्यों के रचनाकारों से प्रभावित संस्कृत गद्यकारों ने अधिक मात्रा में उनके उपन्यासों को संस्कृत में अनूदित किया, फिर बाद में मौलिक उपन्यास भी रचे। संस्कृत के प्रथम उपन्यास पं. अम्बिकादत्त व्यास रचित 'शिवराजविजय' को बहुत प्रतिष्ठा मिली, हालाँकि उसे भी एक बंगला उपन्यास का कुछ अंश में अनुवाद ही प्रमाणित किया गया है, फिर भी उसमें पं. व्यास की रचनाधर्मिता, जलचादर के दीप सी झिलमिलाती है। निश्चय ही गद्य लेखन में पं. व्यास को मिली प्रतिष्ठा ने संस्कृत में गद्यलेखन को दूर तक प्रेरित किया है।

संस्कृत में लघुकथा साहित्य का भी आधुनिक काल में अपेक्षित विकास हुआ है। अनेक लघु कथाओं के संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। इसी प्रकार आधुनिक संस्कृत साहित्य में निबन्ध विधा का विकास भी हुआ है, जिसमें ललित निबन्ध भी लिखे गये हैं तथा लिखे जा रहे हैं। इसी प्रकार जीवनचरित पर गद्य रचनाएँ भी प्रकाश में आयी हैं और यात्रावृत्तान्तों का भी अभ्युदय हुआ है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य के इतिहास में जो भी परिवर्तन तथा नयी विधाओं के लेखन में प्रवर्तन आदि घटित हुए उनमें संस्कृत पत्रकारिता का बहुत बड़ा योगदान है।[11] इस समय संस्कृत पत्रकारिता अपने शिखर पर पहुँच चुकी है। वस्तुतः संस्कृत पत्रकारिता अन्य भाषाओं की तुलना में कुछ विशिष्ट महत्व रखती है। संस्कृत पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से आज कन्याकुमारी से हिमालय तक भारत सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, भौगोलिक ऐक्यक अनुभव कर रहा है। वैसे तो संस्कृत पत्रकारिता का आविर्भाव उन्नसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में (वर्ष 1866) हुआ। काशी के क्विन्स कॉलेज के प्राचार्य सर ग्रिफिथ ने काशीविद्यासुधानिधि नामक पत्रिका (जिसका प्रचलित नाम 'पण्डित पत्रिका' था) का शुभारम्भ किया। किन्तु इस पत्रिका के माध्यम से केवल आङ्.ग्ल दार्शनिक ग्रन्थों तथा अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संस्कृतानुवाद अथवा विशिष्ट विषय–प्रतिपादक अन्य ग्रन्थ ही प्रकाशित होते थे। वस्तुतः इस पत्रिका का प्रमुख उद्देश्य था दुर्लभ एवं अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन। इस पत्रिका में अनेक प्राचीन प्रामाणिक संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हैं। इस प्रकार पत्रकारिता के अनेक विशिष्ट लक्षण इसमें दृष्टिगोचर नहीं होते।

आधुनिक संस्कृत साहित्य में जो भी परिवर्तन तथा नयी विधाओं के लेखन में प्रवर्तन आदि घटित हुए, उनमें पत्र–पत्रिकाओं का योगदान महत्वपूर्ण है। संस्कृत पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन भी लगभग आधुनिक काल के प्रवर्तित होने के साथ ही आरम्भ हुआ। आरम्भ की पत्रिकाओं में काशीविद्यासुधानिधि, प्रत्नक्रमनन्दिनी, विद्योदय और षडदर्शनचिन्तनिका का उल्लेख तो मैक्समूलर ने किया है।[12] आगे चलकर जो पत्रिकाएं प्रकाश में आयीं, उनमें पण्डित, संस्कृतचन्द्रिका, सुनृतवादिनी, विद्योदय, मित्रगोष्ठी, सूक्तिसुधा, सहृदया और शारदा के नाम उल्लेखनीय हैं। फिर, सुप्रभात, उद्योत, सूर्योदय, श्री, कालिन्दी, म×जूषा, पीयूष पत्रिका आदि हैं।

इस प्रकार अन्य भारतीय भाषाओं के बीच संस्कृत एक भाषा है। ऐसा भी नहीं कि आज उसे कोई ''दैवी वाक्'' या देववाणी नहीं मानता, अगर नहीं भी मानता है तो ऐसी संख्या नगण्य है। फिर भी आज संस्कृत का रचनाकार उसकी उस प्राचीन प्रतिष्ठा को स्वीकार करते हुए उसके साहित्य के विकास में अपनी ओर से कुछ और जोड़ना चाहता है तथा उसे और भी समृद्ध करना चाहता है। आशा है आगे आने वाली शताब्दी में संस्कृत का साहित्य कुछ और अधुनातन रूप में प्रस्तुत होगा और उसमें अखिल भारतीय ही नहीं विश्व स्तर पर रचनाकार संस्कृत साहित्य रचना में प्रवृत्त होंगे।

समकालीन संस्कृत साहित्य के विकास की गति को तीव्र करते हुए यह ध्यान रखना होगा कि संस्कृत का मानक व्याकरण पाणिनीय व्याकरण के नियमों की अवहेलना न हो। यह सच है कि भाषा विकास की गति को व्याकरण के रूढ़ तथा जटिल नियम बाधित करते हैं परन्तु संस्कृत के विषय में पाणिनीय नियमों की सीमा में रहना आवश्यक भी है और उचित भी।[13]

आधुनिक संस्कृत साहित्य में साहित्य की लगभग सभी प्राचीन तथा नव विकसित विधाओं में लेखन हुआ और हो रहा है। आधुनिक संस्कृत साहित्य के अनेक रचनाकारों में उत्तम संस्कृत साहित्य लेखन की क्षमता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आधुनिक संस्कृत साहित्य की कालावधि लगभग दो शताब्दियों (19वीं–20वीं) से आगे बढ़ चुकी है। यह काल न केवल भारत के इतिहास, प्रत्युत विश्व के इतिहास की दृष्टि से भी बड़े उलटफेर और परिवर्तन का काल रहा है। इसमें दो–दो विश्वयुद्ध, परमाणु युद्ध से सृष्टि विनाश की लक्ष्मण रेखा खींची गयी। भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध प्रबल संघर्ष छिड़ा जिसके परिणामस्वरूप भारत आजाद हुआ। भारत–विभाजन के साथ साम्प्रदायिक दंगों की लपटें फैलीं, अनेक महान स्वतंत्रता सेनानियों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया तथा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की हत्या हुई। आज देश बेरोजगारी, राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता, भ्रष्टाचार, मंहगाई, सीमा विवाद, चारित्रिक पतन, आदि समस्याओं से जूझ रहा है, जिसका प्रभाव भी आज अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के साथ आधुनिक संस्कृत साहित्य के दर्पण में स्पष्टतः देखा जा सकता है।

सन्दर्भ :

1. नवोन्मेष, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. 118
2. आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ0 28
3. आधुनिक संस्कृत साहित्य, पृ0 99
4. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, सप्तम खण्ड, जगन्नाथ पाठक, पृ. 339–440
5. वही, पृ. 29
6. वही, पृ0 29
7. नवोन्मेष, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, पृ. 101
8. आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ0 32
9. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, पूर्वोद्धृत, पृ. 30
10. वही, पृ0 31
11. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, पूर्वोद्धृत, पृ. 32
12. वही, पृ0 32
13. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, पूर्वोद्धृत, सम्पादकीय, पृ. 43

***

'कामायनी' में भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

*डॉ. तृप्ता**

जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'कामायनी' आधुनिक युग का श्रेष्ठ काव्य है। यह काव्यात्मक लय से परिपूर्ण है। प्रसाद जी के कवि रूप के श्रेय का मूलाधार 'कामायनी' ही है। प्रस्तुत लेख में इसी कृति के समग्र मनोभावों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रस्तुति की जाएगी।

ऋग्वेद मन को काम से उत्पन्न मानता है और काम को मन का मूल बीज स्वीकार करता है। कठोपनिषद् में मन को इन्द्रिय रूपी अश्वों का लगाम कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में मन को प्रमयन स्वभाव वाला तथा अत्यन्त चंचल, दृढ़ और बलवान कहा गया है। इसे जीत लिये जाने पर ही कल्याण–प्राप्ति संभव है। तात्पर्य यह है कि भारतीय वाङ्मय के आधार पर मन उत्थान–पतन का कारण है। पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में मन एक ठोस द्रव्य माना जाता है जो समस्त चेतन प्राणियों में विद्यमान रहता है। पर आजकल इस बात का खंडन कर मन को समस्त चेतन पर अधिकार करने वाली शक्ति कहा गया है, जिससे समस्त भाव उद्भूत होते हैं। अरस्तू ने मन को आत्मा से भिन्न मानते हुए विचार करने की शक्ति माना है। इसी तरह फ्रायड ने मन के अचेतन एवं चेतन दो रूप स्वीकार करते हुए चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन को अधिक महत्त्वशाली प्रमाणित किया है। अतः पाश्चात्य मतों के आधार पर मन शरीर का नियामक, संचालक एवं प्रेरक है।

मन का अर्थ 'मनु' भी है। मानव की उत्पत्ति उसी से है। विश्व के लगभग सभी देशों के साहित्य में आदि–पुरुष और नारी को 'मन' के विकसित रूपों में देखा जा सकता है। कह सकते हैं सारी सृष्टि 'मन' की ही सृष्टि है। सारांश यह है कि सृष्टि का मूल स्रष्टा, मूल पुरुष, मूल नारी, मूल प्रेरक और सबका मूल बीज एकमात्र मन है।

प्रसाद जी ने 'चित्राधार' की 'मानस' कविता में मन की सरोवर से तुलना करते हुए विशाल कहा है। इस मन में चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद, लोभ, मोह, आनन्द आदि अनेक भेद स्थित रहते हैं। राज्यश्री में अपने 'मन की प्यास कभी न बुझती' कहकर इसे अतृप्त माना है। 'चन्द्रगुप्त' में मन को बूढ़ा न होनेवाला कहा है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में तो प्रसाद जी ने मन को आनन्दघन शिव माना है। अतः प्रसाद जी की मन संबंधी विचारधारा का निष्कर्ष निकलता है कि मन चेतन और अचेतन अवस्था में विविध विकारों में लीन होता है और सुख एवं सौन्दर्य की प्राप्ति हेतु सतत् प्रयत्नशील रहता है। सुख–प्राप्ति के लिए इसे मृग–मारीचिका में मृगवत् चक्कर लगाने ही पड़ते हैं।

---

* प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, अदिति महाविद्यालय, बवाना, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

'कामायनी' में भी मन का क्रमिक विकास हुआ है। प्रसाद ने स्वयं भी कहा है–''मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।'' कामायनी के प्रत्येक सर्ग का नामकरण स्थान, घटना या पात्र के नाम पर न होकर मानसिक वृत्तियों के आधार पर हुआ है। मन मननशील होता है, अतः कामायनी में सर्वप्रथम मनरूप मनु चिन्ता करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। 'चिन्ता' शब्द स्मृत्यर्थक 'चिति' धातु से बना है जिसका अर्थ है स्मरण या अध्ययन करना। मानसिक हलचल का रहना चिंता में स्वाभाविक है। कामायनी में भी मनु का मन चिन्ताओं से घिरा है। उन्हें अतीत का स्मरण होता है। वे सोचते हैं कि देवताओं का विलासपूर्ण जीवन कितना उच्छृंखल बन गया था। मनु चिन्तालीन हैं और खिन्न मन से सारा प्रलय दृश्य देख रहे हैं–

हिमगिरि के उतुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा या प्रलय–प्रवाह।

भारतीय काव्यशास्त्र में भी लिखा है कि ''ऐश्वर्य भ्रष्ट होने पर मन में चिन्ता मनोभाव की उत्पत्ति हो जाती है।'' मनु भी देवताओं के इष्ट ऐश्वर्य के विनाश से दुखी हैं। चिन्ता का जन्म अभाव से होता है, इसीलिए इसे अभाव की चपल बालिका भी कहा गया–

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा।

'कामायनी' में जलप्लावन का दृश्य ही परिवेशगत बाधा है और इसके कारण चिन्ता मनोभाव का पनपना स्वाभाविक है। इस प्रकार मन के विकास में चिन्ता की उद्‌भावना मनोवैज्ञानिक है।

मनुष्य को जीवन से बहुत मोह है। वह दुख की चरमावस्था में भी मृत्यु की गोद में जाना नहीं चाहता। चिन्ता से उद्यृत होने का प्रयत्न करते ही मन में आशा का संचार होता है और मन भावी सुख का स्वप्न देखने लगता है। इसकी व्युत्पत्ति से भी यही पता चलता है कि आशा शब्द 'अश्' धातु से बना है। अर्थात् जो पूर्णतः हृदय–प्रवेश में व्याप्त हो जाती है, वह आशा है। 'आशा' उल्लास और विश्वास की सूचिका कही जाती है।

'कामायनी' का दूसरा सर्ग आशा है जिसमें प्रलय की भीषण स्थिति से भयभीत मनु के मन में आशा का संचार होता है और उससे मनु सृष्टि क्रम में आगे बढ़ते हैं। आशा का संचार होते ही लुप्त चेतना वापस आ जाती है। प्रकृति का उल्लासपूर्ण वातावरण मन को प्रभावित करने लगता है। विराट सत्ता के प्रति आस्था भाव जमने लगते हैं। मानव मन वासना की ओर झुकने लगता है, अहं–भावना विकास पाने लगती है। चिन्ता की सीमाओं को पार

करता हुआ मनु आशा सर्ग में उल्लास से भरा–पूरा और नये उत्साह से संबलित लगता है। तभी कहता है–

यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल
सवय हृदय में अधिक अधीर;
व्याकुलता–सी व्यक्त हो रही
आशा बन कर प्राण समीर।

हृदय में आशा का संचार होने पर मनुष्य को एक विश्वास–सा जम जाता है और वह नवीन स्फूर्ति से जीने की इच्छा करता है। इसी विश्वास और इच्छा को श्रद्धा भी कहते हैं। श्रद्धा ही ऐसी वृत्ति है जो भटकते मन को केन्द्रित कर देती है। श्रद्धा भाव के आने पर हृदय में हास, विलास एवं प्रकाश छा जाता है। श्रद्धा मन को गन्तव्य पथ की ओर प्रेरणा देती है। महाभारत में इसे पाप से मुक्ति दिलाने वाली कहा गया है। कामायनी में मनु जब विश्वास, आस्तिक्य भाव, रागात्मिका वृत्ति, प्रीति और आसक्ति की ओर बढ़ता है, तब उसका संबंध श्रद्धा से जुड़ जाता है। अतः आशा के बाद मन में श्रद्धाभाव जाग्रत होना स्वाभाविक है।

जब श्रद्धारूप विश्वास जम जाता है तो मन संसार में आसक्त होने लगता है और यह आसक्ति ही काम को जन्म देती है। कामायनी का भी चौथा सर्ग काम ही है। काम–भाव के व्यक्त होते ही सर्वत्र बसन्त–सा प्रतीत होता है। हृदय में किसी की चाह होने लगती है और एक अटूट तृषा उद्भूत हो जाती है। पाश्चात्य विद्वानों में 'मैगडूगल के काम' (Sex) को मन की दुर्निवार प्रवृत्ति कहा है। कामायनी में काम के तीनों रूप– आध्यात्मिक, सृजनात्मक और वासनात्मक हमें उपलब्ध होते हैं। अदृष्ट रूप से मनु को श्रद्धापूर्वक आचरण करने की प्रेरणा देनेवाला काम आध्यात्मिक कोटि का है। श्रद्धा के साथ दाम्पत्य जीवन में जिसकी प्रतिष्ठा हुई है, वह काम सृजनात्मक कोटि का है। इसी से मानव की उत्पत्ति हुई।

इड़ा के संपर्क में आकर मनु को जिसकी उद्भूति हुई है, वह वासनात्मक काम है। इनमें से प्रथम मनुष्य में देवत्व की, द्वितीय मनुष्यत्व की तथा तृतीय पशुत्व की करता है। तीनों रूप ही मनु में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रसाद ने सृजनात्मक काम को ही उपयोगी कहा है तथा अन्त में उसी से आध्यात्मिक काम की प्रतिष्ठा की है। अनेक बार प्रेरित करने पर भी जब मनुष्य इसे दबाता है तो यह स्वप्न के माध्यम से फूट पड़ता है–

जो कुछ हो मैं न संभालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के।

संसार में कामोत्पत्ति के पश्चात् मन वासना से वासित हो जाता है। वासना काम का ही विकसित और व्यक्त रूप है। मोह का उत्पन्न होना ही वासना का उदय है। कामायनी में भी कहा गया है–

छूटती चिनगारियां उत्तेजना उद्भ्रान्त।
धधकती ज्वाला मधुर था वक्ष विकल अशान्त।

मनु का मन वासना के वातचक्र के आवेग के अधीन हो जाता है। मनु अपना सहज धैर्य खो बैठते हैं। वासना के उन्माद में कुछ भी नहीं सूझता।

जब वासना उद्दीप्त हो, परन्तु प्रिय का सम्मिलन न हुआ हो और इसी बीच कोई शक्ति (लज्जा) आकर वासना को नियंत्रित करती हो– मनोवैज्ञानिक चित्रण है। लज्जा आने पर आँखें विनम्र हो जाती हैं, पलक झुक जाती है और संकोच से व्यक्ति दबने लगता है। प्रसाद जी ने लज्जा के सूक्ष्म भावों का चित्रण किया है। यही वह आन्तरिक वृत्ति है जो नारी के मन का पथ–प्रशस्त करती है–

मैं उसी चपल की धात्री हूँ, गौरव महिमा हूँ सिखलाती।
ठोकर जो लगने वाली है, उसको धीरे से समझाती।।

वासना शारीरिक मनोभाव है और लज्जा मानसिक अधिक है। वासना मनोभाव मन के अंतर्गत छिपा रहने पर तो परिचय नहीं दे पाता है, किन्तु अपनी अभिव्यक्ति के दौरान लज्जा के रूप में प्रकट होता है। वह मुग्ध नारी को शालीनता, शिष्टता और चरण–मन्थरता सिखाती है तथा कपोलों पर लाली दौड़ा देती है, आँखों में उन्माद ला देती है और मन में मरोर उत्पन्न कर देती है–

लाली बन सरल कपोलों में, आँखों में अंजन सी लगती,
कुँचित अलकों में घुँघराली, मन की मरोर बनकर जगती।

लज्जा को काम और वासना के बाद दिखाना साभिप्राय है। वह किशोर बालाओं को सहसा आगे बढ़ने से रोकती है तथा कान मल–मलकर वर्जित करती रहती है। लज्जा स्वयं कहती है–

चंचल किशोर सुन्दरता की, मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हल्की सी मसलन हूँ, जो बनती कानों की लाली।

निदान एक दिन लज्जा का कृत्रिम आवरण हट जाता है और व्यक्ति इच्छित कर्म में प्रवृत्त होता है। इसी कारण 'कामायनी' में लज्जा के बाद कर्म का निरूपण है। वासना का अतिरेक मनु को आसुरी वृत्तियों का गुलाम बना देता है। परिणामतः हिंसा, मादकता, विलासप्रियता, प्रमाद और मोह आदि से प्रीति हो जाती है। यदि प्रेमी के किसी कर्म से प्रेम–पात्र प्रसन्न न हो तो प्रेमी को अत्यन्त दुख होता है और फिर वह उसकी इच्छानुसार ही कार्य करना चाहता है–

वही करूँगा जो कहती हो
सत्य अकेला सुख क्या?

संसार में कर्म करते हुए कभी किसी से स्पर्धा होती है तो कभी किसी से ईर्ष्या और ये भाव प्रेमियों में और भी तीव्र होते हैं। 'कामायनी' में कर्म के पश्चात् ईर्ष्या सर्ग की योजना मिलती है। प्रायः मानव मन दूसरे के उल्लास, सुख और ऐश्वर्य को सहन नहीं कर पाता है। वह उसके सौभाग्य से ईर्ष्या करने लगता है। श्रद्धा गर्भवती होती है। मनु जैसे ही इसे जानते हैं, वैसे ही

उनका हृदय ईर्ष्याभाव से भर उठता है। वे श्रद्धा के शरीर पर, मन पर किसी दूसरे का अधिकार सहन नहीं कर सकते। अपने रक्त पर पलने वाली संतान के प्रति उन्हें ईर्ष्या होने लगती है।

तुम फूल उठोगी लतिका सी, कम्पित कर सुख सौरभ तरंग,
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा, वन वन बन कस्तूरी कुरंग।
यह जलन नहीं सह सकता मैं, चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में, मैं रमण करूँ बन एक तत्व।।

ईर्ष्या से परिभ्रष्ट हुआ मनुष्य जब जीवन–संग्राम से खिन्न हो जाता है तो उसके जीवन में निराशा व्याप्त हो जाती है, परन्तु जिजीविषा उसे जीवित रहकर लक्ष्य–प्राप्ति के निमित्त इड़ा (बुद्धि) का अवकम्बन लेने के हेतु पुनः प्रेरणा देती है। कामायनी के इड़ा सर्ग में प्रथम मनु हमें निराशाच्छन्न ही दृष्टिगोचर होते हैं–

लू सा झुलसता दौड़ रहा कब मुझसे कोई फूल खिला।

ऋग्वेद में लिखा है– इड़ा का आश्रय लेने पर मनुष्य उससे शासित होता है। 'कामायनी' में इड़ा को तर्कमयी एवं मनु की कर्म–प्रेरिका के रूप में ही उल्लिखित किया है। मनु इड़ा के कहने पर ध्वस्त सारस्वत का पुनर्निर्माण कर शासन करते हैं। अतः बुद्धि की ओर मन की दौड़ स्वाभाविक ही है।

जब मनुष्य बुद्धि से प्रेरित होकर कर्म–निरत होता है तो वह अनेक उपलब्धियों के निमित्त सुख–स्वप्न देखने लगता है। इड़ा सर्ग के पश्चात् 'कामायनी' में स्वप्न सर्ग ही आता है। कवि ने स्वप्न की कल्पना कथानक को गति प्रदान करने के लिए की है। प्रसाद जी कहते हैं कि नील गगन में विहग बालिका–सी किरणें, उड़ती–उड़ती थककर नींद–सेज पर सोने के लिए स्वप्नलोक को चल देती हैं। फ्रायड का मत है कि अधिकांश स्वप्न सत्य होते हैं, क्योंकि ये अतृप्त इच्छा के नग्न प्रकाशन होते हैं। सामाजिक बंधनों के कारण जो काम वासनाएँ जागृत अवस्था में दबी रहती हैं, वे ही स्वप्नावस्था में वेश बदल–बदलकर अभिव्यक्त हुआ करती हैं। 'कामायनी' में श्रद्धा मनु और इड़ा के क्रिया–व्यापार को देखती है। मनु और प्रजा का द्वंद्व भी उसे दिखाई देता है। अतः प्रसाद की स्वप्न कल्पना, फ्रायड सी नहीं है।

काम, वासना, कर्म, ईर्ष्या, बुद्धि का अतिवाद 'संघर्ष' का कारण बनता है। 'कामायनी' में इसी अतिवाद के परिणामस्वरूप मनु के जीवन में संघर्ष होता है। यह संघर्ष विरोधी होता है, यथा प्रकृति–पुरुष, देव–दानव आदि। मनु के जीवन का संघर्ष प्रकृति के साथ है–

आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर,
प्रकृति संग संघर्ष निरन्तर अब कैसा डर।

अहं के वशीभूत होकर मनुष्य अपने को अधिक शक्तिशाली, दूसरों का नियामक और स्वच्छन्द समझता है। मनु स्वयं कहते हैं–

मैं शासक, मैं चिर स्वतन्त्र, तुम पर भी मेरा,

हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।

जब मनुष्य घोर संघर्ष करके भी लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता तो उसके मन में निर्वेद उत्पन्न होता है। मनुष्य को अपनी भूल ज्ञात होती है, पथ–भ्रष्टता के लिए पश्चात्ताप होता है और वह कहीं दूर भाग जाना चाहता है। मैकडूगल ने विकर्षण (Repulsion) से निर्वेद का संबंध जोड़ा है, क्योंकि विकर्षण में अरुचि अथवा घृणा संवेग होता है। 'कामायनी' में मनु भी सांसारिक पदार्थों से घृणा करने लगते हैं और उन्हें इस छाया से बाहर ही जाना रुचिकर है–

ले चल इस छाया के बाहर
मुझको दे न यहाँ रहने।

यही निर्वेद जब मनुष्य को तत्वज्ञान की ओर ले जाता है तो शान्त का स्थायी भाव हो जाता है और मन को शान्त कर श्रद्धा समन्वित बना देता है जिससे निर्मल आत्मा में शिव के दर्शन होते हैं। 'कामायनी' में भी निर्वेद के पश्चात् दर्शन सर्ग में जब मनु को श्रद्धा पुनः खोज लेती है तो उसके सद्व्यवहार से सम्प्रेरित होकर मनु तत्वज्ञान की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं और उन्हें नरेश के दर्शन होते हैं–

देखा मनु ने नर्तित नरेश
हत चेत पुकार उठे सविशेष

इस प्रकार निर्वेद के पश्चात् मनः शुद्धि पर शिव के दर्शन मनोविज्ञान के अनुसार उचित ही हैं।

आत्मदर्शन के पश्चात् मन जीवन का रहस्य जान जाता है। 'कामायनी' के रहस्य सर्ग में त्रितत्त्व (इच्छा, क्रिया, ज्ञान) के पार्थक्य से जीवन में विडम्बना और विषमता उत्पन्न होती है, ऐसा वर्णन किया गया है। इस सर्ग में तत्व का उल्लेख मन के क्रमिक विकास की ओर संकेत करता है। श्रद्धा के कहने पर मन रूपी मनु अग्रसर होते हैं और वह इच्छा, कर्म एवं ज्ञान से क्रमशः आकृष्ट होते हुए अन्त में इनके समन्वय में ही कल्याण मानते हैं–

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

इस प्रकार दर्शन के पश्चात् रहस्य का अंकन भावक्रम के अनुसार उपयुक्त ही है। कथा के दृष्टिकोण से भी यह आधार ही उचित है।

रहस्य के अनन्तर 'कामायनी' में आनन्द का चित्रण है। यह भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समुचित ही है। जब जिज्ञासा के विषय रहस्यात्मक पदार्थ का साक्षात्कार हो जाता है तो आनन्द की उपलब्धि स्वाभाविक है। प्रारंभ में मनु आनन्द के अभाव में ही खिंचाव का अनुभव करते हैं। परिणामतः उसके मन में एक तनाव का अनुभव होता है। अनेक स्थितियों से

होता हुआ मनु कैलाश (शिव) के पास जाता है और वहाँ पहुँचकर आनन्द पथगामी होता है। यही वह स्थल है जब मन की रिक्तता अपनी पूर्ति कर लेती है। और अन्त में एक समरस वातावरण छा जाता है जिससे अखण्ड आनन्द मिलता है–

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।

अतः यह कहना उचित ही है कि 'कामायनी' के चिन्तन में मनोवैज्ञानिक पीठिका दिखाई देती है। मानव मनोविज्ञान के सहारे व्यावहारिकता और स्वाभाविकता की रक्षा करती हुई यह कृति अपने गौरव को अक्षुष्ण बनाये हुए है।

फ्रायड मनोविज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं। 'कामायनी' में भी फ्रायड के सिद्धान्त देखे जा सकते हैं। फ्रायड के काम सिद्धान्त की झलक मनु द्वारा गर्भस्थ शिशु के प्रति ईर्ष्या भाव रखते हुए श्रद्धा को छोड़कर चले जाने में मिलती है। श्रद्धा और उसके शिशु–प्रेम में विषम लिंगीय को देखा जा सकता है। स्वप्न सिद्धान्त की प्रतीति काम और स्वप्न सर्ग में होती है। काम सर्ग में मनु को नींद आने पर जो स्वप्न दिखाई देता है, वह मनु को काम की ओर प्रेरित होने का संदेश देता है। दूसरे स्वप्न में श्रद्धा मनु को इड़ा के साथ देखती है। दोनों ही स्वप्न मन की अतृप्त वासनाओं के प्रतिफल हैं। इसी कारण ये मनोवैज्ञानिक पीठिका पर खरे भी उतरे हैं। वास्तव में स्वप्न में इड़ा श्रद्धा के रूप का प्रतिनिधित्व करती हुई मनु के साथ दिखाई गई है। मूल सिद्धान्त भी 'कामायनी' के पृष्ठों पर अंकित दिखाई देता है। मनु के द्वारा की गई अनेक भूलें इसी सिद्धान्त का पोषण करती हैं। श्रद्धा के पशु का वध, श्रद्धा–परित्याग, इड़ा के साथ बलात्कार का प्रयत्न आदि ऐसी ही भूलें हैं जो मनु अनायास ही कर गये हैं। फ्रायड के हास्य–विनोद सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। प्रसाद को 'कामायनी' में इसी कारण हास्य रस का स्वरूप नहीं मिलता। अहं सिद्धान्त भी 'कामायनी' में मिलता है। 'कामायनी' के पात्रों में अहं–भाव देखने को मिलता है। मनु का व्यक्तित्व अहं से पूर्ण है। इड़ा भी इसी नियम की चोट सहन करती है। सबसे बड़ी बात श्रद्धा भी अहं से पीड़ित है। वह 'मनु' और 'इड़ा' दोनों पर अधिकार करती है। उसके कार्य अहं सिद्धान्त की ही प्रतिकृति हैं।

सर्वांशतः यही कहा जा सकता है कि श्रद्धा मनु को ज्ञान–प्राप्ति में तन्मय होने तथा समाधि में संलग्न होने की प्रेरणा प्रदान करती है और इड़ा मनु को आनन्दानुभूति (समरसता) की प्राप्ति में सहायक होती है। प्रसाद ने श्रद्धा द्वारा मनु को ज्ञान–प्राप्ति कराई है, क्योंकि इड़ा ने ही मनु के मस्तिष्क का विकास भौतिक संघर्षों द्वारा करके उन्हें विज्ञानमय बनाया है। अतः दोनों का महत्त्व ही है। निष्कर्षतः यही कहेंगे कि 'कामायनी' में मनोवैज्ञानिक

सिद्धान्तों की छाया मिलती है। प्रसाद जैसे प्रतिभाशाली और सार्वभौमिक व्यक्तित्व से यही आशा भी की जा सकती थी। काव्य में दर्शन और मनोविज्ञान का संतुलित समन्वय वास्तव में अभिनंदनीय है।

संदर्भ :

1. भारतीय दर्शन : डॉ. राधाकृष्णन (अनुवाद नंद किशोर गोमिल)
2. वैदिक साहित्य और संस्कृति : वाचस्पति गैरोला
3. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास : बच्चन सिंह
4. जयशंकर प्रसाद और कामायनी : डॉ. राजमुनि

***

गोपीचंद के उपन्यासों में नारी की भूमिका

प्रियंका सिंह *
प्रो. बी. विश्वनाथ **

गोपीचंद तेलुगु साहित्य के महान कहानीकार, उपन्यासकार और प्रतिभावान साहित्यकार थे। इनकी प्रतिभा चहुमुखी थी। ये पत्रिका के संपादक भी रहे हैं तथा लेखक एवं निर्देशक, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार तथा निबंधकार के साथ-साथ आंध्र प्रदेश सरकार के प्रकाशन विभाग के निदेशक और आकाशवाणी के ग्रामीण कार्यक्रमों के रूरल प्रोग्राम-प्रोड्यूसर भी रहें हैं । वे कर्मठ, स्वावलंबी, अध्ययनशील, हँसमुख एवं विनोद प्रिय, स्नेहशील, आत्मभिमानी प्रगतिशील, प्रतिभावान तथा सबसे बढ़कर एक महान कलाकार थें। बचपन से ही गोपीचंद सतत अध्ययनशील थे। वे शेकस्पीयर, बेर्नार्डशा, प्रेमचंद आदि के नाटक तथा संसार के प्रसिध्द उपन्यास आदि का गहन अध्ययन किया । वे समाज में प्रचलित रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों को नहीं मानते थे। अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों के आधार पर वे किसी भी विषय को आँख मूँदकर विश्वास न करते थे। वे सदा विषय के मूल कारणों की खोज किया करते थे। हेतुवादी होने के कारण 'क्यों ? ''कैसे ?' आदि प्रश्नों के उत्तर पाकर ही वे किसी विषय को स्वीकार करते थे।

स्वतंत्रता के पहले समाज में अनेक प्रकार की कुरीतियाँ फैली हुई थीं। अज्ञान एवं अशिक्षा के कारण समाज की दशा बहुत दयनीय हो गयी थी । "विधवा विवाह समाज में महापाप माना जाता था । बहु विवाह, वृध्द-विवाह, बाल-विवाह, दहेज विवाह, पर्दा प्रथा आदि कुरीतियाँ समाज में दृढ़ जड़ों को खोखली बना रही थीं ।"[1] इन कुरीतियों ने नारी जीवन को नरक तुल्य बना दिया । नारी केवल भोग विलास की वस्तु समझी जाती थी लेकिन स्वतंत्रता के बाद पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृतियों का प्रभाव ज्यों-ज्यों समाज पर पड़ने लगा, त्यों-त्यों समाज में अधिक परिवर्तन होने लगा । स्वतंत्रता के बाद समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत बदलने लगी । अत्यधिक संख्या में लड़कियां स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाने लगी । घर के चहार-दीवारों के अंदर परदे की आड़ में रहनेवाली स्त्रियां कहाँ ? और माँ-बाप से दूर बड़े-बड़े नगरों और विश्व-विद्यालयों में शिक्षा पाने

---

* शोध छात्रा, तेलुगु विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
** शोध निर्देशक, तेलुगु विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाली महिलाएँ कहाँ ? कितना परिवर्तन हो गया है ? आजकल शिक्षित महिलाएँ हर एक क्षेत्र में काम करती हैं । खासकर स्कूलों, कॉलेजों और अस्पतालों में अत्यधिक संख्या में पायी जाती हैं । आजकल साहित्य सृष्टि में भी कई महिलाएँ संलग्न हैं । आज साहित्य की विविध विधाओं के सृजनात्मक कार्य में महिलाओं का पर्याप्त योगदान है । गोपीचंद ने भी अपने साहित्य में नारियों को उच्च स्थान दिया है । वे स्त्रियों के प्रति अत्यधिक स्वतंत्र विचार रखते हैं । उनके उपन्यास एवं कहानियों की स्त्री अधिक स्वतंत्र है । उनको यहाँ तक स्वतंत्रता है कि वह अपना पति स्वयं चुनती है । वे शादी के बाद भी कई पुरुषों के साथ अवैध संबंध बनाती हैं । वे अधिक पढ़ी-लिखी रहती हैं । उन्हें शिक्षा ग्रहण करने के लिए घर से बाहर भेज दिया जाता है । वे राजनीति कार्यों में भी भाग लेती थी। वे संस्थायों में जाकर सेवा कार्य भी करती थी । उन्होंने अपने उपन्यास 'मेरुपुल मरकलु' में स्वतंत्र विचार रखने वाली स्त्री के विषय में कहते है –"उषाराणी स्वतंत्र वातावरण में पली हुई है । उसने अपना अधिक समय नाटक एवं उपन्यास पढ़ने तथा सिनेमाओं को देखने में व्यतीत किया है । वह विवाह के बाद पति के साथ आनंन्दमय जीवन बिताने के लिए लालायित रहा करती थी । ऐसी स्वभाववाली को पति के नियमबध्द जीवन से निराशा हुई । दिन काटने के लिए वह कोई न कोई पुस्तक पढ़ा करती थी । जैसे जैसे वह पुस्तकों को पढ़ती थी वैसे-वैसे उसका मन चंचल हो जाता था। आखिर उसे अकेला जीवन दुर्भर प्रतीत हुआ, तो पति के दफतर जाने के बाद अपने सहेलियों को अपना घर दिखाने के लिए बुलाया करती थी । धीरे-धीरे अपने सहेलियों के पतियों को घर बुलाकर पार्टियां करती थी । ये कार्य वह अपने पति से पूछकर ही किया करती थी । ऐसे कार्यों को रामानुजम यह सोचकर मंजूर किया करता था कि अपनी अनुपस्थिति में पत्नी का समय आराम से गुजर जायेगा ।"[2]

गोपीचंद ने अपने उपन्यासों में विभिन्न प्रकार के नारी-पात्रों का चित्रण प्रस्तुत किया है । उन्होंने समाज में भारतीय नारी की यथार्थ-स्थिति को स्पष्ट करते हुए नारी-जीवन की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है । वे अपने रचना के माध्यम द्वारा नारी-पात्रों को जागृत करना चाहते है । गोपीचंद ने नारी के अंतर्द्वंद्व एवं संघर्ष का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है । उन्होंने 'पंडित परमेश्वरशास्त्रि वीलुनामा' में सुजाता का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है । एक जगह सुजाता सीमंतक को इस प्रकार चेतावनी देती है – " ....सीमंतक जी। ये ऐसे दिन है, जब कि पारिवारिक जीवन में सुख न पाने वाले व्यक्ति दूसरों के परिवारों में आग सुलगाते हैं। मूर्ख व्यक्ति बुध्दिमान व्यक्तियों पर कोई-न-कोई

कलंक लगाकर खुश होते हैं और बुरे लोग दूसरो के द्वारा की गयी भलाई का अर्थ लगाकर खुश होतें हैं । सभी प्रकार से अपनी अपेक्षा सुयोग्य व्यक्तियों को चार आदमी मिलकर सताना युगधर्म – सा मुझे दिखाई पड़ता है ।"[3] गोपीचंद ने एक ओर परंपरागत-सनातन नारी-पात्रों का चित्रण किया है तो दूसरी ओर अत्याधुनिक महिलाओं का चित्रण किया है । गोपीचंद ने अपने 'चीकटि गदुलु' उपन्यास में रत्नम्मा, दमयंती, सुशीला, बापम्मा तथा 'असमर्थुनि जीवयात्र' उपन्यास में असमर्थ सीतारामाराव की पत्नी इंदिरा तथा 'यमपाशम्' उपन्यास में नारायणराव की पत्नी राजम्मा आदि आदर्श गृहिणियों के प्रतिनिधि पात्रों का चित्रण किया है । असमर्थ की पत्नी इंदिरा युग- युगों से सतायी गयी नारी का ज्वलंत उदाहरण है । गोपीचंद ने शमंतकमणि, कोटेश्वरम्मा, निर्मला तथा उषाराणी आदि सरस एवं रोमांटिक पात्रों का चित्रण प्रस्तुत किया है ।

गोपीचंद के पात्र सामाजिक मर्यादाओं को लांघकर अपना वैयक्तिक करना चाहते हैं । वे अपने पतियों के साथ गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करते हुए भी अन्य पुरुषों के साथ प्रेम व्यवहार करती हैं । इसके लिए गोपीचंद ने दो कारण बतायें हैं । पहला जब अपना पति अन्य स्त्री के प्रति आकृष्ट होता है तो तब स्त्री सहज ही अन्य पुरुषों पर आकृष्ट हो जाती है, दूसरा जब पति द्वारा अपनी पत्नी की भावनाओं एवं उसके विचारों को नही समझना । उदाहरण – मरुपुल मरकलु है। इसमें गोपीचंद ने कमलाकरम के शब्दों में उपन्यासकार अपना संदेश यों सुनाते हैं – "आज की स्त्री बदलती है । यह परिवर्तन वैयक्तिक एवं सामाजिक रूप से भी होता है परन्तु तदनुसार पुरुष नहीं बदलता इसलिए पारिवारिक जीवन में संघर्ष एवं खलबली मच जाना सर्वसाधारण विषय हो जाता है । यह संघर्ष पति-पत्नियों में तीव्र धारण करता है । मनुष्य प्रेमी नहीं है । प्रेमी पति नहीं है । पुरुष इन तीनों रूपों में तीन प्रकार का व्यवहार करता है । पुरुष के रूप में जिसे वह स्वीकार करता है, उसे प्रेमी के रूप में स्वीकार नहीं करता । प्रेमी के रूप में जिसे वह मानता है, उसे पति के रूप में नहीं मानता । मनुष्य के रूप में वह चाहता है कि समाज के लिए कुछ नियम रहे । लेकिन प्रेमी के रूप में वह उन नियमों का उल्लंघन करता है । प्रेमी के रूप में वह मानता है कि अपने को प्रेम करने वाली स्त्री से प्रेम करना दोष की बात नहीं – वह स्त्री भले ही दूसरों की पत्नी हो परन्तु हमारी पारिवारिक व्यवस्था बदलती नहीं । इसलिए जो व्यक्ति समाज बदलता है परंतु हमारी पारिवारिक व्यवस्था बदलती नहीं इसलिए जो व्यक्ति समाज के प्रति विशाल भाव प्रकट करता है, वही परिवार भाव प्रकट करता है, वही परिवार में सनातन एनं निरंकुश बनता है । स्त्री में होने

वाले परिवर्तन को जानकर व्यवहार करना यदि पुरुष नहीं सीखे, उसकी स्वतंत्र-बुध्दि का आदर करना नहीं सीखें, तो पारिवारिक जीवन दुखमय हो जायेगा । फलस्वरूप स्त्री में जो चंचलता आती है, उसे पुरुष ही प्रोत्साहन देता है । "[4] 'गडियपडनि तलुपुलु' की कोटेश्वरम्मा 'प्रेमोपहतुलु' की सुन्दरी आदि पात्र इसके ज्वलंत उदाहरण है । गोपीचंद ने फ्रायड, जुंग आदि मनोवैज्ञानिक के मनोविज्ञान से प्रेरित होकर स्त्री के व्यक्ति-विकास तथा भावस्वातंत्र्य के परिचायक के रुप मे प्रस्तुत किया है।

गोपीचंद ने शिक्षित एवं अत्याधुनिक स्त्री-पात्रों का चित्रण प्रस्तुत किया है । उन्होंने शिक्षित महिलाओं के चरित्र-चित्रण में तटस्थ रहकर उनकी समस्याओं को समझकर सहानुभूतिपूर्वक उनका चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया है । 'पंडित परमेश्वरशास्त्रि वीलुनामा' की सुभाषिणी भी एम.ए. पास होकर एक कॉलेज में प्राध्यापन का कार्य करती है। 'यमपाशम्' में भी स्त्रियों की शिक्षा एवं स्वतंत्रता पर अधिक बल दिया गया है । इसकी संध्याराणी भी एक शिक्षित महिला है, 'शिथिलालयम' की निर्मला भी एक शिक्षित स्त्री है । वह स्वतंत्र रहना चाहती थी । उसका पति पिताबंरराव उसको रोकने के लिए बहुत कोशिश करता है लेकिन वह रुकती नही है । वह अपना स्वतंत्र विचार इस प्रकार व्यक्त करती है – "मुझे अब किसी की पत्नी बनकर रहने की इच्छा नहीं है । यदि प्रयत्न करने पर भी रह नही सकती । यह बात मुझे पहले मालूम नहीं होने पर भी अनुभव से समझ लिया, यदि मैं जिन्दा रहूँगी, तो स्वतंत्र रूप से जी सकती हूँ । स्वतंत्रता के अभाव में मैं मर जाऊँगी । वह मेरा स्वभाव है । मैं पति-पत्नियों के संबंध के बारे में ही नहीं कहती । पुरुष के किसी प्रकार के बंधन को मैं सह नहीं सकती । पत्नी की तरह जी नहीं सकती । अत:आप मुझसे जितनी जल्दी संबंध छोड़ दें तो उतना सुख पा सकते हैं ।"[5] वह एक अनाथ- शरणालय में पढ़ने के लिए भर्ती होती है और पढ़कर एक स्कूल की प्रधानाध्यापिका बनती है । 'पिल्लतेम्मर' की मृणालिनी ने भी एक नृत्यपाठशाला की स्थापना करके लड़कियों को भरत-नाट्य सिखाने का कार्य करती है ।'चीकटि गदुलु' की सुशीला जंगली जातियों के बच्चों को शिक्षित करती है । इसी उपन्यास में शिवकामय्या तथा उसकी पत्नी एक आश्रम की स्थापना करके बालिकाओं को प्रशिक्षित करती है । इस प्रकार से गोपीचंद ने शिक्षित महिलाओं का मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर उनकी स्थिति का सहानुभूतिपूर्वक चित्रण किया है ।

गोपीचंद स्त्रियों को स्वतंत्रता देने के पक्ष में हमेशा रहते थे। गोपीचंद का विचार है कि विवाह के लिए अपने पति चुनने की स्वतंत्रता स्त्रियों को जरूर मिलनी चाहिए। अगर उन्हें पति चुनने की स्वतंत्रता नही मिलेगी तो वे अपनी आकांक्षाओं एवं भावनाओं के दबाव में दूसरी तरफ आकृष्ट होगीं जिसे गोपीचंद के उपन्यास 'मेरूपुल मरकलु'की नायिका उषाराणी पात्र के माध्यम से व्यक्त किया गया है। विवाह के पहले जब रामानुजम उषाराणी को देखने जाता है तब उसे उषाराणी पसन्द नहीं करती है। वह माता-पिता तथा अपने से बड़े लोगों की बात मानकर वह रामानुजम से शादी करने के लिए तैयार हो जाती है किन्तु बाद में मन-पसंद पति न मिलने के कारण वह श्रीकांत, चक्रवती तथा कमलाकर के साथ अवैध प्रेम संबंध रखती है । कमालाकर और उषाराणी के बातचीत के माध्यम से भारतीय वैवाहिक व्यवस्था की त्रुटियों की काफी चर्चा की गयी है।

इसी तरह से गोपीचंद के उपन्यास 'यमपाशम्' में राजम्मा ने अपनी पुत्री अरुंधती को विवाह के संबंध में सलाह देती है – "बेटी ! तुम अच्छी तरह पढ़ो, नौकरी करो, अगर कोई तुम को चाहते हुए आयेगा, तो गृहणी बनो, नहीं तो कुमारी ही रह जाओ । पति के कुकर्मों को सहन करते रहना तुम अपना कर्तव्य मत समझो ।"[6] गोपीचंद वैवाहिक व्यवस्था में कुछ परिवर्तन चाहते थे। एक जगह उन्होंने कमलाकर से कहलवाया है - "किसी प्रकार वैवाहिक नियमों के बदलने की आवश्यकता दिखाई पड़ती है । तलाक को मानने के द्वारा समाज ने इस विषय को कुछ हद तक स्वीकार किया है । भविष्य में विवाह व्यवस्था में और भी परिवर्तन होने की संभावना है ।"[7] इस प्रकार से गोपीचंद विवाह के नियमों में स्त्रियों को और भी सुविधाएँ और स्वतंत्रता देने के समर्थक थे।

इसी तरह से गोपीचंद ने 'गडिय पडनि तलुपुलु' (खुले दरवाजे) के पात्र कोटेश्वरम्मा की बात करते है कि वह एक स्वतंत्र स्त्री है । शुरू में तो वह अपने पति से खुब प्रेम करती थी, किन्तु जब उसे पता चला कि उसका पति किसी और स्त्री से प्रेम करता है तब कोटेश्वरम्मा उसे छोड़कर हैदराबाद चली जाती है और वहाँ स्वतंत्रता पूर्वक रहने लगती है। उपन्यासकार के शब्दों में –"कोटेश्वरम्मा एक अधुनातन नारी है । अधुनातन नारी लोक के लिए चूड़ामणि जैसे शोभित होने के लिए सदा प्रयत्न करने वाली है । दोनों हाथों से धन कमाना, जीवन के सुख – भोगों को जी भरकर भोग लेना, सबसे प्रशंसाएँ पाना उसका आदर्श है ।.....जीवन के लिए सहायक बनने वाले नैतिक मूल्यों पर उसका कोई विश्वास नहीं है । विश्वास नहीं होना ही नहीं, बल्कि उनसे अवहेलना की दृष्टि भी है । बल्कि आगे ठेलकर जाना ही

बहरहाल उसका कार्य है । उस झोंक में इस प्रश्न के लिए स्थान नहीं कि कहाँ जाना है ? "[8] अतः गोपीचंद ने यह दिखाया है कि यदि पति जब पत्नी के रहते हुए दूसरी स्त्री से प्रेम कर सकता है तो पत्नी क्यों नहीं कर सकती हैं।

इसी तरह से गोपीचंद ने अपने उपन्यास 'प्रेमोपहतुलु' सुंदरी नामक पात्र का उदाहरण दिया हैं । इस उपन्यास में भी सुन्दरी का पति जयरामाराव किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करता है। दोनों दंपत्ती पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होकर स्वतंत्र विचार रखते थे। सुन्दरी भी सदानंद नामक व्यक्ति से प्रेम करती है। दोनों ही एक दूसरे से संबंध बनाने के लिए खोजते थे। सुन्दरी सदानंद नामक युवक से अवैध संबंध बनाती है। जयरामाराव करूणादेवी नामक युवती से अवैध संबंध रखता था। गोपीचंद का मानना है कि स्त्रियां जो इस समाज में गलत काम करती है उसकी वजह पुरूष है । पुरुष को अपनी पत्नी के प्रति कर्तव्य को पुरा करना चाहिए। इनकी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करनी चाहिए। गोपीचंद अपने नारी पात्रों को पुरूषों की होड़ में खड़ा करना चाहते है । पुरूषों के प्रति जो क्षमारहित व्यवहार किये जाते है उनका फल न केवल स्त्रियां भोगती है बल्कि पुरूषों को अधिक भोगना पड़ता है। जैसे 'मेरूपुल मरकलु' उपन्यास में उषाराणी के करनी का फल रामानुजम को भोगना पड़ता है । वह चक्रधर, श्रीकांत, कमलाकर आदि से प्रेम करती है । इन सब चीजों की उत्तरदायी ऊषाराणी नही है बल्कि रामानुजम है । वह एक अच्छा व्यक्ति है । वह एक अनुशासन प्रिय है उसके पास पैसा भी है। वह उषाराणी को स्वतंत्र रखता था। उसे सिनेमा ले जाता है क्लब जाता था। वह उषाराणी के उपर पैसा खर्च करने में तनिक भी संकोच नहीं करता है परन्तु इतना सब सुख देने के बावजूद भी उषाराणी अपने रास्ते से भटक जाती है क्योंकि रामानुजम अपनी उन्नति के पीछे उसे समय नही देता था । वह घर में अकेले बैठकर ऊबती थी जिससे ऊषाराणी गलत रास्ते पर चली जाती है । इसलिए 'मेरूपलु मरकलु' का रामानुजम और 'शिथिलालम' का पीताम्बर आदि पात्र कर्तव्य विहिन होने से उनकी स्त्रियां अन्य पुरूषों के प्रति आसक्त हो जाती हैं ।

गोपीचंद ने अपने उपन्यास 'असमर्थुनिजीवयात्र' में सीतारामाराव की पत्नी इंदिरा को जो युग-युगों से पुरूषों के दमन, अत्याचार एवं उपेक्षा आदि सहने वाली भारतीय नारी के रूप में चित्रित किया है। सीतारामाराव अपनी पत्नी के उपर खुब अत्याचार करता था। उसकी पत्नी इंदिरा उसके अत्याचार को सहती रहती थी। वह सुबह से शाम तक काम करती थी। वह गर्भवती थी, उसका नौंवा महीना चल रहा था। सीतारामाराव पूर्ण गर्भवती देखकर उससे चीढ़ता था। वह सोचता था कि इन औरतों को शर्म नहीं आती है। वह अपनी पत्नी से लड़ता था और उसे मारता भी था। उसकी पत्नी इंदिरा कॉफी पीने के लिए सीतारामाराव को जगाया तो वह उस पर गुस्सा होने लगता है, वह कहता था कि क्यों मेरी नींद खराब करती हो ।

सीतारामराव स्वयं अपने मुँह से रामय्या दादा से कहता है ''अपनी पत्नि को मारकर मैंने कौन सा गलत काम किया है दादा ? क्या श्रीराम ने देवी सीता को जंगलों के हवाले नही किया था ? मैं भी तो एक अवतार पुरूष हूँ।"[9]

गोपीचंद ने अपने उपन्यास 'असमर्थुनिजीवयात्र' में वेश्या-जीवन का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है । जिसमें वेश्या की मां एक ब्राह्मण युवती थी । एक युवक ने उसके साथ विवाह कर लेने का विश्वास देकर उसे धोखा दिया । उसके गर्भवती होने के बाद वह उसे छोड़कर चला गया । तब उस ब्राह्मण युवती ने मां-बाप तथा समाज के डर के मारे अपनी बच्ची को एक वेश्या के हाथों में दे दिया । इस प्रकार उसे वेश्या बनना पड़ा । वह जीविका के लिए धन लेकर व्यभिचार करने लगी । उसे वेश्या का जीवन छोड़कर किसी की पत्नी बनकर रह जाने की प्रबल इच्छा थी । इसी तरह से गोपीचंद के और एक उपन्यास 'शिथिलालयम' में नीना नामक वेश्या हैदराबाद नगर में वेश्या-जीवन व्यतीत करती थी । नीना के माध्यम से गोपीचंद ने हैदराबाद की वेश्याओं की दयनीय स्थिति का वर्णन प्रस्तुत किया था । व्यभिचार करते रहने पर भी वेश्या नीना किसी पुरुष की पत्नी बनकर गौरवपूर्वक जीवन बिताने की उत्कट अभिलाषा रखती है । आखिर वह पीतांबरराव नामक व्यक्ति से प्रेम करके उसके साथ विवाह कर जीवन व्यतीत करती है ।

इस प्रकार से हम कह सकते है कि गोपीचंद उस समय से लिखना प्रारंभ किये जब हमारा देश स्वतंत्र हो गया । स्वतंत्रता मिलने पश्चात स्त्रियों में काफी सुधार देखने को मिला इसलिए इनके उपन्यासों में स्त्रियां अधिक शिक्षित एवं स्वतंत्र दिखाई पड़ती है ।

संदर्भ :

1. प्रेमचंद और गाँधीवाद – रामदीन गुप्त, पृष्ठ 132
2. मेरुपुल मरकलु – गोपीचंद पृष्ठ 157
3. पंडित परमेश्वरशास्त्रि वीलुनामा- गोपीचंद
4. मेरुपुल मरकलु – गोपीचंद, पृष्ठ 181-182
5. शिथिलालयम- गोपीचंद
6. यमपाशम् – गोपीचंद पृष्ठ 210
7. मेरुपुल मरकलु – गोपीचंद, पृष्ठ 9-10
8. गडिय पडनि तलुपुलु – गोपीचंद , पृष्ठ 33
9. तेलुगु भारत के गौरवग्रंथ संकलनकर्ता आर ए पद्मनाभराव पृ0 399

***

बाह्य आक्रमण के कारण वर्णाश्रम विरोधी प्रवृत्तियों का उदय और प्रभाव

डॉ. बासुकी नाथ चौधरी *

भूमिका

भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल से ही वैदिक समाज विधान के विरुद्ध समय–समय पर आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ है तथा तत्कालीन समाज की विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया गया है। उपनिषदों ने वैदिक यज्ञानुष्ठान का विरोध कर आध्यात्म चिन्तन का मार्ग दर्शाया। महाबीर और बुद्ध ने हिंसा, घृणा, लोभ और भेदभाव की निंदा कर अहिंसा, प्रेम, निवृत्ति और सन्यास का पाठ पढ़ाया। मध्यकाल में कबीर, नानक और अनेकों अन्य वैष्णव संतों ने जातिभेद, विधवा विवाह निषेध, अन्धविश्वास एवं सामाजिक रुढ़ियों की कटु आलोचना कर पारस्परिक मैत्री, प्रेम, सहयोग, साधना और सद्भावना द्वारा मोक्ष प्राप्ति का उपदेश दिया। परन्तु इसे नकारा नहीं जा सकता कि भारत पर विदेशियों का आक्रमण भी भरपूर हुआ और उनका प्रभाव भी हमारी संस्कृति पर साफ–साफ झलकती है। आधुनिक काल में अंग्रेजी सामाजिक विशिष्टताओं और वैज्ञानिक बौद्धिकता के समक्ष हिन्दू धर्म को खड़ा करने के लिए अनेक सुधारकों ने विभिन्न संगठनों का निर्माण किया जिनके माध्यम से हिन्दू धर्म को अधिक उन्नत, उदार और सर्वग्राह्य बनाने की चेष्टा की गयी। एक बात ध्यान देने की है कि प्राचीन काल से अब तक औपनिषदिक ऋषियों ने वेदान्त के आधार पर ही सामाजिक बुद्धि का कार्य किया है। किन्तु आधुनिक समाज सुधारक अपने पूर्ववर्त्तियों की विचारधारा से कुछ अलग हटकर एक विशेष स्थान रखते हैं। यह साफ है कि वर्णाश्रम विरोध की प्रवृत्ति आन्तरिक एवं बाह्य आक्रमण, दोनों स्वरूपों में झलकता है। इस शोध आलेख का उद्देश्य मूलतः बाह्य आक्रामकों के कारण वैदिक समाज विधान के सन्दर्भ में विद्रोही एवं विरोधी प्रवृत्तियों के उदय और उसके प्रभावों को विश्लेषित करता है।

विषय वस्तु

किसी भी देश की संस्कृति और सामाजिक विन्यास में असंख्य प्रभावकों का सहयोग सुरक्षित रहता है। किसी भी व्यवस्था के सांस्कृतिक विकास का क्षेत्रीय परिसीमन असंभव है। आज की भारतीय संस्कृति और इससे सम्बद्ध सामाजिक व्यवस्था का जो रूप हमारे समक्ष है, वह सदियों के आर्य प्रयत्न का फल तो है ही, साथ ही इसमें द्रविड़, शक, आमीर, हूण, मंगोल, तुर्क, मुगल, अंग्रेज आदि सभी मानव समुदायों का योगदान है जो भारत में आकर यहाँ की संस्कृति के या तो अंग हो गये या उन्होंने इसे

* एसोसिएट प्रोफेसर, पी.जी.डी.ए.वी. (सांध्य) कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

विशेष रूप से प्रभावित किया।[1] इन विभिन्न जातियों के विश्वासों एवं कार्यों ने हिन्दू समाज के विचारों, नैतिक धारणाओं एवं धार्मिक अनुष्ठानों को प्रभावित और पल्लवित किया है।[2]

प्रामाणिक तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारत में आर्यों का पहला निकटतम सम्पर्क द्रविड़ जाति से हुआ। यद्यपि आर्यों का द्रविड़ों से संघर्ष भी खूब हुआ लेकिन इतिहासकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि द्रविड़ जाति अत्यन्त सुसभ्य थी और इसी जाति ने सर्वप्रथम सभ्यता संस्कृति का प्रसार भारत में प्रारम्भ किया। बड़े–बड़े भवनों का निर्माण तथा शैव और शक्ति जैसे भक्ति सम्प्रदायों का विकास उस जाति ने अपने समय में कर लिया था। आर्यों और द्रविड़ों का सांस्कृतिक सम्मिश्रण इतनी सघनता से हुआ है कि आज उनका स्पष्ट रूप से विश्लेषण कर पाना अत्यन्त ही कठिन है।[3] डॉ राधाकृष्णन जैसे आधुनिक विचारकों की मान्यता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था में धार्मिक अनुष्ठानों का जो रूप पाया जाता है, उसके अधिकांश उपादान वैदिक कम और आर्येत्तर अधिक हैं।[4]

आधुनिक समाज में त्रिदेव–ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा अत्यधिक प्रचलित है। किन्तु वैदिक साहित्य में शिव असुरों के पक्षपाती और उनके सहायक माने गये हैं। पुरातात्विक खुदाई में सिन्धुकालीन शिव की एक मूर्ति मिली है, जिससे स्पष्टतः पता चलता है कि शैव धर्म द्रविड़ संस्कृति की देन है। विवाह के अवसर पर आयोजित होने वाले सिन्दुरदान की क्रिया या तुलसी, वट, पीपल, बेल आदि वृक्षों के पूजा का विवरण या रिवाज आदि का उल्लेख वेद में नहीं पाया जाता है किन्तु आज हमारे सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा है।

द्रविड़ों के बाद यूनानियों को देखें। बाह्य आक्रामकों में यूनानियों ने ही सर्वप्रथम भारत पर प्रभावकारी आक्रमण किया था। इसी कारण उन्हें भारतीय साहित्य में ''दुष्ट विक्रान्त यवनाः'' के नाम से जाना जाता है।[5] भारत में प्रवेश कर इन्होंने यहाँ की सामाजिक व्यवस्था को बिल्कुल छिन्न–भिन्न कर दिया। सिकन्दर के आगमन के बाद से ही यूनानियों और भारतीयों के बीच तीव्र गति से व्यापारिक, दार्शनिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदान–प्रदान प्रारम्भ हुआ।[6]

ग्रीक जाति के बाद भारत में प्रवेश कर इसे प्रभावित करने वालों में शकों का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय साहित्य से पता चलता है कि सर्वप्रथम जैन आचार्य ''कालक'' ने राजा गर्दभिल्ल से बदला लेने के लिए सिस्तान (शकस्तान) से शकों को भारत आने का निमन्त्रण दिया। इस कारण भारत में शक का प्रवेश हुआ।[7]

युग पुराण में शक अम्लाट द्वारा भारतीय समाज व्यवस्था पर किये गये आक्रमणों और अत्याचारों का विस्तृत उल्लेख है। बाद में शकों ने सातवाहन कुल से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया और धीरे–धीरे वे भारतीय संस्कृति के अंग बन गये। शकों के नेता रुद्रदामन ने अपने शासन काल में

वैदिक संस्कृत को राजभाषा की उपाधि दी। भारत में शकों द्वारा सूर्य मूर्ति पूजा को शुरुवात हुई। शकों के लिए वर्णभेद कोई माइने नहीं रखता था। वैदिक संस्कृति के विरोधी होने के कारण शकों का आकर्षण बौद्ध धर्म, शैव धर्म और बैष्णव धर्म की ओर अत्यन्त बढ़ा क्योंकि ये सभी धर्म भी वैदिक धर्म के विरोधी और आलोचक थे। यह धर्म भी वैदिक परम्परा का विरोधी था। कालान्तर में ब्राह्मण धर्म के अनुयायी सतवाहनों एवं गुप्तों द्वारा शक परास्त हो गये।[8] लेकिन शक सतवाहन, इक्ष्वाकु और लिच्छवी कुलों में वैवाहिक सम्बन्ध के माध्यम से भारतीय समाज में घुल–मिल गये।

शकों के बाद भारतीय संस्कृति को प्रभावित करने वालों में कुषाण थे जिन्हें 'तुर्क' के नाम से भी जाना जाता है। कुषाणों में सबसे प्रसिद्ध कनिष्क हुआ जो बौद्ध धर्म का कट्टर अनुयायी था। कनिष्क ने अपने कार्यकलाप से भारतीय समाज के धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक आदि विभिन्न पक्षों को अनुप्राणित किया।[9]

भारत में बाहर से प्रवेश कर यहाँ की संस्कृति को प्रभावित करने वालों में आमीरों और गुजरों का भी अपना विशिष्ट स्थान है। एक ने यादवों और कृष्ण से अपनी निकटता प्रकट करते हुए गुप्तजनों से अपना तादात्मय स्थापित किया तो दूसरे ने अपने जातीय नाम से गुजरात में गुर्जर प्रतिहार राजपूत राज्य कायम किया।

भारत के आक्रामकों में हूण भी इतिहास प्रसिद्ध है। चीन से आये हूण ने अपनी वीरता के बल पर क्षत्रिय कुल में अपनी गणना करवाने में सफल हुए। राजपूताना के बहुत से लोग जो अपने को खत्री कहते हैं, आज भी हूण उपाधि धारण किये हुए हैं। राजपूतों में इनका सम्बन्ध खुलकर होता है। संभवतः भारतीय सती प्रथा का प्रचलन इन विदेशी जातियों के प्रभाव का परिणाम है।[10]

भारतीय संस्कृति को प्रभावित करने वालों में अरबों का विशेष महत्व है। जिस समय भारत में अरबों का प्रवेश प्रारम्भ हुआ, उस समय भारतीय वर्णाश्रमीय समाज व्यवस्था अन्दर से जर्जर हो चुकी थी। बाहर से आकर यहाँ स्थायी रूप से निवास करने वाले असंख्य लोगों को इस व्यवस्था में जगह नहीं मिल सकी।[11]

अनेक जातीय वर्गों का उदय हो चुका था जो सामाजिक दृष्टि से निम्न समझे जाने के कारण आर्य परम्परा और संस्कृति के विरोधी बन चुके थे। वैदिक संस्कृति की अवज्ञा के प्रथम चरण के रूप में अश्रद्धा की धारा प्रवाहित हो रही थी। वैष्णव संत निम्न वर्गों के उद्धार के लिए अनेक मंत्र फूँक रहे थे। सिन्ध और बंगाल में शूद्र राजाओं का शासन स्थापित हो चुका था। बंगाल के पाल राजा ब्राह्मण विरोधी और बौद्ध धर्म की उस वज्रयान शाखा के समर्थक थे जो वैदिक शास्त्रों का उल्लंघन कर विभिन्न अनुष्ठानों में निम्न वर्गीय स्त्री और मदिरा का प्रयोग उचित समझती थी। कपालिक, औघड़ आदि के वर्ग पूर्णतः वर्णाश्रम के विरोधी थे।

अरबों के समय में खासकर जब उनका आगमन ही हुआ था, वर्णाश्रम के विरोध में जो सबल आन्दोलन खड़ा हुआ, उसका नेतृत्व सिद्ध सम्प्रदाय कर रहा था। सिद्ध सम्प्रदाय में या तो निम्न वर्ग के व्यक्ति थे उच्च वर्ण से जिन्हें निकाल दिया गया था। सिद्ध सम्प्रदाय का सम्पूर्ण आचरण वर्णाश्रम विधान के प्रतिकूल था। इसके सदस्यों के लिए आत्म संयम या इन्द्रिय दमन निरर्थक था। इनके अनुसार काम वासना की तृप्ति से ही इन्द्रिय दमन का कार्य हो सकता था। संभवतः इसी युग की छाप खजुराहों की चित्रकला पर पड़ी है। उपर्युक्त वातावरण में इस्लाम समर्थक अरबों का पदार्पण भारत में हुआ। अरबों के साथ आया हुआ इस्लाम निरपेक्ष एवं उदारवादी सूफी धर्म समाज के सम्मुख प्रकट हुआ जिसे चैतन्य, रामानन्द, कबीर, दादू, जायसी, नानक जैसे सन्तों का समर्थन प्राप्त हुआ। ये पहले से ही ग्रामीण क्षेत्रों में रूढ़िग्रस्त मूर्तिपूजा, जाति प्रथा एवं धर्म के विरुद्ध प्रचार कार्य में संलग्न थे।[12]

हिन्दू संस्कृति पर अरबों का पहला प्रभाव यह पड़ा कि इसका सम्पर्क इन मुस्लिम सूफी सन्तों से हुआ जो वर्णाश्रमीय जीवन पद्धति के विपरीत सिद्धान्तों में विश्वास रखते थे। इनका दृष्टिकोण वैदिक समाज व्यवस्था की भांति संकीर्ण नहीं था। ये मानवतावादी एवं समानता के पोषक थे। सूफी धर्म का विकास ही इस्लाम के विरोध में हुआ था किन्तु इसकी उदारवादी नीति के कारण भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों के द्वारा इसका सहर्ष स्वागत हुआ।[13] हिन्दू मुस्लिम भाइचारे के वातावरण में मलिक मुहम्मद जायसी ने ''पद्मावत'' की रचना की। देवताओं की समानता एवं मानव की एकता पर आधारित इस मत को सामान्य जनता ने आदरपूर्वक देखा। संभवतः शंकर का अद्वैतवाद हिन्दू विचारों के समन्वय एवं मुस्लिम प्रभाव के प्रतीक के रूप में प्रकट हुआ।

जब भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हो चुकी और हिन्दू गुलाम बना लिए गए तब भारत की सांस्कृतिक गरिमा में गिरावट के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। हिन्दू धर्म में कट्टरता आई।[14] मानवीय समानता सिद्धान्त के कारण इस्लाम की लोकप्रियता बढ़ गई, सामाजिक अत्याचार से पीड़ित निम्न स्तर के व्यक्तियों ने इसे स्वीकार किया। वर्णाश्रमीय व्यवस्था में प्रचलित मूर्तिपूजा एवं यती–वृत्ति का विरोध हुआ तथा सामान्य रूप से भोग प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। अरबों के आगमन का ही फल था कि भारत के राजा चेरामन पेरूमल (मालाबार) के जैसे व्यक्तियों ने अपना धर्मपरिवर्तन कर इस्लाम धर्म का आसरा लिया। जमेरियन की आज्ञा प्रसारित हुई कि प्रत्येक धीवर परिवार में एक व्यक्ति को मुसलान होना पड़ेगा। इस्लाम धर्म की छाया में आए गजनी और गोरी के बर्बर अत्याचारों से त्राण पाने के लिए ही भारतीयों ब्राह्मणों ने विदेशी हूण और शकों को यज्ञ के माध्यम से राजपूत बनाने की परम्परा स्थापित की। सोमनाथ के मंदिर को तोड़ा जाना हिन्दूओं की धार्मिक आस्था के ऊपर सीधा प्रहार था। हिन्दू और मुस्लिम के बीच

पारस्परिक घृणा का बीजारोपण भी यहीं से प्रारम्भ हुआ। इसे उखाड़ फेकने का प्रयास जब अकबर ने किया तो औरंगजेब ने उसे अंकुरित और पल्लवित होने दिया तथा जब गाँधी ने इसे काट देना चाहा तो जिन्ना ने उसे पुष्पित और पल्लवित किया।[15]

गंभीरता से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस्लाम का प्रभाव कुछ न कुछ हिन्दू यज्ञों, सामाजिक आदतों, विचारों, भाषा, साहित्य, विज्ञान और कला पर पड़ा है।[16] हिन्दुओं के विवाहोत्सव पर अनिवार्य समझी जाने वाली आज की शहनाई अरबों की देन है। इनके समय में निर्मित ताजमहल, कुतुब मीनार, सिकरी का बुलन्द दरवाजा एवं जामा मस्जिद आदि स्थापत्य कला के सुन्दर प्रतीक हैं, जिनकी छाप उत्तर भारत के मंदिरों पर गुम्बद के रूप में पड़ी है। मुगलों में प्रचलित ''सेहरा'' और और 'मोर' पद्धति को हिन्दू समाज आज भी अपने विवाहोत्सव के अवसर पर अपनाता है। पर्दा प्रथा भी मुस्लिम धर्म से प्रभावित है।

वर्णाश्रम व्यवस्था पर मुस्लिम संस्कृति के बाद सबसे बड़ा संघात ईसाई धर्म का पड़ा जिसके उपासक थे पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज। आज भारत के युवा जनमानस में जो सांस्कृतिक, सामाजिक और बौद्धिक विचारधारा प्रवाहित हो रही है उस पर अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति का का रंग स्पष्ट देखा जा सकता है। ईसाई धर्म (अंग्रेजों का) प्रचार की पद्धति मुसलमानों की तरह कठोर नहीं थी, किन्तु सुनियोजित अवश्य थी। भारत में प्रवेश और अपनी सुदृढ़ शासन व्यवस्था की स्थापना हो जाने के बाद अंग्रेजों ने हिन्दू समाज व्यवस्था में प्रचलित अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और दोषों का वर्णन किया। यहाँ की प्राचीन परम्परा के प्रति घृणा पैदा किया तथा ईसाई धर्म की प्रशंसा की और अधिक से अधिक लोगों को ईसाई बनाने का प्रयास किया ताकि उनके प्रशासन और शोषण कार्य को बल मिल सके। अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अंग्रेजों ने अपनी भाषा अंग्रेजी को, यहाँ के युवकों को तथा उनकी शिक्षण संस्थानों को अपना माध्यम बनाया। उन्हें सफलता भी मिली। भारत के मुगल शासन के ध्वंसावशेष पर खड़े अंग्रेजों ने यहाँ के सामाजिक जीवन के हर पक्ष को क्रांतिकारी ढंग से प्रभावित किया।[18]

ईसाई धर्म प्रचार की प्रारम्भिक अवस्था के सम्बन्ध में ए.बी. दुबोय ने अपनी पुस्तक ''मार्डन इण्डिया एण्ड द वेस्ट'' में जो चित्र उपस्थित किया है उससे लगता है कि सर्वप्रथम वैसे हिन्दू ही धर्म परिवर्तन किये थे जो अपने समाज में अनादृत, त्रस्त और घृणित थे। जिनकी सुधि लेने वाला कोई नहीं था। ईसाई धर्म उन्हें एक छाँह की भाँति था। पहले उन्हें यह भय था कि हिन्दुओं की प्रचलित प्रथा का विरोध करने पर आम जनता विरोधी बन जायेगी किन्तु बाद में प्रशासन से प्रोत्साहन पाकर ईसाई धर्म के प्रचारक हिन्दू समाज पर टूट पड़े। गलियों और सड़कों पर बाइबिल का प्रचार प्रारम्भ हो गया। स्कूलों और कालेजों में ईसाई धर्म की प्रशंसा एवं हिन्दू परम्परा की निंदा के व्याख्यान दिए जाने लगे। मेकाले और डॉक्टर डफ को

यह विश्वास हो गया कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार से हिन्दुत्व के अंग टूट जायेगें तथा मूर्ति पूजने वाला कोई नहीं रह जायेगा।[19] कार्ल मार्क्स को भी यह विश्वास था कि पाश्चात्य प्रभाव से भारत की जाति प्रथा बिखर जायेगी।[20]

ईसाई धर्म प्रचार का असर तत्कालीन शिक्षित नवयुवकों पर विशेष रूप से पड़ा तथा उन्हें अपने समाज में छुआछूत, विधवा विवाह निषेध, बालिका वध, सती प्रथा, शूद्र घृणा, महन्तों की विलासिता अनेक दुर्गुण परिलक्षित होने लगे। तर्क, उदारता एवं क्रान्ति से परिपूर्ण छात्रों एवं नवयुवकों को अपने धर्म में रुढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के अतिरिक्त कुछ दिखता ही नहीं था। नवयुवकों को अपना धर्मग्रन्थ, अपनी संस्कृति अपना रहन–सहन सब कुछ व्यर्थ लगने लगा। मदिरापान एवं प्रतिमा भंजन इन्हें विशेष प्रिय हो चला। ईसाई धर्म के प्रभाव में आये इन युवकों ने स्पष्टतः यह घोषित कर दिया कि हिन्दू धर्म व्यवस्था के वैदिक और पौराणिक, प्राचीन और नवीन सभी रूप निरर्थक हैं। उनकी इस मनोभावना के पीछे हिन्दू जाति की कठोरता, नियंत्रण, पर्दा, निषेधात्मक आचरण एवं यूरोपीय रोमांटिक विचारधारा के प्रति आकर्षण जैसे तत्व थे।

फलतः बहुत बड़ी संख्या में लोग हिन्दू संस्कृति की त्यागवादी प्रवृत्ति को त्याग कर अंग्रेजों के धर्म और उनकी भोगवादी प्रवृत्ति को अपना लिया। इस प्रकार हिन्दू धर्म पर प्रशासन, शिक्षा पद्धति एवं अपने देश के शिक्षित युवक, इन सभी की ओर से अंग्रेजी धर्म के पक्ष में, हिन्दू धर्म पर खुला प्रहार होने लगा।[21]

धीरे–धीरे ईसाई धर्म का प्रसार होता गया तथा हिन्दुत्व के विभिन्न पक्ष उससे परिवर्तित होने लगे। पाश्चात्य सभ्यता से सम्पर्क, संचार साधनों में विकास, सहशिक्षा, व्यावसायिक क्रान्ति, विज्ञान आदि के कारण हिन्दू समाज व्यवस्था में प्रचलित जाति प्रथा और अस्पृश्यता की भावना पर सीधे प्रहार हुआ। अंग्रेजों द्वारा दी गयी नई प्रवृत्ति से प्रभावित देश का शिक्षित वर्ग खान–पान में अस्पृश्यता और जाति–पाति पर विचार करना निरर्थक समझने लगा। इससे हिन्दू समाज के जातीय बन्धन ढीले हो गए। अन्तर्विवाह की प्रथा प्रारम्भ हो गई। सार्वजनिक क्षेत्रों से छूआछूत की भावना जाती रही। किन्तु इसके साथ ही एक और प्रवृत्ति का विकास हुआ और वह थी – शिक्षित और अशिक्षित वर्ग आ भावना की प्रवृत्ति। शिक्षित वर्ग अपने को अशिक्षित लोगों की अपेक्षा सर्वाधिक श्रेष्ठ और सम्मानित समझने लगा। इससे जिस प्रकार की घृणा का प्रसार हुआ वह जाति प्रथा से भी ज्यादा कलुषित था।

अंग्रेजों के प्रशासन एवं ईसाई धर्म प्रचार के कारण हिन्दू समाज की अन्यान्य रुढ़ियों को तोड़ने में भी तत्कालीन शिक्षित युवा वर्ग को अत्यधिक सफलता मिली।[32] वर्णाश्रमीय हिन्दू समाज में बाल विवाह बन्द हुआ, विधवा विवाह प्रचलित हुआ, न्यायालयों में प्रेम विवाह को वैध समझा गया, तलाक

प्रथा को प्रश्रय मिला, स्त्री–पुरुष की समानता स्वीकार की गई, सहशिक्षा का प्रसार हुआ, सती प्रथा का अन्त हुआ। पर्दा प्रथा समाप्त हो गई, स्त्रियों को प्रशासन में स्थान तथा पैतृक सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त हुआ। इतिहास, भूगोल, गणित, अर्थशास्त्र, विज्ञान, राजनीति, दर्शन, मनोविज्ञान आदि विषयों के विशिष्ट ज्ञान प्रदान करने के लिए प्रबन्ध कर अंग्रेजों ने भारतीय समाज की बौद्धिक दृष्टि को अत्यधिक प्रशस्त बनाया। इससे यहाँ के विद्वान अपनी सांस्कृतिक समृद्धि से परिचित हो राष्ट्रवादी प्रवृत्ति के विकास में संलग्न हुए।

ब्रिटिश शासन का सबसे बड़ा प्रभाव यही हुआ कि इसने हिन्दू समाज में अपने भूत के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण एवं भविष्य के प्रति नूतन कामना का विकास हुआ। यह उसी का प्रभाव था कि अन्धविश्वास के स्थान पर विवेकपूर्ण निर्णय, पूर्वाग्रह के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं शैथिल्य के स्थान पर प्रगतिशील विचार के भाव पनपे। अंग्रेजों के सम्पर्क का ही प्रभाव था कि अपनी प्राचीन परम्परा में व्याप्त कुरीतियों के प्रति सतर्कता ने नैतिकता का संचार तथा धार्मिक प्रवृत्तियों में पुनर्गठन का सूत्रपात किया। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से ही नारी जीवन में अब उत्कर्ष हुआ तथा जातीय नियम के बन्धन ढीले पड़े। अंग्रेजों द्वारा स्थापित नूतन उद्योग धन्धों एवं आवागमन के साधनों के प्रभाव से ही वर्णानुसार निर्धारित ऊँच–नीच की भावना के उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त हुआ। अंग्रेजों ने ही अनुसंधान कार्य एवं पुरातात्विक खोजों को प्रोत्साहित कर भारत की प्राचीन गरिमा को हिन्दू समाज के समक्ष उपस्थित किया। इस तरह एक नई चेतना और प्रेरणा का संचार किया जिसके फलस्वरूप प्राचीन वर्णव्यवस्था अपनी वैधानिक प्रतिष्ठा खोती चली जा रही है।

उपसंहार

प्रस्तुत आलेख भारतीय संस्कृति पर बाह्य आक्रमण एवं उनके प्रभावों को संक्षेप में विश्लेषित करता है। ऐसा नहीं हैं कि वर्णाश्रम व्यवस्था के खिलाफ आन्तरिक प्रतिक्रियाएँ नहीं हुई एवं उनके प्रतिरोधी विचार सामने नहीं आये। फिर भी यह सही है कि अति प्राचीन काल से ही भारत विदेशी जातियों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। अधिकांशतः जातियाँ यहाँ आईं और अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं और विश्वासों के साथ वैदिक संस्कृति में अपने को विलीन कर दिया। यद्यपि अपना विलय तो किया लेकिन सामान्यतया विचारकों ने एक तथ्य को बड़ी सुगमता से नजर अन्दाज किया कि वे हममें से एक होकर भी हमारे बीच आम नहीं रहे। वे हमारे शासक बन बैठे। ऐसा इसीलिए था कि हिन्दू संस्कृति की कमजोरियों, गलत मान्यताओं एवं परम्पराओं के साथ–साथ हमारी दमनकारी नीतियों के कारण हम हमेशा विभाजित रहे। हमें लम्बे समय तक गुलामी का दंश झेलना पड़ा अन्यथा मुगल या व्यापारी अंग्रेजों के हम गुलाम नहीं होते। आवश्यक है कि हम अपनी प्राचीन परम्परा पर गर्व करें लेकिन जब उसका विश्लेषण करना हो तो 21वीं सदी में उसकी स्वीकार्यता तथा उपयोगिता को सामने रखकर

ही उसे विश्लेषित करें। इसका भी ख्याल करें कि जिन कारणों से हम विभाजित और विखण्डित थे, उन कारणों को प्रयास कर समाप्त करें। शहरों में जातीयता कुछ मौकों को छोड़कर नहीं के बराबर दिखती है लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी जातीयता एवं संकीर्णता का बोलबाला है।

यह सच है कि भारतीय संस्कृति आक्रमणकारियों के आक्रमण से हतोत्साहित नहीं हुआ और उनके विश्वासों और धारणाओं के साथ उन्हें अपने में मिला लिया। इन जातियों के मिलन से समयानुसार भारतीय समाज के कलेवर में रूपान्तरण और स्तरण के कार्य भी होते रहे। एक के बाद एक विदेशी मूल के लोग भारत में प्रवेश करते रहे, उत्पात और अत्याचार मचाते रहे तथा भारतीय समाज धैर्यपूर्वक इनके वैविध्यपूर्ण आक्रमणों का सामना करता रहा। भारतीय समाज व्यवस्था में इन सभी जातियों की विशेषताएँ सन्निहित होती रही। उसके कलेवर में समन्वय एवं संवर्धन होता रहा। हुमायूँ कबीर के शब्दों में भारतीय समाज और संस्कृति एक ऐसी लम्बी कहानी है जिसमें एकता की और समन्वय, सन्धि और विकास, प्राचीन परम्परा एवं नए मूल्यों के पूर्ण विलयन के तत्व भरे पड़े हैं।

सन्दर्भ :

1. भगवत शरण उपाध्याय : फीडर्स ग्राफ इण्डियन कल्चर : पीपल्स पब्लिसिंग हाऊस : नयी दिल्ली, 1973, पृ. 8–11.
2. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय : साहित्य अकादमी नयी दिल्ली, 1956, पृ. 4–9.
3. वही, पृ. 12–14.
4. वही, पृ. 45
5. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पी. पी. हाऊस, नयी दिल्ली, 1973, पृ. 27.
6. वही, पृ. 66–67.
7. वही, पृ. 71.
8. पाणिनीय 2/8/90 शुद्राणामनिस्वासितानायः।
9. भगवत शरण उपाध्याय; भारतीय संस्कृति के स्रोत : पी.पी. हाउस, नई दिल्ली, 1971, पृ. 78–85.
10. मध्य प्रदेश का ऐरण लेख – ''भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता भार्यावलग्नानुगताग्निराशिम्।''
11. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग 01, नागरी प्रचारणी सभा, बनारस, संवत् 2010, पृ. 101.
12. भगवत शरण उपाध्याय,– भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषणः पृ. 340.
13. विवेकानन्दः "The Mohamedon conquest of India came as salvation to the down-trodden, to the poor, that is why one-fifth

of our people have become Mohamedons. (संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 264–65 पर उद्धृत)।
14. शंभू रत्न त्रिपाठी : भारतीय समाजशास्त्रः किताबघर, कानपुर, 1961, पृ. 311.
15. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 262–273.
16. शंभू रत्न त्रिपाठी : भारतीय समाजशास्त्रः किताबघर, कानपुर, 1961, पृ. 313.
17. धर्जाती प्रसाद मुखोपाध्याय, 'इण्डियन कल्चर एण्ड डायबरसिटीज', 1942, पृ. 846.
18. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 527–28.
19. विनायक दामोदर सावरकर : फर्स्ट इण्डियन वार आफ इण्डिपेनडेंस सेठानी कम्पानी, बम्बई, 1909, पृ. 36.
20. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 535.
21. शंभू रत्न त्रिपाठी : भारतीय समाजशास्त्रः किताबघर, कानपुर, 1961, पृ. 325.

***

प्राचीन भारतीय इतिहास में राज्य व्यवस्था का विभिन्न आयाम

सत्येन्द्र पासवान *

शोध सारांश : भारत में राजनय का प्रयोग अति प्राचीन काल से चलता चला आ रहा है। वैदिक काल के राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में हमारा ज्ञान सीमित है। महाकाव्य तथा पौराणिक गाथाओं में राजनीतिक गतिविधियों के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार का केन्द्र बिन्दु राजा होता था, अतः प्रायः सभी राजनीतिक विचारकों– कौटिल्य, मनु, अश्वघोष, बृहस्पति, भीष्म, विशाखदत्त आदि ने राजाओं के कर्तव्यों का वर्णन किया है। स्मृति में तो राजा के जीवन तथा उसका दिनचर्या के नियमों तक का भी वर्णन मिलता है। राजशास्त्र, नृपशास्त्र, राजविद्या, क्षत्रिय विद्या, दंड नीति, नीति शास्त्र तथा राजधर्म आदि शास्त्र, राज्य तथा राजा के सम्बन्ध में बोध कराते हैं। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, कामन्दक नीति शास्त्र, शुक्रनीति, आदि में राजनय से सम्बन्धित उपलब्ध विशेष विवरण आज के राजनीतिक सन्दर्भ में भी उपयोगी हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद राजा को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जासूसी, चालाकी, छल–कपट और धोखा आदि के प्रयोग का परामर्श देते हैं। ऋग्वेद में सरमा, इन्द्र की दूती बनकर, पाणियों के पास जाती है। पौराणिक गाथाओं में नारद का दूत के रूप में कार्य करने का वर्णन है। यूनानी पृथ्वी के देवता श्हर्मेसश की भांति नारद वाक चाटुकारिता व चातुर्य के लिये प्रसिद्ध थे। वे स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य एक–दूसरे राजाओं को सूचना लेने व देने का कार्य करते थे। वे एक चतुर राजदूत थे। इस प्रकार पुरातन काल से ही भारतीय राजनय का विशिष्ट स्थान रहा है।

प्रस्तावना : प्राचीन भारत की यह स्थिति थी कि वह एक छत्र शासक के अन्तर्गत न रहकर विभिन्न छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित रहा था तथापि राजनय के उद्भव और विकास की दृष्टि से यह स्थिति अपना विशिष्ट मूल्य रखती है। यह स्थिति उस समय और भी बढ़ी जब इन राज्यों में मित्रता और एकता न रहकर आपसी कलह और मतभेद बढ़ते रहे। बाद में कुछ बड़े साम्राज्य भी अस्तित्व में आये।[1] इनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध थे। एक–दूसरे के साथ शांति, व्यापार, सम्मेलन और सूचना लाने ले जाने आदि कार्यों की पूर्ति के लिये राजा दूतों का उपयोग करते थे। साम, दान, भेद और दण्ड की नीति, षाडगुण्य नीति और मण्डल सिद्धान्त आदि इस बात के प्रमाण हैं कि इस समय तक राज्यों के बाह्य सम्बन्ध विकसित हो चुके थे। दूत इस समय राजा को युद्ध और संधियों की सहायता से अपने प्रभाव की वृद्धि करने में सहायता देते थे।

---

* शोध छात्र, प्रा० भा० एवं ए० अध्ययन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

वैदिक काल में राज्य व्यवस्था

वैदिक काल में राज्य एवं शासन–व्यवस्था थी या नहीं, यह तो कहना कठिन है। किन्तु 'राजा', 'राष्ट्र' ये दो शब्द वेदों में इतस्ततः स्फुट रूप में अनेक स्थान पर प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद में एक मंत्र आता है, जिसमें ब्राह्मण को ब्रह्म तेजस्वी और राजन्य वीर, बाण चालक और महारथी बनने की कामना की गई है। इस मंत्र में 'राष्ट्र' शब्द का भी प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ देश या राज्य हो सकता है।

यजुर्वेद के 20वें अध्याय में राज्याभिषेक का विस्तार से वर्णन आता है। राज्याभिषिक्तं राजा अपने प्रत्येक अंग में श्री यश, दीप्ति प्राप्त करने की प्रार्थना करता है। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय इन दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही देश का विकास होता है, वृद्धि होती है, ज्ञान और शक्ति की उन्नति होती है, ऐसा भी यजुर्वेद कहता है।[2]

इन कतिपय उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक युग में विशेषतः उत्तरवैदिक काल में राजशासन सीापित हो गया था तथा शत्रुओं के आक्रमण हुआ करते थे।

धर्मसूत्र काल में राज्य–व्यवस्था

प्राप्त प्रमाणों के अनुसार सूत्र–स्मृतिकाल तक राजा न्याय का आस्पद बन गया था। इस काल में सर्वोच्च न्यायालय राजसभा हो गयी थी। राजा न्यायसभा में नियमानुसार जाने लगा था। सभा में जाते समय उसे ब्राह्मण एवं मंत्री रखना आवश्यक था। न्याय करना राजा का कर्तव्य था। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना था। यह तभी संभव था जब उसे न्याय प्राप्त हो सके। दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों लक्ष्यों की पूर्ति के लिए बाधाओं से संरक्षण आवश्यक था। भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों के मार्ग में अधर्म की शक्ति बाधक है, उसे दूर करना ही राजा का धर्म था। इस प्रकार उचति न्याय व्यवस्था की स्थापना और उसका व्यवहार राजा का महत्वपूर्ण कार्य बन गया। राजा विधि–निर्माण के स्थान पर न्यायिक प्रशासन का ही नेतृत्व करता रहा। राजा के साथ न्यायाधीश अपनी नियुक्ति, कार्य एवं व्यवहार के संबंध में राजा की अपेक्षा विधि से नियंत्रित थे।

राजा की उत्पत्ति की अवधारणा

कतिपय ग्रंथों में स्वामी या शासक की आवश्यकता पर बल दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित है कि देवों ने राजा के न रहने पर अपनी दुर्दशा देखी और तभी एकमत से राजा नामक व्यक्ति तथा पद का चुनाव किया। इससे प्रकट होता है कि सामरिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं ने स्वामित्व या नृपत्व को जन्म दिया।[3] मनु ने लिखा है कि विश्व में किसी राजा या स्वामी के न रहने पर प्रजा के भयानुकूल होने के कारण सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए भगवान ने राजा की सृष्टि। मनु तथा कौटिल्य दोनों ने ही मराठा न्याय की विवेचना की।3

उनकी दृष्टि में राज्य को मात्स्य न्याय से बचाने के लिए दण्डाधिकारी राजा का होना नितांत अनिवार्य था। मात्स्य न्याय राज्य की उस दुर्दशा का नाम है, जिसमें सबल निर्बल को उसी तरह नष्ट कर देते हैं, जिस तरह बड़ी मछली छोटी मछली को निगल लेती है, यह मात्स्य न्याय दण्डाधिकारी राजा के न होने पर खूब फलता फुलता है। दण्डाधारी राजा की नियुक्ति होते ही बलवान अपने बल का दुरूपयोग नहीं कर पाते हैं, निर्बलों को संरक्षण मिल जाता है, तथा सभी प्रजाजन वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरूप अपने कर्त्तव्यों का पालन करने लगते हैं। उनका मानना है कि मात्स्य न्याय से दुःखी होकर ही प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा चुना था और अपना योगक्षेम करने के पारिश्रमिक के रूप में उसे अनाज का छठा हिस्सा व्यापारिक वस्तुओं से होनेवाली आय का दसवां हिस्सा तथा कुछ स्वर्ण देने की व्यवस्था की थी।

कौटिल्य के मतानुसार सप्तांग राज्य में राजा सर्वश्रेष्ठ है, वह सबसे बड़ा देवता माना जाता था। जिस प्रकार हम देवता का आदर करते हैं, उसी प्रकार राजा का करना चाहिए। जिस प्रकार कोई भी गलत कदम उठाने पर देवता से डरते हैं, उसी प्रकार राजा से भी डरना चाहिए। राजा ही मंत्री, पुरोहित एवं अन्य राजकर्मचारियों की नियुक्ति करता है। शास्त्रानुसार वेद को प्राप्त राजा न्यायपूर्वक अपने राज्य में रहने वाली सब प्रजा की रक्षा करे, क्योंकि दण्ड ही राजा और दण्ड में ही न्याय करने की शक्ति होती है।[4] मनु ने न्यायपूर्वक दण्ड का प्रयोग करने वाले राजा को सत्यवादी, विचारक, बुद्धिमान तथा धर्म और अर्थ का ज्ञाता होना आवश्यक बतलाया। इसलिए राजा को दण्डधर तथा न्यायकर्ता कहा गया है। कौटिल्य की दृष्टि में दण्डनीति अराजकता से बचने का महत्वपूर्ण उपाय है। इसी से प्रजा को मात्स्यन्याय से बचाया जा सकता है। इसको अपनाने वाले राजा के संरक्षण में रहने वाला निर्बल व्यक्ति भी अपने को बलवान समझता है, वर्णाश्रम व्यवस्था की रक्षा हो पाती है, प्रजाजन अपने धर्म–कर्म में लगे रहकर मर्यादा का पालन करते है, इसी से शत्रु को वश में किया जा सकता है। प्रजा अपराधोन्मुख नहीं होती है, इसी पर आन्वीक्षिकी, त्रयी तथा वार्ता का अस्तित्व है। अतएव राजा का कर्तव्य है कि वह इसका उपयोग करने को तत्पर रहे। किन्तु वह इसका उपयोग सोच समझकर करें। क्योंकि दण्ड देने में ढील करने वाले राजा का उसके आश्रित व्यक्ति तिरस्कार कर देते हैं और कठोर दण्ड देने वाले से परेशान हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में राजा को मध्यम मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए। दण्ड के उचित प्रयोग करने से प्रजा धर्म, अर्थ, काम का सेवन करने में समर्थ हो जाती है, जबकि प्रमाद्पूर्वक दिये गये दण्ड का परिणाम यह होता है कि सामान्य प्रजा के साथ वानप्रस्थी और संन्यासी भी क्षुब्ध हो जाते हैं।[5]

राजा का न्यायिक उत्तरदायित्व

न्यायपालिका की विधायिका शक्ति को छोड़कर कार्यान्वयन तथा निश्चित सीमा में बद्ध निर्णय की शक्ति राजा के हाथ में थी। इससे यह भी संभव था कि राजा स्वयं विवाद को इस रूप में प्रस्तुत कर दे कि व्यक्ति समाज उसके मनोनुकूल परिस्थिति में आ जाय। किन्तु इस सम्बन्ध में संभाव्य प्रत्येक स्थिति पर पूर्ण नियंत्रण रखने की व्यवस्था पायी जाती थी। राजा या राजकर्मचारी कोई विवाद प्रारंभ नहीं कर सकते थे। साथ ही प्रस्तुत विवाद को किसी लोभ आदि के कारण दबावे नहीं अर्थात् उसकी उपेक्षा न करके न्याय करे। अभ्यर्थी सीधे, न्यायधीश के पास जा सकता था। विवाद के संबंध में राजा धन या अन्य किसी प्रकार से प्रभाव नहीं डाल सकता था।[6]

धर्मसूत्र के अनुसार राजा का महत्वपूर्ण कार्य न्यायपूर्वक दण्ड देना तथा दण्ड देकर पथ से विचलित लोगों को पुनः पथ पर लाना था। यद्यपि स्मृतिकाल में राजा न्यायिक शक्ति का अंतिम आस्पद बन गया, किन्तु वह न्यायपालिका का संचालन अकेले और अपनी इच्छा से नहीं कर सकता था। उसे न्याय सभा में ब्राह्मण, मंत्री और पुरोहित साथ रखना अत्यावश्यक था।[7] विवाद के विषय में तथा धर्मशास्त्र के बारे में राजा ब्राह्मण तथा मंत्रियों आदि से ज्ञान प्राप्त करता था तथा उनकी सहायता से राजा विवादों का निर्णय करता था या राजा स्वयं विवादों का न्याय न करे तो उसे कार्य को देखने के लिए विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करता था।

न्यायिक प्रशासन से संबंधित प्रमुख कर्मचारी

प्राचीन काल की न्याय व्यवस्था अत्यधिक पवित्र थी। उस समय धर्म के आधार पर न्याय व्यवस्था आधारित थी। स्वेच्छाचारिता नहीं दिखा पता था। वह न्यायाधीशों एवं सभ्यों की सहायता से न्याय करता था। प्राड्. विवाक्, सभ्य, शास्त्रज्ञ एवं व्यवहार निष्णात होते थे, वे शास्त्रों के आधार पर ही अपना निर्णय देते थे।[8] पुरोहित वर्ग का भी न्याय में प्राधान्य रहता था। न्याय–व्यवस्था का व्यापक, वैज्ञानिक एवं सुनिश्चित विधान बना हुआ था। न्यायाधीश के द्वारा अनुचित निर्णय करने पर राजा के यहाँ उसकी सुनवाई होती थी।[9] राजा का न्याय का अंतिम अधिकारी होता था। न्यायाधीश के द्वारा अनुचित निर्णय करने पर राजा के यहाँ उसकी सुनवाई होती थी। राजा न्याय का अंतिम अधिकारी होता था।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि न्यायिक प्रशासन में राजा तथा अन्य कर्मचारियों के कार्य एवं विधीय स्तर देखने पर न्यायाधीशों के कार्य एवं विधीय स्तर देखने पर न्यायाधीशों के उत्तरदायित्व और उनकी तटस्थता पर प्रकाश पड़ता था तथा वे निर्णय विधि के आधार पर ही करते थे। न्याय पाने का सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त था तथा इस उद्देश्य की पूर्ति न्यायाधीशों द्वारा होती थी। न्यायाधीश यदि अन्याय करते थे अर्थात् निर्णय करने में पक्षपातपूर्ण व्यवहार करते थे तो वे पाप, अपराध और दण्ड के भागी होते थे।9 अपने कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व से च्युत होने पर उन्हें

दण्ड भी दिया जाता था।10 इसके साथ ही उनकी स्वतंत्रताएँ भी पर्याप्त थीं। न्यायाधीश राजा द्वारा नियुक्त होते थे किन्तु वे विधि के समक्ष उत्तरदायी होते थे। न्यायालय देश के सभी नागरिकों के लिए खुले थे चाहे वे देशी हो या विदेशी। विधि के समक्ष असमानता थी किन्तु निश्चित विधि के आधार पर न्याय प्राप्त करने में असमानता नहीं थी। दास एवं अत्यंजों को भी न्यायालय से सुरक्षा प्राप्त होती थी।

संदर्भ :

1. शर्मा, आर०एस० : आस्पेक्ट्स ऑव पॉलिटिकल आइडियाज, पृ० 32–46
2. शतपथ ब्राह्मण, 11/1/6/24
3. वैदिक इंडेक्स जिल्द–2, पृ० 218
4. आयंगर – 'राजधर्म', पृ० 117–118
5. गौतम धर्मसूत्र, 2/4/27
6. गोयल, एस0आर0 : प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1969
7. चौधरी, आर0के0 : इण्डियन लॉ एण्ड जस्टिस इन एन्शियन्ट इण्डिया, 1957 जायसवाल, के0पी0 : मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता, 1930
8. दास गुप्ता, आर0पी0 : क्राइम एण्ड पनिसमेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1973
9. मजूमदार, आर0सी0 : प्राचीन भारत में संघटित जीवन (हिन्दी अनुवाद) के0डी0 बाजपेई सागर, 1996

***

पूर्व मध्यकाल के पूर्व की धार्मिक स्थिति का एक संक्षिप्त अवलोकन

डॉ. सर्वेश कुमार मिश्रा *

गुप्तकालीन राजाओं का शासनकाल ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म की उन्नति के लिए प्रख्यात है। गुप्तकाल में भारत में अनेक धर्म प्रचलित थे। गुप्त शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी थे तथा इनकी उपाधि ''परमभागवत्' थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' की भांति अनेक गुप्त राजाओं ने अपनी मुद्राओं पर अपने नाम के साथ इस उपाधि को अंकित करवाया। दो गुप्त शासकों चन्द्रगुप्त एवं कुमारगुप्त को अवश्मेध यज्ञ करने का श्रेय प्राप्त है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य तथा समुद्रगुप्त की मुद्राओं पर विष्णु के वाहन गरूण की प्रतिमा अंकित है। इसके अतिरिक्त इस काल की मुद्राओं पर वैष्णव धर्म के अन्य प्रतीक, शंख, चक्र, गदा, पद्म, लक्ष्मी आदि की आकृतियां भी प्राप्त होती है। इन्होंने वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया। परन्तु स्वयं नैष्ठिक वैष्णव होते हुए भी इनका दृष्टिकोण पूर्णतया धर्म–सहिष्णु था तथा वे किसी भी अर्थ में प्रतिक्रियावादी नहीं थे।1 चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' ने विष्णुपद नामक पर्वत के ऊपर विष्णु–ध्वज की स्थापना की थी। गुप्तकाल में वैष्णव अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया और इसमें अवतार–नामवाद नामक नये तत्व का समावेश हुआ। यद्यपि विभिन्न ग्रन्थों में अवतारों की संख्या अलग–अलग बताई गई है परन्तु समान रूप से दस अवतारों को ही स्वीकार किया गया हे। ये सदस अवतार हैं– मत्स्य, कुर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि। इनमें वामन, वराह, नृसिंह को अधिक महत्व दिया गया।2

400 ई. तक वैदिक धर्म बहुत लोकप्रिय था। इस काल में वैदिक धर्म के राजवंशों में इतने लोकप्रिय होने का प्रमुख कारण यह था कि ब्राह्मण लेखक, जिन्होंने मनुस्मृति और महाभारत आदि ग्रंथों का सम्पादन किया, वैदिक धर्म के समर्थक थे और मीमांसा दर्शन के प्रतिपादकों का यह विश्वास था कि वैदिक यज्ञ करने से मनुष्य को मुक्ति मिलती है। राजा लोग, इन यज्ञों पर जो बड़ी धनराशि व्यय करते थे। वे खर्च कर सकते थे, परन्तु जनसाधारण में यह भावना उत्पन्न होती जा रही थी कि यज्ञ करना आध्यात्मिक उन्नति और ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने का सबसे अच्छा साधन नहीं है। याज्ञवल्क्य ने भी वैदिक धर्म के साथ–साथ इष्ट देवता की अराधना करने के लिए जप का विधान किया है। उसने लिखा है कि गृहस्थ को प्रतिदिन पांच महायज्ञ करने चाहिए और जप करना चाहिए। अतिथि यज्ञ में

* असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, डॉ० विभूति नारायण सिंह गंगापुर परिसर महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

उसने विज्ञान, कला अवस्था सम्बन्ध और धन किसी में भी माननीय अतिथि का विधान किया है। इसमें उसने वृद्ध शूद्र को भी सम्मिलित किया है।3 कुमारगुप्त भागवत् संप्रदाय का कुमार अनुयायी था किन्तु उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया।

इस काल के प्रारंभ में दक्षिण भारत में वैदिक धर्म बहुत लोकप्रिय था। वाकाटक राजा प्रवरसेन ने कई वैदिक यज्ञ किए। प्रारंभिक पल्लव शासक भी वैदिक धर्म के अनुयायी थे। स्कन्दवर्मा ने कई वैदिक यज्ञ किए। कुमारिल (सातवीं शती ई.) ने निर्भीकता से वैदिक कर्मकाण्ड प्रतिपादित किया। प्रारंभिक चालुक्य राजाओं ने राजसूय, वाजपेय और अग्निष्टोम आदि वैदिक यज्ञ करवाए। जनसाधारण पर कुमारिल की शिक्षाओं का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वे अहिंसा वाले यज्ञ नहीं चाहते थे। अधिकत्तर ब्राह्मण भी स्मृति धर्म की शिक्षा देते थे न कि श्रौत धर्म की।4

हिन्दू लोग प्रातःकाल की संध्या के पश्चात् देव–पूजा और पितृ–पूजा करते थे। अधिकतर मनुष्य सोलह संस्कार नियमपूर्वक करते थे। हर महीने बहुत–से लोग एकादशी का व्रत रखते और धार्मिक कृत्य करते थे। ग्रहण और संक्राति के समय दान देते थे। प्रयाग में मृत्यु से मुक्ति होती है ऐसे बहुत से लोग विश्वास करते थे। इस काल से पूर्व ही अनार्य और आर्य धार्मिक विश्वासों का पूर्ण समन्वय हो चुका था। गुप्त काल से पूर्व ही यूनानी, शक, पल्लव और कुषाण हिन्दू समाज में पूर्णतया घुलमिल गए थे। इस काल में हूणों ने भी हिन्दू धर्म को अपना लिया। यूनानी राजा मिनाण्डर एक शैव था। शकों में बहुत से नामों का भारतीयकरण हो चुका था। हिन्दू धर्म भारत की सीमा को पार करके जावा, सुमात्रा और बोर्नियो में प्रचलित हो गया और मेसोपोटामिया तथा सीरिया में चौथी शताब्दी तक बहुत से हिन्दू मन्दिर बन गए।5

ऐसी परंपरा है कि दक्षिण भारत में वैदिक संस्कृति का प्रसार ऋषि अगस्त्य ने किया अगस्त्य के सामने दक्षिण भारत में कौंडिन्य ऋषि को भी आर्य संस्कृति का प्रसार करने वाला माना जाता है। दक्षिण भारत में प्राप्त अनेक अभिलेखों में कौंडिन्य गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है जिन्हें वहां के निवासियों ने भूमि दान में दी थी। एक परंपरा के अनुसार पांड्य राजाओं के पुरोहित अगस्त्य गोत्र के ब्राह्मण होते थे। महाभारत और पुराणों के अनुसार भी अगस्त्य ने दक्षिण भारत में वन जलाकर भूमि को कृषि योग्य बनाया था। इस प्रकार उत्तर भारत के ब्राह्मणों ने दक्षिण में ब्राह्मण संस्कृति का प्रसार किया।

दक्षिण भारत के शासकों ने ब्राह्मण धर्म को बहुत प्रोत्साहन दिया। संगम साहित्य से इन तथ्यों की पुष्टि होती है कि दक्षिण भारत में ब्राह्मण धर्म बहुत लोकप्रिय हो गया। इसी कारण दक्षिण के देवता मुरुगन का स्कंदकार्तिकेय से समीकरण कर दिया गया। इसके बाद में दक्षिण भारत में

शिव, अर्द्धनारीश्वर अनन्तशायी, विष्णु, कृष्ण, बलराम आदि की पूजा भी बहुत लोकप्रिय हो गई।6

पांचवीं शताब्दी के बाद वैदिक यज्ञ लोकप्रिय न रहे। वैदिक देवताओं की अपेक्षा साधारण जनता को विष्णु की पूजा अधिक प्रिय हो गई। गुप्त सम्राट स्वयं विष्णु और लक्ष्मी के पुजारी थे। विष्णु का वाहन गरुड़ उनकी ध्वजा का चिन्ह था। वे अपने को परम् भागवत् कहते थे। विष्णु के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मेहरौली के निकट विष्णुध्वज नामक लोहे की कीली बनवाई। गुप्त काल में महाभारत और पुराणों का वर्तमान रूप निर्धारित हुआ। यह पौराणिक धर्म इतना उदार था कि इसमें हिन्दू धर्म के सब मतों के विचारों का समन्वय हो गया। छठी शताब्दी में स्वयं गौतम बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया। मत्स्य, भागवत और ब्रह्मांड पुराणों में बुद्ध की हिन्दू धर्म के देवताओं में पूर्ण प्रतिष्ठा पाई जाती है। अवतारवाद गुप्तकालीन धर्म की प्रमुख विशेषता है। उत्तर भारत में पुराणों के कारण विष्णु की पूजा अधिक लोकप्रिय हो गई। उसके अवतारों में उस समय वराह और कृष्ण बहुत लोकप्रिय थे।7

अधिकतर ब्राह्मण स्मृतियों में वर्णित देवताओं की उपासना की शिक्षा देते थे। इसका प्रभाव राजाओं पर भी पड़ा। चालुक्य शासकों का कुल–चिन्ह वराह था। और उनके धार्मिक कर्तव्य विष्णु के वराहावतार की वन्दना से प्रारंभ होते थे। कालान्तर में वैष्णव सन्त आलवारों ने तमिल भाषा में अपनी भक्ति से ओत–प्रोत भजनों की रचना की। उनके कारण यहां विष्णु की पूजा बहुत लोकप्रिय हो गई। दक्षिण भारत में शिव की पूजा अपेक्षाकृत कम लोकप्रिय थी। आलवारों का दक्षिण–भारत में इतना आदर है कि विष्णु और उसके अवतारों की पूजा के साथ इन सन्तों की प्रतिमाओं की भी पूजा की जाती है।

इस समय की शिव की मूर्तियों में मनुष्य की आकृति और लिंग का सुन्दर समन्वय है। मथुरा में पाशुपतों के लकुलांग सम्प्रदाय के लोग बहुत पाए जाते थे। गुप्त राजा युद्धों में विजय प्राप्त करने के लिए कार्तिकेय की भी पूजा करते थे।

भारतीय, वाकाटक, नलुशित्रक, कदम्ब और परिव्राजक कुल के शासकों में अनेक शिव के उपासक थे। पल्लव शासक महेन्द्र वर्मा पहले जैन धर्म का अनुयायी था किन्तु बाद में वह शिव का उपासक बन गया। दक्षिण भारत में शैव सन्तों को नायनार कहते थे। उन्होंने अपने भजनों में उच्च आध्यात्मिक विचारों का प्रतिपादन किया। उनके भजन भक्ति से ओत–प्रोत हैं। नायनार सन्तों ने शैव धर्म को बहुत लोकप्रिय बना दिया।8 दक्षिण भारत में शक्ति के उग्र रूप महिषासुरमर्दिनी की भी पूजा होती थी। महाबलिपुरम् में देवी का इस असुर (राक्षस) का संहार करते हुए कई भित्तिचित्रों में दिखाया गया है। इस काल में मन्दसौर (मालवा), ग्वालियर, इन्दौर (उत्तर प्रदेश) और बाघेलखण्ड में आश्रम में सूर्य मन्दिर बने।

कुमारगुप्त के समय में दशपुर में जुलाहों की एक श्रेणी ने सूर्य मन्दिर बनवाया। अन्तर्वेदि विषय में स्कन्दगुप्त के राज्य काल में दो क्षत्रिय व्यापारियों ने एक सविता (सूर्य) का मन्दिर बनवाया। इस काल में कुछ लोग नाग और यक्ष की भी पूजा करते थे। इस काल में हिन्दू मन्दिर हिन्दू धर्म और संस्कृति के केन्द्र बन गए।9

भारत में नागार्जुन आर्यदेव, असंग वसुबन्धु और दिङ्नाग ने महायान के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। महायान बौद्ध धर्म के सिद्धान्त इतने लोकप्रिय हो गए कि सर्वसाधारण ने महायान संप्रदाय को अपना लिया। महायान में बोधिसत्वों की कल्पना की गई, जो दूसरों के निर्वाण के लिए अपने निर्वाण को स्थगित करने के लिए सदा उद्यत रहते थे। महायान शास्त्र में ज्ञान मार्ग की प्रमुखता न रही। अब भक्तिमार्ग प्रमुख हो गया। स्तूप या बुद्ध की मूर्ति की पूजा करके ही भक्त निर्वाण प्राप्त कर सकते थे। उसकी दो शाखाएं हो गई। नागार्जुन और आर्यदेव से माध्यमिक शाखा के और असंग तथा उसके भाई वसुबन्धु ने (जब वह बौद्धों की महायान शाखा का अनुयायी हो गया) योगाचार शाखा के सिद्धांतों को प्रतिपादन किया। माध्यमिकों ने कहा कि वैचारिक जगत् सत्य नहीं हो सकता। ईश्वर और संसार दोनों आभासमात्र हैं। जगत् में शून्य का प्राधान्य है। उनके अनुसार संसार न तो वास्तविक है और न अवास्तविकय केवल सापेक्षतामात्र है। वे मध्यमाप्रतिपत10 पर जोर देते थे। योगाचार के प्रतिपादकों ने विज्ञानवाद का सूत्रपात किया, विज्ञान को ही सत्य ठहराया। उनके अनुसार परम सत्य या बोधि वे ही प्राप्त कर सकते हैं जो योगाभ्यास करते हैं। प्रकृति एक विचारमात्र है। बाह्य वस्तुएं स्वप्नों की भाँति अवास्तविक हैं। अश्वघोष ने दोनों शाखाओं के सिद्धांतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।

साँची गुप्तकाल में बौद्ध धर्म का मुख्य केन्द्र बना रहा। कुमारगुप्त प्रथम के समय वे यहां के 'काकनाद बोट' विहार को दान में धन और एक गांव मिला था। इस विहार में बुद्ध की चार मूर्तियों की इसी काल में प्रतिष्ठा की गई। सारनाथ में कुमारगुप्त के समय में अभयमित्र तपस्वी ने बुद्ध की दो मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। कश्मीर, अफगानिस्तान और पंजाब में सैकड़ों बौद्ध मठ थे जिनमें हजारों बौद्ध भिक्षु रहते थे। उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म दोनों का प्रचार था। बौद्ध धर्म अवनति पर न था। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्धधर्म की भी बहुत उन्नति हुई फाहियान भारत में बौद्ध धर्म के ग्रन्थ लेने आया था और बहुत–से भारतीय बौद्ध विद्वान इस काल में यहां से चीन गए। इसका यह अर्थ है कि चीन में भी बौद्ध धर्म की बहुत उन्नति हुई।11

हर्ष के राज्यकाल में हीनयान संप्रदाय की अपेक्षा महायान अधिक लोकप्रिय हो गया था। बौद्ध धर्म के इस समय 18 संप्रदाय थे। हर सम्प्रदाय के अलग–अलग धर्म–ग्रन्थ और मठ थे। युवान–च्वांग ने लगभग 5000 मठों को देखा जिनमें लगभग दो लाख भिक्षु रहते थे। कश्मीर बौद्ध धर्म का प्रमुख

केन्द्र था। जालन्धर, मतिपुर, कान्यकुब्ज, श्वेतपुर, नालन्दा, गया, पुण्डूवर्धन, मुंगेर और कर्णसुवर्ण में अनेक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान रहते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय ने बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय को योगाचार शाखा के विकास में योग दिया कि हिन्दू वेदान्त दर्शन और योगाचार के सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर न रहा।

बाण के वर्णन से ज्ञात होता है कि हर्ष एक धर्मात्मा शैव था। किन्तु. युवान–च्वांग के वर्णन से ऐसा लगता है कि हर्ष महायान बौद्ध संप्रदाय का अनुयायी था और दूसरे धर्मों की परवाह न करके बौद्ध धर्म का ही प्रचार करना चाहता था। उसके अनुसार वह दूसरे धर्मों का आदर नहीं करता था परन्तु युवान–च्वांग का यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। प्रयाग की सभा में हर्ष ने बुद्ध के साथ–साथ सूर्य और शिव की मूर्तियों की भी प्रतिष्ठा की थी। वह बौद्धों के साथ–साथ ब्राह्मणों को बहुत धन दान में देता था। हर्ष ने अपने राज्यकाल में कई धार्मिक सभाएं कीं। महायान बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए उसने कन्नौज में एक धर्म सभा की। इस सभा में उसने दूसरे धर्मों के अनुयायियों को भी आमन्त्रित किया। इसमें आसाम के राजा भास्करवर्मा के अतिरिक्त 18 अन्य राजा उपस्थित थे। इसमें 1000 बौद्ध भिक्षुओं और 500 ब्राह्मणों ने भाग लिया। नालन्दा के 1000 विद्वान भी इसमें सम्मिलित हुए। इसमें युवान–च्वांग ने अध्यक्षता की और महायान बौद्ध संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। इस सभा में अनेक गूढ़ विषयों द्य पर विचार किया गया। यह सभा 21 दिन तक चलती रही। पहले पाँच दिन किसी ने युवान–च्वांग का विरोध नहीं किया। पीछे हीनयान और ब्राह्मण धर्म के अनुयायी उससे अप्रसन्न हो गए। उन्होंने षड्यन्त्र करके अन्तिम दिन उस नगर और पण्डाल में आग लगा दी। उनमें से एक ने हर्ष की हत्या करने का भी प्रयत्न किया।

हर पांच वर्ष बाद हर्ष दान देने के लिए प्रयाग में एक सभा करता था। उसने छठी सभा 635 ईसवी में की, जब युवान–च्वांग भारत में था। इसमें रहने और खाने की उचित व्यवस्था थी। इस सभा में बुद्ध, सूर्य और शिव की मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई। हर्ष ने 10,000 बौद्ध विद्वानों में से प्रत्येक को 100 सुवर्ण मुद्रा, वस्त्र और भोजन दिया और ब्राह्मणों और भिखारियों को बहुत–सा धन दान दिया। इस प्रकार राजकोष में पांच वर्ष में एकत्रित धन व्यय कर दिया। उसे अपना शरीर ढकने के लिए एक वस्त्र अपनी बहन से लेना पड़ा।12

अशोक के राज्यकाल में ही बौद्ध धर्म दक्षिणापथ में फैल गया था। सातवाहन शासकों के समय में संभवतरू नागार्जुन ने बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। वह विदर्भ का निवासी था। और नालन्दा के बौद्ध का अध्यक्ष बन गया। उसका जीवन काल संभवतरू ईसा की पहली शताब्दी थी। नागार्जुनकोण्ड और अमरावती के उनके अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि इस काल में दक्षिणापथ में बौद्ध धर्म बहुत लोकप्रिय हो गया था। अशोक के

अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि उसके पांड्य, चोल, केरल पुत्र और सतिय पुत्र आदि दक्षिण भारत के राज्यों में अपने धर्म प्रचारक भेजे थे। दक्षिण भारत द्य के पश्चिम तट पर अनेक बौद्ध चौत्य व विहार बन गए। ये इस बात के प्रमाण हैं कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों से पूर्व ही दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म लोकप्रिय हो गया था। दक्षिण के पूर्वी तट पर आन्ध्र में भी सातवाहन राजाओं के राज्यकाल में बौद्ध धर्म खूब फला–फूला यद्यपि इनमें से अनेक शासक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। इस तट पर अनेक बौद्ध स्मारक बन गए जिनमें स्तूप, बोधिवृक्ष, बुद्ध के चरण चिन्हों और त्रिशूल (त्रिरत्न का प्रतीक) द्वारा बुद्ध को प्रदर्शित की गई हैं। नागार्जुनीयकोंड, गोली और घंटशाल आदि स्थान बौद्ध संस्कृति के केन्द्र बन गए। बाद में यहां महायान संप्रदाय का प्रचार हुआ और बुद्ध की मूर्तियां भी बनाई जाने लगीं। काठियावाड़ में वलभी और तमिल देश में कांची बौद्ध संस्कृति के केन्द्र थे। श्रीलंका में बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा के लिए दीपवंशों और महावंश की रचना की गई। वहीं पांचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बुद्धघोष ने विसुद्धिभाष्य की रचना की।13

मथुरा और वलभी श्वेताम्बर जैनों के मुख्य केन्द्र बने रहे। बंगाल में पुण्ड्रवर्धन दिगम्बर जैनों का मुख्य केन्द्र था। जैनों ने मथुरा में वज्रनन्दी की अध्यक्षता में एक संगम किया। 213 ई. में जैनों की दो सभाएं एक मथुरा में स्कन्दिल की अध्यक्षता में और दूसरी जैन परिषद 453 ई. में नागार्जुन की अध्यक्षता में वलभी में हुई। इसमें सब जैन ग्रंथ लिखे गए। गुप्तकाल में इन ग्रन्थों पर कई भाष्य लिखे गए। इन भाष्यकारों में सबसे प्रसिद्ध भद्रबाहु द्वितीय था। दिगम्बर संप्रदाय के अनुयायी ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते जो वलभी की सभा में संपादित किये गए थे।14

संभवतः उज्जयिनी में जैन धर्म का प्रसार ई. पू. दूसरी शताब्दी में ही हो गया था। वहां से भद्रबाहु नामक किसी आचार्य ने अपने शिष्यों को महाराष्ट्र होकर गुजरात भेजा। इस प्रकार ईसा का प्रारंभिक शताब्दियों में ही जैन धर्म सुदूर दक्षिण तक फैल गया था। ऐसी परंपरा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में मगध में एक भयंकर अकाल पड़ा जो बारह वर्ष तक चलता रहा। उस समय चन्द्रगुप्त मौर्य और जैन धर्म के अनुयायी प्रसिद्ध जैन आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में मगध छोड़कर कर्नाटक चले गए। दक्षिण में इन लोगों ने जैन धर्म का प्रसार किया। अकाल की समाप्ति पर जब ये लोग मगध वापस आये तो इनमें और मगध के जैनों में मतभेद हो गया और दक्षिण के जैन दिगम्बर और उत्तर के श्वेताम्बर कहलाने लगे। श्रवण–बेल–गोला में एक चन्द्रगिरि पर्वत और भद्रबाहु गुफा है। इनमें भी इस परंपरा की पुष्टि होती है। परवर्ती जैन साहित्य में भी चन्द्रगुप्त मौर्य के दक्षिण जाने का उल्लेख मिलता है। अशोक का पोता संप्रति जैन धर्म का अनुयायी था। संभवतः उसने श्वेतांबर जैन प्रचारकों को दक्षिण भेजा था। इसके बाद तीसरी शती ईसवी से पहले जैन धर्म के दक्षिण में प्रचार का

कोई प्रमाण नहीं मिलता। बाद में कदम्ब तथा गंग वंश के राजाओं ने जैन धर्म का संरक्षण किया।15

ब्राह्मणों और बौद्धों में बहुधा शास्त्रार्थ होते थे किन्तु साधारणतया सहिष्णुता की भावना हर जगह पाई जाती है। हिन्दू लोग जैन अर्हतों को दान देते। समुद्रगुप्त स्वयं हिन्दू था। उसने अपने पुत्र की शिक्षा के लिए वसुबन्धु को नियुक्त किया जो एक बौद्ध विद्वान था। गुप्त राजाओं ने बौद्ध और जैन संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी। उन्होंने नालन्दा विश्वविद्यालय को जो बौद्ध शिक्षा का केन्द्र था, बहुत दान दिया। गुप्त राजाओं के बहुत से अधिकारी बौद्ध थे। कदम्ब राजा वैदिक धर्मावलम्बी थे, किन्तु उन्होनें जैनों को आर्थिक सहायता दी। चौथी शताब्दी तक वैदिक, भागवत और शैव संप्रदायों का भेदभाव मिट गया था। सबमें पूर्णतया सम्बन्ध स्थापित हो गया था।16 जनसाधारण में परोपकार की भावना का प्राचुर्य था। वे पूजा कार्य के लिए या भिक्षुओं के वस्त्र, भोजन, औषधि और निवास की व्यवस्था के लिए पर्याप्त धन दान में देते थे। फाहियान ने लिखा है कि सब धर्मशालाओं में बिस्तर, भोजन पानी, औषधि आदि की उचित व्यवस्था थी।

संदर्भ :

1. अमरकोश, पृ. 133
2. राजपूजितो नगरजनपद प्रजितो, एपिग्राफिया इंडिका, 15,133
3. अथर्ववेद 9,6,5,1,3,17
4. पंचविंश ब्रा. 17,1,9
5. ऋग्वेद 1,51,6
6. ऋग्वेद 6,03,3
7. ऋग्वेद 10,117,2
8. ऋग्वेद 1, 187, 2
9. अथर्ववेद 9,6,13
10. छान्दो.उप. 1,10,4
11. बृहदा.उप. 61,14
12. छान्दो.उप. 1,10,4
13. ऐत.ब्रा. 7,29
14. ऐत.ब्रा. 8,8,
15. शत.ब्रा. 2,4,2,6
16. तैति.सं. 2,5,1,5–6

***

विश्व संरचना में यन्त्रवाद एवं प्रयोजनवाद की अवधारणा एवं वर्तमान सन्दर्भ में इसकी प्रासंगिकता

*डॉ. ममता सिंह**

विश्व–संरचना के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही उस मूलतत्व के स्वरूप पर विचार किया जाता रहा है, जिससे विश्व का अस्तित्व सम्भव हो सका, वह मूल तत्व जिससे विश्व निर्मित हुआ है। वह कोई जड़तत्व है या फिर चिद्‌ात्मरूप चेतन स्वरूप है या फिर दोनों अर्थात् जड़–चेतन रूप है या तटस्थ रूप में विद्यमान रहा है।

विश्व–संरचना के सम्बन्ध में एक व्यवस्थित वैचारिक एवं दार्शनिक परम्परा रही है। जिस तरह हम अपने आस–पास भौतिक या जड़ पदार्थों का अनुभव करते हैं, ठीक वैसे ही विश्व के चेतन–स्वरूप का भी अनुभव **करते** रहे हैं, किन्तु दोनों तरह के अनुभवों में स्पष्ट भिन्नता भी विद्यमान है। एक ओर जहाँ हम जड़ पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण कर उसका विश्लेषण कर सकते हैं। जैसे–मेज, कुर्सी, इत्यादि समस्त भौतिक पदार्थ। वहीं दूसरी ओर चेतना का प्रत्यक्षीकरण करके उसका विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। चेतना का विषय ही अनुभवजन्य है। इसका विश्लेषण प्रत्यक्षकरण के माध्यम से नहीं किया जा सकता, ये तो अनुभव का ही विषय है।

विश्व की संरचना के विषय में मूलतत्व की भूमिका तो प्रथम है ही किन्तु क्या विश्व की उत्पत्ति से लेकर अब तक उसका जो निरन्तर विकास होता रहा है, उसका भी कोई निश्चित कारण है? क्या इस कारण में विश्व के विकास निहितार्थ हैं? विश्व के विकास के विषय में भी दो भिन्न मत प्रचलन में आते रहे हैं :– (1) यन्त्रवाद (2) प्रयोजवादी दृष्टिकोण।

विश्व संरचना को विश्व के विकास के माध्यम से देखने पर विश्व विकास–प्रक्रिया यन्त्रवत् विधिवत् एवं किसी प्रयोजन को प्राप्त करते हुए प्रतीत होती है। अतः ऋत् के नियम से आवद्ध एक प्रक्रिया है जो निरन्तर विकास की ओर अग्रसर है।

किन्तु यन्त्रवादियों के अनुसार विश्व की सृस्टि या विकास में कोई उद्देश्य है ही नहीं। **डेमोक्रेटस** ने विश्व को अणुओं का आकस्मिक संयोग माना है। आधुनिक दार्शनिकों में **डेकार्ट** ने ईश्वर और आत्मा के अतिरिक्त विश्व की सारी वस्तुओं को जड़–द्रव्य कहा।

इसी क्रम में **स्पिनोजा** ने डेकार्ट के **यन्त्रवाद** की कमियों पर प्रकाश डालते हुये **प्रत्येक** घटना को चाहे उनका सम्बन्ध जड़ से हो या चेतन से अपने कारणों से नियन्त्रित बताया है। अर्थात् **घटनायें स्वकारण से नियन्त्रित हैं।** उनके अनुसार द्रव्य तो एक है किन्तु **विस्तार** और **विचार** उसके दो गुण

* असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

है। सिपनोजा मानते है। विश्व में यान्त्रिक व्यवस्था है, जिसका कोई उद्देश्य नहीं है। **स्पेन्सर** का यन्त्रवाद भी विश्व की व्याख्या में विश्व के समस्त विकास प्रक्रिया को ही मानता है, वो किसी अज्ञात् **सत्ता** द्वारा विश्व संरचना की व्याख्या करता है। जड़, प्राण, चेतना, जीव सभी उसी **सत्ता** के विकसित रूप हैं।

इस तरह यन्त्रवाद के मत को एकल जड़वत मान लेने से भी विश्व की संरचना की सटीक व्याख्या कर पाना समस्यात्मक है, क्योंकि **यन्त्रवाद** की मूलभूत समस्या ही उसका भौतिकवादी और निरूदेश्य होना है। यन्त्रवाद को ही मान ले तो ये मत केवल विश्व को तड़ तत्वों से निर्मित एवं जड़ तत्वों की व्याख्या करके सिद्ध करने का प्रयास करता है जबकि विश्व में जड़ पदार्थों के अतिरिक्त विश्व में जड़ पदार्थों के अतिरिक्त जीव और चेतना भी विद्यमान है।

वर्तमान युग में चेतना या जीव की व्याख्या करना यन्त्रवाद की समस्या होने के साथ ही वर्तमान में इस मत से विश्व में व्याप्त समस्त जड़ तत्वों की व्याख्या करने में भी असमर्थता दिखाई देते हैं क्योंकि अणुओं के सूक्ष्म रूप को ठीक–ठीक व्याख्यायित करना असम्भव है।

विश्व निरन्तर विकास की ओर अग्रसर होता है, विश्व जैसा पहले था वैसा आज नहीं है। उसमें निरन्तर विकास हो रहा है। विश्व में एक व्यवस्था है और उसी व्यवस्थित तरीके से विश्व संरचना भी होती है। जोकि यन्त्रवत् कार्यरत होते हुये एक प्रयोजन को प्राप्त कर रही है। अतः ये मानना ही पड़ेगा संरचना निरूदे्श्य नहीं हो सकती। कोई प्रयोजन अवश्य है और उसी से विश्व संरचना स्वचालित है, किन्तु एक व्यवस्थित क्रम में भी आबद्ध है। जिससे विश्व निरन्तर प्रौन्नत अवस्था को प्राप्त हो रहा है।

अतः यहाँ यन्त्रवत् विश्व की प्रयोजनमूलकता दृष्टव्य है क्योंकि संरचना एक विकास की प्रक्रिया है और विकास एक सिस्टेमेटिक मेथड से टोलियोलाजिकल प्रोसेस है। जिसमें एक निश्चित प्रयोजन औश्र जड़तत्वों का यन्त्रीकरण समाहित है। दोनों मतों में अन्योश्रित सम्बन्ध देखने को मिलता है क्योंकि विश्व की सृष्टि किसी एक मत के द्वारा पूर्णता को प्राप्त नहीं करती है।

विश्व संरचना के सम्बन्ध में यन्त्रवादी दृष्टिकोण एवं प्रयोजनवादी दृष्टिकोण दोनों को विश्व के विकास के क्रम में रखने पर ही विश्व में एक सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था को व्याख्यायित किया जा सकता है।

यन्त्रवादी विचारकों का एकागी दृष्टिकोण या प्रयोजनमूलक विचार से विश्व की संरचना की तार्किक रूप से सम्पूर्ण व्याख्या करना कठिन है। क्योंकि जहां यन्त्रवाद जगत् की व्यवस्था को यन्त्रवत् एवं किसी दूसरे के उद्देश्य की पूर्ति की बात करता है, वही प्रयोजनमूलक विचार जगत को एक प्रयोजन बताकर जीव व जगत् की चर्चा करता है। दोनों ही मत विश्व संरचना की समस्या को एकागी बना देते हैं अतः दोनों मतों को तार्किक व

दार्शनिक दृष्टि से देखने से यह प्रतीत होता है विश्व संरचना में मूल तत्व के रूप में जड़ पदार्थों जोकि यन्त्रवाद का मूल है और प्रयोजनकर्ता के रूप में किसी ईश्वर या पारलौकिक सत्ता का विचार दानों ही अपरिहार्य हैं क्योंकि विश्व अपनी निम्नतर से उच्चतर की ओर उन्मुमख है, इस प्रक्रिया में पदार्थों में यन्त्रवत् सामंजस्यीकरण के साथ ही एक प्रयोजन भी निहित देखा जा सकता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विश्व को यन्त्रवाद एवं प्रयोजनवाद, इन दोानों मतों केा एक साथ्ज्ञ समझने की आवश्यकता है चूंकि विश्व आधुनिकीकरण के युग में निरन्तर अपने सभी क्षेत्रों में प्रगति के पथ पर है। चाहे वो धार्मिक क्षेत्र हो या सामाजिक या आर्थिक या फिर राजनैतिक क्षेत्र। विश्व में एक व्यवस्था है जो यन्त्रवत् है जोकि विश्व को यन्त्र की तरह चालित किये हुये है और मनुष्य एवं जीव–जगत् उसके अवयव हैं।

इसी तरह इस व्यवस्था को चालित करने वाला या बनाने वाला एक कर्ता है जो इसे ठीक उसी तरह प्रयोजन निर्धारित करता है जिस प्रकार एक घड़ी बनाने वाला घड़ी का प्रयोजन निश्निनत करके उससे अलग हो जाता है और घड़ी अपने सिस्टम में स्वचालित है।

विश्व संरचना में यन्त्रवादी एवं प्रयोजनवादी मत को वर्तमान सामाजिक समस्याओं को समझने एवं इनके निवारर्णात्म भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जैसे–यदि विश्व की समस्त व्यवस्थाओं को यन्त्रवत् मान लिया जाये और इनका एक निश्चित प्रयोजन स्वीकार किया जाये तैसे समस्त जगत साध्य और साधनों के सामंजस्य से व्याप्त है। जिस तरह एक पेड़ की हरी पत्तियां फेफड़े का काम करती हैं, जड़े पृथ्वी से पानी लेती हैं, बिल्ली अपने पंजों को शिकार पकड़ने में उपयोग में लाती है, इसी प्रकार समाज को, यन्त्रवत् व्यवस्था में रहकर अपने प्रयोजन, जोकि समाज कल्याण है, के लिये सदैव तत्पर रहने और विश्व के प्रति ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की भावना बहुजन हिताय बहुजन सुखाय की ओर अग्रसर करता है।

***

सोशल मीडिया के मायावी विचित्र संसार का वस्तुनिष्ठ अध्ययन

डॉ. सेवा सिंह बाजवा *

संक्षेप सारांशः–

सोशल मीडिया ने संचार की दुनियां में क्रांतिकारी परिवर्तनों को जन्म दिया है। कभी वह भी समय था जब परंपरागत संचार माध्यम मानवीय सभ्यता की रीढ़ हुआ करते थे। परंपरागत समाज में संचार की विधाएं बेहद सरल थी। कई सदियों तक अन्तरव्यक्ति व समूह संचार के माध्यम से ही संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती रही। नानी–दादी की कहानियों के माध्यम से ही किशोरों में नैतिक मूल्यों व सदाचारी शिक्षा का समावेश हुआ करता था।संयुक्त परिवारों में जीवन बेहद सरल एवं ज़िन्दगी की रफ़्तार सुस्त थी। यह समाज छल, कपट एवं धोखाधड़ी के अवगुणों से पूर्णतः अछूता था। ऐसे में अक्षर ज्ञान का आगमन मानवीय सभ्यता के लिए किसी क्रांति से कम नहीं था। भले ही वर्ण व्यवस्था में अक्षर ज्ञान जातीय विशेष तक ही सीमित था लेकिन फिर भी इस की आमद से संचार सुलभ हुआ। सर्वप्रथम पौराणिक कथाओं व धर्म ग्रंथों की रचना हुई। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आमजन तक अक्षर ज्ञान पहुँचने में कई सदियां बीत गई।

Keywords:- सोशल मीडिया, क्रांतिकारी परिवर्तन, परंपरागत समाज,संस्कृति, संयुक्त परिवार, वर्ण व्यवस्था, मानवीय सभ्यता, अक्षर ज्ञान।

प्रस्तावना :–

कागज़ का आविष्कार भी किसी क्रांति से कम नहीं था।15 वी शताब्दी में गुटनबर्ग द्वारा छापेखाने के आविष्कार ने मानवीय सभ्यता को नयें आयाम प्रदान किए। शीघ्र ही हस्त लिखित कृतियों की जगह छपे हुए दस्तावेजों ने ले ली। यह सत्य है कि वर्ष 1780 में एक अंग्रेज जेमज ऑगस्टस हिक्की ने कलकत्ता से 'बंगाल गज़ट' नामक प्रथम भारतीय समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कर भारत मे सूचना व संचार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। लेकिन यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उस वक़्त तक विश्व के सभी अग्रिणी देशों में समाचार पत्र प्रकाशन प्रारम्भ हो चुका था। विश्व के अन्य देशों की भांति भारत में भी समाचार पत्रों ने सोई हुई खलकत को जगाने में अहम भूमिका अदा की। 19वी शताब्दी के अंत तक लगभग सभी भाषाओं में साहित्य रचना शुरू हो चुकी थी। बल्कि यह सत्य है कि बहुत सी भाषाओं में तो उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाओं की रचना हो चुकी थी। 19वी शताब्दी के अंतिम वर्षों तक स्टिल कैमरा तथा वीडियो कैमरा का अविष्कार भी हो गया था। जहां स्टिल कैमरे ने तस्वीरों के माध्यम से स्मृतियों को सजोने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई वहीं समाचार पत्रों में भी

* ऐसासिएट प्रोफेसर, पत्रकारिता एवम् जनंसचार विभाग, चौधरी देवीलाल विश्वविद्यालय, सिरसा

समाचार एवं विज्ञापन तस्वीरों के साथ छाया होने शुरू हुए। वीडियो कैमरे से चलचित्र अस्तित्व में आये तथा विश्व मे फिल्मों का निर्माण प्रारंभ हुआ।

जैसे जैसे जन साधारण तक अक्षर ज्ञान फैलना शुरू हुआ तो दूर बैठे परिजनों व संबंधियों के साथ पत्राचार का आदान प्रदान प्रारंभ हो गया। साक्षरता दर बढ़ने से पत्र लेखन मानवीय सभ्यता का अभिन्न अंग बन गया। कासद द्वारा पत्र भेजने की जगह जल्द ही डाक विभाग के डाक बाबू ने ले ली। पहले मूक तथा बाद में बोलती फिल्मों ने जहां मनोरंजन की दुनियां में नयें आयाम कायम किये वहीं चल चित्रों के माध्यम ने जीवन को रोचक बना दिया। 20वी शताब्दी के दूसरे दशक में मारकोनी द्वारा रेडियो के आविष्कार ने आवाज़ को तरंगों के ज़रिए दूर दराज के क्षेत्रों तक पहुंचाना शुरू किया। लगभग इसी समय टेलीफोन के आगमन से अन्तरव्यक्ति संचार को तो मानो पंख ही लग गए। इसी शताब्दी के तीसरे दशक में जॉन लोगी बेयर्ड ने टेलीविजन का अविष्कार किया तो मानवीय संचार जनसंचार के अर्थ ग्रहण कर गया। भले ही इस वक़्त तक समाचार पत्र व रेडियो का भी चोखा प्रचार प्रसार हो चुका था किंतु टेलीविजन ने जनसंचार माध्यम के रूप में जल्दी ही अपनी अनोखी व अनूठी पहचान कायम कर ली। 20वी शताब्दी के मध्य तक परिजनों से पत्राचार करना मध्यवर्गीय समाज व टेलीफोन संचार अमीर वर्ग के शिष्टाचार का हिस्सा बन चुका था।

गत शताब्दी के अंतिम दशक में उपग्रह टेलीविजन चैनलों की आमद ने जनसंचार की दुनियां में बडे इंकलाब को अंजाम दिया। लगभग इसी समय इंटरनेट आधारित डिजिटल संचार ने तो मानो मानवीय संचार के मायने ही बदल दिए। अचानक ही ज़मींदोज़ टेलीफोन की जगह सेल फ़ोन, जिन्हें मोबाईल फोन भी कहा जाता था, ने ले ली। बिना किसी केबल के महज चार–पांच इंच के एक यंत्र के माध्यम से दूरभाष संचार सभी को आश्चर्यचकित कर गया। गांवों व शहरों में मोबाईल फोन सेवा प्रदान करने वाली कंपनियों ने उत्कृष्ट सेवा प्रदान करने हेतु ऊंचे ऊंचे टावर लगाने शुरू कर दिए। कुछ ही वर्षों में टावरों का जमघट आम सी बात हो गई। एक छोटे से यंत्र से किसी के साथ, कभी भी तथा कहीं से भी बातचीत करना संभव हो गया। मानवीय सभ्यता के इतिहास में यह वास्तव में एक आश्चर्यजनक व अप्रत्याशित मंज़र था। उन दिनों किसी दीवार अथवा वृक्षों की ओट में खड़े होकर लोगों को अपने मोबाईल फोन के माध्यम से अपने परिजनों व प्रियजनों से बात करते अक्सर देखा जा सकता था। भले ही उन दिनों मोबाईल फोन की तरंगों से मानवीय सेहत पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव के बारे में अनेक भ्रांतियां भी फैलाई गई लेकिन मोबाईल फोन संचार तीव्र गति से बढ़ता रहा। एस.एम.एस. सेवा के माध्यम से अपने प्रियजनों को लिखित संदेश भेजकर अपनी भावनाओ को अभिव्यक्ति देना एक बेहद रोचक व सुखद अनुभव था। कुछ ही वर्षों में निजी पत्राचार लगभग समाप्त सा हो गया तथा इसकी जगह मोबाईल फोन ने ले ली। यह वह समय था जब

हाथ में मोबाईल फोन का होना सामाजिक श्रेष्ठता व समृधी का प्रतीक माना जाता था। लोग सार्वजनिक स्थानों व सामाजिक कार्यक्रमों में अपने मोबाईल फोन की नुमाइश करने में गर्व व फ़ख्र महसूस किया करते थे। टेलीविजन व टेलीफोन की इस कम्प्यूटरीकृत विधा के आगमन को सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति का नाम दिया गया।

लेकिन असली कहानी तो अभी बाकी थी। शीघ्र ही लगभग पांच इंच की स्क्रीन व क्वाटरी की–पेड वाले स्मार्टफोन ने बाजार में दस्तक दी। मोबाईल फोन की इस विधा के माध्यम से फोन कॉल व संदेश भेजने के अतिरिक्त रेडियो सुनने, टेलीविजन देखने, अपने मनपसंद गाने देखने–सुनने की सुविधाओं के अतिरिक्त ई–बैंकिंग, ई–कामर्स, ई–पेपर, ई–बिलिंग, ई–शॉपिंग, ई–टिकिट, ई–शिक्षा व विकिपीडिया इत्यादि के माध्यम से लगभग प्रत्येक प्रकार की सूचना उपलब्ध थी। इस तरह ई कल्चर अस्तित्व में आ गया। स्मार्टफोन ने वास्तव में समस्त विश्व को मनुष्य की मुठ्ठी में ला दिया। स्मार्टफोन पर उपलब्ध सोशल नेटवर्किंग साइट्स की मदद से सोशल मीडिया का आगमन भी इस दौर की एक बड़ी व अनूठी उपलब्धि कही जा सकती है। भले ही याहू मेसेंजर व ऑरकुट व फेसबुक के रूप में सोशल मीडिया पहले से ही अस्तित्व ग्रहण कर चुका था लेकिन उसको प्रयोग में लाने हेतु कम्प्यूटर अथवा लैपटॉप की आवश्यकता होती थी। स्मार्टफोन के माध्यम से आई सोशल नेटवर्किंग साइट्स ने सोशल मीडिया को अत्यधिक सुलभ बना दिया तथा अब सोशल मीडिया का उपयोग करने के लिए कंप्यूटर व लैपटॉप जैसे भारी भरकम यंत्रों की आवश्यकता नहीं थी। समस्त दुनियां मात्र पांच–छः इंच की स्क्रीन में सिमट कर रह गई। देखते ही देखते बाज़ारों में विभिन्न कंपनियों द्वारा निर्मित स्मार्टफोन की बाढ़ सी आ गई। मात्र 10–12 हज़ार में कोई भी व्यक्ति स्मार्टफोन खरीद कर मानवीय सभ्यता के इस अनूठे मरहले का आनंद उठा कर लाभान्वित हो सकता था। हुआ भी ऐसा ही। शीघ्र ही स्मार्टफोन मध्यम वर्गीय परिवारों की पहुंच में आ गए। भले ही युवा वर्ग को इस नई सूचना तकनीक ने सर्वाधिक प्रभावित किया लेकिन निःसंदेह समाज का कोई भी वर्ग इस से अछूता नहीं रहा।

मार्किट में अत्यधिक उत्कृष्ट पिक्चर क्वालिटी व मेगा पिक्सल वाले स्मार्टफोन उपलब्ध होने लगे जिनके माध्यम से मनुष्यों में अपने चित्र सोशल मीडिया पर शेयर कर अधिक से अधिक लाइक व कमेंट बटोरने की होड़ सी लग गई। एशियाई विशेष तौर पर भारतीय लोग समान्यतः गेहुएं रंग के होते हैं। उनमे सुंदर व गोरा दिखने की हार्दिक इच्छा व अभूतपूर्व प्रचलन पाया जाता है ताकि वो अधिक से अधिक लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। स्मार्टफोन में ऐसी बहुत सी ऐपस उपलब्ध हैं जिनके माध्यम से किसी सांवले सलोने व गेहुआं दिखने वाले व्यक्ति को फोटो फिल्टर लगाकर गोरा व सुंदर बनाया जा सकता है। वास्तव में फिल्टर लगाकर गोरे किये गए

आकर्षक चिहरों को सोशल मीडिया पर शेयर करते हुए अधिक से अधिक लाइक व कोमेंट हासिल करने से मनुष्य को अद्भुत कृत्रिम खुशी का अहसास होने लगा। वास्तव में स्मार्टफोन पर तस्वीरों में सुंदर दिखने एवं खूबसूरती की प्रशंसा की यह अनुभूति अविश्वशनिय थी। स्मार्टफोन के इन फिल्टरों के आगमन ने आत्म प्रचार व आत्म महिमा को अत्यधिक बढ़ावा दिया। इसी आत्म महिमागान को 'सेल्फ ग्लोरिफिकेशन' कहा जाता है। स्वयं को सुंदर व आकर्षक कहलाने की होड़ में आधुनिक मनुष्य किसी भी हद तक जा सकता है। वास्तव में सोशल मीडिया एक मायाजाल है जिसकी चुंगल में फंसना तो आसान है लेकिन निकलना बेहद मुश्किल।

सोशल मीडिया निर्मित विचित्र संसार का मनुष्य मात्र अपनी खुशी के लिए कहीं घूमने नहीं जाता बल्कि स्वंय चित्र (सेल्फी) लेकर उन्हें सोशल मीडिया पर शेयर करने की चेष्टा उसका प्रमुख मकसद होती है क्योंकि उसके सोशल मीडिया मित्र भी ऐसा ही करते हैं। बल्कि कई बार तो किसी आकर्षक व अनूठे कोन से पिक क्लिक करने के प्रयास में स्वयं प्रचार के शुदाई लोगों के दुर्घटनाग्रस्त होने के समाचार भी आप ने पढ़े सुने होंगे। सोशल मीडिया पर लोग अक्सर वैसा दिखना चाहते हैं जैसे वह कदाचित नहीं होते। इसलिए कहा जाता है कि प्रभावी छवि बनाने की सोशल मीडिया पर लगी होड़ में सब कुछ मस्नूई यानी कृत्रिम है। लोग फेसबुक अकॉउंट में या तो अपनी पिक ही नहीं लगाते और अगर लगाते भी हैं तो फिल्टर की हुई सुंदर पिक ताकि वो आकर्षक दिख सकें तथा औरों के अरमानों को जगाते हुए अपने तथाकथित संसार व जीवन का अंग बनने के लिए विविश कर सकें। दरअसल फेसबुक का संसार वह विचित्र संसार है जहां सब कुछ कृत्रिम है, झूठ है, फरेब है। प्रोफइल पिक भी, प्रेम भी, अपनापन भी,दोस्ती भी, तारीफ भी, दुःख भी, सुख भी, पीड़ा भी, हंसी भी, आंसू भी, निराशा भी, ग़म भी, मोहब्बत भी, इकरार भी, इनकार भी और स्नेह भी। यह एक ऐसा विचित्र संसार है जहां कोई किसी की परवाह नहीं करता। सब ढोंग करते हैं। सोशल मीडिया की इस दुनियां में कोई भी अपना नहीं है, बल्कि यहां कोई अपना हो भी नहीं सकता। झूठ के इस मंज़र–पसमंज़र में अम्बार लगे हैं छल के, कपट के व फरेब के। ताज्जुब है कि यहाँ सब लोग सभी की हकीकत जानते हुए भी फरेब की दुनियां में रहना चाहते हैंः

'यहां किसी से कोई सच्चा प्यार नहीं करता,
इज़हार तो करता है मगर ऐतबार नहीं करता।'

फेसबुक की भांति इंस्टाग्राम की दुनियां भी फिल्टर की गई तस्वीरों व वीडियो के लिए अधिक से अधिक लाइक बटोरने की लालसा भरी तिलिस्मी दुनियां है जहां आत्म प्रचार व स्वयं महिमा का बोलबाला है। इसके विपरीत ट्विटर पर अपने विचारों के लिए अधिक से अधिक लाइक जुटाने का प्रयास हावी रहता है। अगर देखा जाए तो वट्सएप किसी फेसबुक अथवा इंस्टाग्राम के दोषों से बहुत हद तक मुक्त है लेकिन उसका

भी एक विचित्र संसार है। बेशक वट्सएप पर सामने वाले व्यक्ति का फोन नंम्बर हमे मालूम होता है लेकिन यह आवश्यक नहीं कि हम उसे जानते ही हों। कई बार किसी का फोन नंम्बर किसी और व्यक्ति से भी प्राप्त कर लिया जाता है। ऐसे में यहां भी फिल्टर्ड प्रोफइल पिक्स देखने को मिलती हैं।वट्सएप के माध्यम से लिखित संचार, मौखिक अथवा शाब्दिक संचार, तस्वीरों के आदान प्रदान के अतिरिक्त वीडियो भेजने व प्राप्त करने की सुविधा भी प्राप्त होती है। लेकिन यहां दूसरे व्यक्ति को अपने इंद्रधनुषी शब्दजाल से भावुक करते हुए उसे ब्लैकमेल करने का प्रचलन पाया जाता है। यहां भी स्नेह, दोस्ती, प्रेम, प्यार, मोहब्बत इतियादी के नाम पर सफेद झूठ बोलकर भावनाओं को बहकाने का भृमजाल बिछाया जाता है। लच्छेदार भाषा में अपने 'प्रेम' का इजहार करते हुए मोहब्बत मांगने की बिसात बिछाई जाती है।भावुकता को कृत्रिम ख़लूस की आंच पर पिंघलने के लिए विविश किया जाता है।शब्दों के माध्यम से मोहब्बत की आड़ में शारीरिक खेल खेलने की चेष्टा की जाती है। भावनाओं के समंदर की लहरों के बहाव में बहता हुआ व्यक्ति अक्सर भृमित करने वाली नापाक मानसिक साजिशों का शिकार हो जाता है।भ्रांतियों को हकीकत मानते हुए वह अक्सर अपना हृदय खोल देता है।मोहब्बत के मायावी जाल में फंसकर मनुष्य अपने 'वट्सएप दोस्त' के वक इशारे पर अपना सब कुछ न्योछावर करने के लिये तैयार हो जाता है। ऐसी चैट के स्क्रीन शॉट लेकर अथवा मौखिक संदेश की रिकॉर्डिंग को एडिट कर चतुर लोग कई बार भोलेभाले लोगों को ब्लैकमेल भी करते हैं। लेकिन फिर भी लोग दिन प्रतिदिन भावनाओं के मकड़जाल में फंसते चले जाते हैंः

माना कि सोशल मीडिया मुकम्मल फरेब है,
लकिन फरेब खाने की आदत है क्या करूँ।

इस तरह आत्म प्रचार अथवा 'सेल्फ ग्लोरिफिकेशन' से प्रारंभ हुई सोशल मीडिया की लत अक्सर मनुष्य को एक ऐसे तिलिस्मी व विचित्र संसार में ले जाती है जहां से बाहर निकलने का उसे कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। सोशल मीडिया की चकाचौंध उसके जीवन को अंधकार में तब्दील कर देती है। बेशक सोशल मीडिया का अक्लमंद उपयोग मनुष्य को उपरोक्त दोषों से बचा सकता है लेकिन युवतियां अक्सर इसकी चुंगल में फस जाती हैं। यह चुंगल कई लोगों की गृहस्थी बसने नहीं देता तो कईओं के घर बर्बाद कर देता है। यहां यह समझना अनिवार्य है कि सोशल मीडिया एक मायाजाल है जिसमे सब कुछ तिलिस्मी व मायावी है। सब ज़ज़्बात व भावनाओं के पिटारे झूठ , फरेब तथा पाखंड हैं। सुंदर–आकर्षक दिखते चेहरों व लच्छेदार शब्दों की चाशनी से सावधान रहने में ही भलाई है क्योंकि सोशल मीडिया पर मोहब्बत के नाम पर खूंखार भेड़िये मिलते हैं।

स्मार्टफोन के माध्यम से समस्त विश्व मे अपना वर्चस्व कायम कर चुके सोशल मीडिया ने आज समाज के प्रत्येक वर्ग को अपनी जद में लेना

शुरू कर दिया है। सोशल मीडिया पर सक्रिय होने हेतु सोशल साइट्स पर व्यक्ति का अकाऊंट होना अनिवार्य है जिस के उपरांत वह किसी से भी संपर्क स्थापित कर सकने में सक्षम हो जाता है। याहू मेसेंजर व ऑरकुट का प्रचलन लुप्त होने के बाद फेसबुक, वट्सएप व इंस्टाग्राम युवाओं की पसंदीदा पसंद बन कर उभरे हैं। यह सत्य है कि सोशल मीडिया के माध्यम से विश्व में किसी से भी, किसी भी वक़्त व कितनी भी अवधि तक सम्पर्क स्थापित करना आसान हो गया है लेकिन निःसंदेह इस सामाजिक माध्यम ने मनुष्य को असामाजिक बना दिया है। उसका अपने आप से नाता टूट गया है। वह किसी ऐसे समाज का नागरिक बन गया है जिसका स्मार्टफोन के बाहर कोई अस्तित्व ही नहीं। लेकिन सोशल मीडिया पर पूर्णतः आश्रित मनुष्य इस मायावी दुनियाँ को ही अपनी दुनियाँ व जिन्दगी समझ लेता है। दूर दराज के क्षेत्रों में बैठे अज्ञात लोगों से संपर्क बनाने की होड़ में मनुष्य अपने परिजनों से ही दूर होता जा रहा है।दादी माँ की कहानियां अतीत के गर्भ में विलीन हो चुकी हैं। मनुष्य के पास अपने इर्द–गिर्द रहने वाले लोगों के लिए वक्त नहीं रहा जबकि वो अज्ञात लोगों के लिए हर वक़्त उपलब्ध रहता है। नतीजतन खेल कूद के मैदानों में सन्नाटा पसर रहा है। हाकी, कबड्डी, भारतोलन, रस्साकशी व कुश्ती जैसी खेलों के मुरीद रहे लोगों को अब लुड्डो, कैंडी क्रश, रम्मी व पब्जी जैसी खेलों में मज़ा आने लगा है। परिवार के सदस्य अब इकट्ठे नहीं बैठते। बल्कि उनके पास एक दूसरे के लिए वक्त ही नहीं रहा। सभी अपने अपने सोशल मीडिया दोस्तों के साथ 'बिजी' हैं। परिवार टूट कर बिखर रहे हैं। सात जन्मों के बंधन तलाक लेने हेतु अदालत के द्वार पर दस्तक दे रहे हैं।पति पत्नी में वफ़ादारी घट रही है। दोस्ती के बंधन कमजोर पड़ रहे हैं। मनुष्य भीड़ में भी अकेला हो गया है। यहां तक कि वह अपने आप से भी दूर हो गया है। जिधर देखो झूठ का बोल बाला है। फरेब उन्मुखी भावनाओं का प्रचलन बढ़ रहा है। सेल्फी क्लिक करने हेतु मार्किट में अत्यधिक गुणवत्ता व मेगा पिक्सल कैमरों से सुसर्जित स्मार्ट फोन मार्किट में सस्ते दाम पर उपलब्ध हो रहे हैं क्योंकि किसी के पास किसी और की फोटो खींचने की न तो फुर्सत है ना ही चेष्टा। स्वंय प्रचार व महिमागान चरमसीमा पर है।अपने ही फोटो क्लिक कर उन्हें फिल्टरों के माध्यम से आकर्षित बना शेयर करने की होड़ सी लगी हुई है। ऐसे में किसी भी फोटो के कम लाइक आने से मनुष्य व्याकुल हो जाता है। सोशल मीडिया यूज़र्स के वर्चुअल दोस्त तो हजारों में हैं लेकिन वास्तव में मित्र कोई नहीं। फिर भी लोगों में दिन प्रतिदिन सोशल मीडिया का रुझान बढ़ रहा है। ऐसा लगता है जैसे सभी कह रहे हों:

'पहले कुछ और थे अरमां मरीज–ए–ग़म के,
अब तो बस एक ही तमन्ना है कि आराम न हो।'

निष्कर्षः–

सोशल मीडिया ने जीवन यापन की अदा व परिभाषा ही बदल दी है। जिंदगी कृत्रिम व मस्नूई बन गई है। मनुष्य सोशल मीडिया का शुदाई हो गया है। उसकी दिनचर्या का ज्यादातर वक्त सोशल मीडिया की विभिन्न साइट्स पर अपने अकाउट को देखने तथा दूसरों की फीड पढनें–देखने में व्यतीत हो रहा है। निश्चय ही आधुनिक मनुष्य सोशल मीडिया की मायावी दुनियां का मुरीद बन चुका है। उसे सोशल मीडिया के बिना अपनी जिंदगी अधुरी तथा बेबुनियाद लगती है। यद्यपि सोशल मीडिया पर विभिन्न साइट्स उपलब्ध है लेकिन ज्यादातर लोग फेसबुक, व्हाटसएप, इंस्टाग्राम तथा ट्विटर पर अपना अधिक समय व्यतीत करते है। रात को सोने से पहले तथा सुबह जागते ही मनुष्य अपने स्मार्ट फोन पर आए हुए संदेशों को देखना व पढना पसंद करता है। उसके लिए परिवारजनों का महत्व दिनप्रतिदिन कम होता जा रहा है तथा उसे सोशल मीडिया का उपयोग करने से अधिक मानसिक सन्तुष्टि एवम् आंनद की अनुभूति होती है।

सन्दर्भ :

- Banaji, Shakuntala (2017). Children and Media in India. Routledge: New York.
- Bodnar, Kipp & Cohen, Jaffrey L. (2012). The B28 Social Media Book. John Wiley & Sons: San Francisco.
- McMahon, Ciaran (2019). The Psychology of Social Media. Routledge: New York.
- Osgerby, Bill (2020). Youth Culture and the Media. Routledge: New York.
- Sinha, Amber (2019). The Networked Public, Rupa Publications: New Delhi.
- Sponder, Marshall (2011). Social Media Analytics. McGraw Hill: New York.
- Venkatraman, Shriram (2017). Social Media in South India. UCL Press: London.
- https://www.marketing91.com/impact-of-social-media-on-youth
- https://www.turbfuture.com/internet/The-Positive-and-Negative-Effects-of-Facebook
- https://www.forbes.com/sites/alicegwalton/2017/06/30/a-run-down-of-social-media-effects-on-our-mental-health
- https://www.researchgate.net/publication/323903323-A-Study-On-Positive-and-Negative-Effects-of-Social-Media-on-Society

- https://www.simplilearn.com/real-impact-social-media-article
- https://www.tis.edu.in/blog/positive-and-negative-impact-of-social-media-on-education
- www.ukessays.com/essays/education/positive-effects-of-social-networking
- www.curatti.com/social-media-positive-effects

***

विकास नीति और नदी धाटी परियोजनाएः एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. सोनाली सिंह *

भारत में स्वतंत्रयोत्तर समग्र विकास की अपरिहार्यता सीमित संसाधनों के कारण एक गम्भीर चुनौती बन कर खड़ी होती हैं। संसाधन से तात्पर्य मानव के भौतिक पर्यावरण में मौजूद उन सभी वस्तुओं से है जिस पर वह अपनी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निर्भर होता हैं। भूमि, जल, वन आदि प्राकृतिक संसाधन (Natural Resources) इसमें सबसे महत्वपूर्ण हैं। जैसा कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्री विलियम जे0 बॉमाल कहते है कि प्राकृतिक संसाधन आर्थिक संवृद्धि के महत्वपूर्ण निर्धारक होते है 1 इसलिए देश के भौतिक विकास के साथ–साथ उत्पादक गतिविधियों हेतु ऊर्जा की तीव्र माँग और उपभोग का स्तर भी बढ़ता जाता है। स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं0 जवाहर लाल नेहरू के निर्देशन में दीर्ध कालीन ऊर्जा आयोजन और भविष्य के लिए ऊर्जा युक्ति पर सुझाव हेतु गठित, भारतीय ऊर्जा सर्वेक्षण समिति (1965), ईधन नीति समिति, ऊर्जा विषयक कार्यकारी दल आदि द्वारा, एकीकृत दीर्धकालीन ऊर्जा आयोजन की आवश्यकता पर जोर दिया जाता है। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से विशेषकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956–1961) से ही तीव्र औद्योगिकरण के आंधी ही चल पड़ती है जिसमे पर्यावरण की उपेक्षा करते हुए अन्य विकास को ही प्राथमिकता दी जाती है। नदी धाटी परियोजनाओं के माध्यम से बड़े–बड़े बाँधो के निर्माण की अनवरत श्रृंखला प्रारंभ कर दी जाती है। प्रधानमंत्री नेहरू द्वारा तत्कालीन विकासनीति के अंतर्गत बाँधो की अपरिहार्यता को देखते हुए इसे आधुनिक सभ्यता का मन्दिर कहकर इसे सामाजिक,आर्थिक एवं नैतिक सभी प्रकार का प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है।

भारत की ऊर्जा नीति जो प्रारम्भ में विकास नीति का ही मूल पर्याय होती है, का सबसे बड़ा आधार बनते है विभिन्न नदी धाटी परियोजाओ के तहत निर्मित होने वाले बड़े बड़े बाँध। भाखड़ा नांगल बाँध परियोजना, दामोदर धाटी परियोजना, हीराकुडं परियोजना और नर्मदा बाँध परियोजना टिहरी बाँध परियोजना आदि इसी विकास नीति के प्रतिफल है। स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद ही 1950 के दशक में एशिया के सबसे बड़े बाँध की आधारशिला रख दी जाती है। इसके पश्चात दामोदर धाटी परियोजना और हीराकुड़ परियोजना देश की सबसे महत्वकाँक्षी परियोजना बनकर उभरती है। विधुत उत्पादन और सिचाई व्यवस्था को लक्ष्य करते हुये 7 जुलाई 1948 को संवैधानिक एक्ट के तहत दामोदर धाटी बाँध परियोजना की शुरूआत

---

*

की गयी और 5 वर्ष के भीतर 1953 मे ही तिलैया मे दामोदर की एक सहायक नदी पर पहला बाँध बनकर तैयार हो गया। 1960 के दशक में संकल्पित सबसे बड़ी बाँध परियोजना नर्मदा धाटी विकास परियोजना विवादो के साथ अन्ततः 1980 के दशक में सामने आयी। इस बाँध परियोजना के तहत नर्मदा तथा उसकी सहायक नदियोपर 30 बड़े बाँधो, 135 मध्यम बाँधो तथा 3000 छोटे बाँधो के निर्माण की योजना बनायी गयी, जिसके परिणाम स्वरूप नर्मदा नदी पर 5 बड़े बाधों का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ जिसमें विश्व बैंक द्वारा अनुदानित सरदार सरोवा परियोजना गुजरात प्रान्त की सबसे बड़ी बहुउददेशीय परियोजना बनती है। भारत मे ऊचाई की दृष्टि से इस बाँध का तीसरा स्थान है। किन्तु इस परियोजना के डूब क्षेत्र के कारण व्यापक विनाश की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी है। हजारो एकड़ वन भूमि नष्ट हो चुकी है। लोगो का समुचित पुर्नवास न किये जाने के कारण सरकार के खिलाफ व्यापक जनाक्रोश व्याप्त है। आज इस मानवीय विनाश के विरूद्ध विभिन्न गैर सरकारी संगठनों के माध्यम से (नर्मदा धाटी के) अभिशप्त लोग लम्बे समय से आन्दोलन चला रहे है।

किन्तु आधुनिक सभ्यता के प्रतीक इन विशालकाय बाँधों का निर्माण पर्यावरण की कीमत पर किया जाता है। यह हमारी असन्तुलित विकास नीति का प्रतिफल बनता है। नेहरूवादी विकास नीति विस्फोटक रूप से बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु निरन्तर बनाये जा रहे बाँधो और पर्यावरण के मध्य सन्तुलन बनाने में निरन्तर अक्षम ही सिद्ध होती गयी। इन बाँधो से उत्पन्न होने वाली गम्भीर पर्यावरणीय समस्याओ की धोर उपेक्षा की गयी। प्रारम्भ में ऐसे विकास की कीमत कुछ क्षेत्र विशेष के निरीह लोगो को अकेले चुकानी पड़ी है। यह विकास उनके जीवन पर विनाश का कहर बनकर टूट पड़ा है। जंगलो एवं वन वृक्षों पर आश्रित उन आदिवासियों का जीवन बड़े बड़े जलाशयो में डूब गया। उनका समूचा सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन ही बर्बाद हो गया। अनगिनत लोग विस्थापित हो गये, हजारो एकड़ वन भूमि विनष्ट हो गयी जैव विविधता का विनाश हो गया है, किन्तु आज भी उन विस्थापितों का पुर्नवास नही हो सका है। लोग अपने मूलभूत मानवाधिकारो के लिए गुहार लगा रहे है, लेकिन सरकार आज भी बाँधो को विनाश का नही विकास का प्रतीक मान रही है। आज भी पूर्वोत्तर में बड़े बाँधो की योजना बनायी जा रही है। जब कि नर्मदा धाटी विकास परियोजना को विश्व सबसे बड़ी नियोजित बर्बादी के रूप उल्लिखित किया जा चुका है।3 आज अनेक गैर सरकारी संगठन इन बड़े बड़े विनाशक बाँधो के विरूद्ध आन्दोलन चला रहे हैं।

राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न गैर सरकारी संगठनो द्वारा बड़ी बाँध परियोजना के विरूद्ध आन्दोलन अनेक बिन्दुओ के आधार पर चलाया जा रहा है जो निम्नलिखित हैः–

(1) विभिन्न पर्यावरणीय समस्याओ के आधार पर

(2) सुरक्षा सम्बन्धी समस्याओ के आधार पर
(3) परियोजना की आर्थिक उपयोगिता के आधार पर और
(4) विस्थापित लोगो के पुर्नवास के आधार पर आदि।

बडे बाँधो से प्राकृतिक पारिस्थितिकीय तन्त्र के हजारो कि0मी0 वन एवं कृषि क्षेत्र के डूब जाने के कारण पारिस्थतिकीय असन्तुलन की विनाशक समस्या उत्पन्न हो गयी है। भारत की राष्ट्रीय धरोहर जैव– विविधता विनष्ट हो रही है। इटली के वेजन बाँध (1963) और महाराष्ट्र के कोयना बाँध (1967) के टूटने से क्षणभर में हजारो लोग काल कवलित हो गये। आज यही आशंका अन्य बाँधो के सम्बन्ध में भी पर्यावरणविदों द्वारा व्यक्त की जा रही है। इसी प्रकार आर्थिक उपादेयता की दृष्टि से भी इन विकास परियोजनाओ के कारण वृहद पैमाने पर वन क्षेत्र और कृषि की दृष्टि से उपजाऊ भूमि जलमग्न हो गयी जिसकी भरपायी कभी भी नही हो सकती है। यह एक अपूर्णनीय क्षति है। आज अकेले इन्दिरा सागर परियोजना से जहाँ 4 हजार करोड़ रूपये की क्षति की अनुमानित सम्भावना व्यक्त की जा रही है। वही पर सबसे बड़ी परियोजना सरदार सरोवा बाँध से तो 7 हजार करोड़ रूपये की अपूर्णनीय क्षति हो रही है।

बाँध परियोजना के कारण होने वाले महाविस्थापन की विभीषिका से आज समूचा नर्मदा धाटी 1950 से लगातार कराह रही है। लोगो की आज तक रहने के लिये परिपूर्ण रूप से एक छत भी नसीब नही हो सका है। वे जीवन के मूलभूत अधिकारों से भी वंचित कर दिये गये हैं। विस्थापित की भयावहता को निम्न रेखाचित्र के माध्यम से समझा जा सकता है।4

बाँध विस्थापित

क्रम	बाँध	विस्थापित परिवार
1.	दामोदर धाटी बाँध (1954)	4,000 परिवार आन्दोलनरत पुर्नवास हेतु
2.	इन्दिरा सागर बाँध	30739 परिवार
3.	ओकारेश्वर बाँध	50,000 छोटे किसान
4.	महेश्वर बाँध	35,000 (61 गाँव)
5.	सरदारी सरोवा बाँध	32,000 हेक्टेयर भूमि डूब क्षेत्र मे
6.	टिहरी डैम	85,000 व्यक्ति (23+72) गाँव
7.	भाखड़ा नांगल बाँध	अनुपलब्ध

उपरोक्त विनाशक बाँधो के कारण विस्थापित हो चुके परिवारो का समुचित ढंग से पुनर्वास की प्रक्रिया आज भी पूरी नही हो सकी है। ये विस्थापित परिवार संगठित होकर विभिन्न गैर सरकारी संगठनों के नेतृत्व मे वर्षो से आन्दोलन चला रहे है।

दोमोदर धाटी विस्थापित कल्याण संघ जैस गैर सरकारी संगठन उत्तर औपनिवेशिक भारत की पहली नदी धाटी परियोजना से विस्थापित लोगो के पुनर्वास हेतु आज भी आन्दोलन चला रहे है। विगत 57 वर्षो से

पुनर्वास की आस लगाये 4 हजार प्रभावित लोगो ने 27 फरवरी 2011 को आमरण अनशन पर जाने का फैसला किया। इस आन्दोलन में आन्दोलन कर रहे लोगो की दूसरी और तीसरी पीढ़ी भी शामिल हो रही है जो विस्थापित अवस्था मे ही पैदा और जवान हुये है। इसलिये आज दामोदर धाटी विस्थापित कल्याण संध के नेतृत्व मे निर्णायक लड़ाई लड़ी जा रही है। हीराकुण्ड नागरिक परिषद नामक गैर सरकारी संगठन का भी आन्दोलन आज जारी है। नदी धाटी परियोजनाये जिन लक्ष्यो को लेकर स्थापित की गयी थी उसके विपरीत आज कदम उठाया जा रहा है। इसीलिये इस गैर सरकारी संगठन द्वारा औधोगिक क्षेत्र को पानी बेचने और समुचित पुनवार्सन न करने के विरोध में राष्ट्रपति से मुलाकात कर अक्टूबर 2006 में बाँध के एक छोर से दूसरे छोर तक 20 किलोमीटर लम्बी मानव श्रखला बनाकर लोगो का ध्यान खीचा था। बाँध के मुददे पर ऐसे कई संधर्ष कई रूपो में और कई मामलो को लेकर चलाये जा रहे है। भाखड़ा बाँध विस्थापितो का आन्दोलन भी कई वर्षो से लम्बी लड़ाई लड़ रहा है। उन्हे झूठे वायदों का प्रलोभन देकर प्रबधंको द्वारा चुप कराया जा रहा है। यहाँ तक कि विस्थापित परिवारों को मुफत विधुत भी नही दी जा रही है। आज वे विभिन्न गैर सरकारी संगठनो के नेतृत्व मे भाखड़ा बाँध पर कब्जा करने की अंतिम रणनीति बना रहे है। उन्होने सरकार को चेतावनी भी दे डाली है कि अब विकास के नाम पर हमारा विनाश और नहीं हो सकता। इस आन्दोलन को अब राष्ट्रीय व अन्तराष्ट्रीय स्तर के गैर सरकारी संगठनो का समर्थन भी मिल रहा है।

नर्मदा धाटी विकास परियोजना के तहत विस्थापित हुये लाखो लोगो की दशा और भी पीड़ादायी है। 1960 के दशक मे प्रारम्भ होने वाली हजारो बाँधो वाली इस परियोजना से विस्थापित हुये लोगो को आन्दोलन करते हुए 25 साल बीत गये परन्तु उन्हे आज भी नर्मदा धाटी विवाद न्यायाधिकरण अर्वाड के बावजूद राहत और पुनर्वास की न्यूनतम सुविधा प्राप्त नही हो सकी है। इस सम्बन्ध मे अनेक न्यायिक निर्णयो के बावजूद परियोजनाकारो द्वारा भूमि उपलब्ध कराने की असमर्थता भी जतायी गयी। यहाँ तक कि 2003 और पुनः संशोधित रूप में 2007 मे बनाये गये पुनर्वास और पुनर्व्यवस्थान(आर एंड आर पालिशी – 2007) नीति के बावजूद विस्थापितो को आज भी समुचित न्याय नहीं प्राप्त हो पाया है। इसीलिए नर्मदा बचाओ आन्दोलन आज वैश्विक स्वरूप धारण कर चुका है।

नर्मदा बचाओ आन्दोलन (NBA) प्रारम्भ ही हुआ बाँध विरोधी व्यापक आन्दोलन (ANTI DAM MOVEMENT) के रूप में जिसका कुशल नेतृत्व किया मेधा पाटेकर, डा.बी.डी. शर्मा नगवे बाबा आम्टे अरून्धती राय आदि ने। 1989 मे मेधा पाटेकर के प्रभावी नेतृत्व मे नो बिग डैम के उददेश्य के साथ वैश्विक स्तर का एक आन्दोलन चलाया गया। इसने विभिन्न गैर सरकारी संगठनों द्वारा चलाये आन्दोलनो को और संगठित स्वरूप प्रदान किया। यह

बरगी बाँध विस्थापितो को न्याय दिलवाने मे सफल हुआ। आज यह आन्दोलन पूरी तरह विस्थापितो के समुचित पुर्नवास हेतु चलाया जा रहा है। नर्मदा बचाओ आन्दोलन को इस क्रान्तिकारी आन्दोलन की अवस्था में राष्ट्रीय अन्तराष्ट्रीय स्तर के गैर सरकारी संगठनों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है। वैश्विक स्तर के गैर सरकारी संगठन जैसे – आई.सी.यू.एन (जनेवा) आई.आर.एन (कैलिफोर्निया) इण्डिया एलर्ट (शिकागो) फ्रेंडस आफ दि अर्थ (1980) और फ्रेंडस आफ दी रीवर नर्मदा आदि मिलकर विश्व बैक जैसी अन्तराष्ट्रीय अनुदान देने वाली संस्थाओ को परियोजना से पीछे हटने हेतु विवश कर देते है। इसके साथ ही विभिन्न सर्वेक्षणो के माध्यम से परियोजनाओ की भयंकर त्रासदी को दुनिया के सामने उजागर करते है। इस प्रकार की विकास नीति (DEVELOPMENT POLICY) पर पूरी तरह प्रश्न चिन्ह लगाते है जिसके कारण 2 लाख से अधिक जिन्दगियाँ उजड़ गयी 243 गाँव डूब गये और 4,200 एकड़ बन भूमि विनष्ट हो गयी। इसी प्रकार उत्तराखंड के पहाड़ी क्षेत्र मे निर्मित होने वाली टिहरी बाँध परियोजना (1978) की भी यही सिथित है। क्यो कि यह एशिया का सबसे बड़ा और विश्व का चौथा सबसे बड़ा बाँध है। इसके जलाशय में 5 दिसम्बर 2001 से जल संग्रहण शुरू हो चुका है जिससे भयावह परिस्थितिकीय विनाश की आशंका उत्पन्न हो चुकी है। इसके विरोध में भी टिहरी बाँध विरोधी संधर्ष समिति (TBVSS) नामक एनजीओ द्वारा आन्दोलन चलाया जा रहा है।

प्रख्यात पर्यावरणविद एवं चिपको आन्दोलन के पुरोधा सुन्दर लाल बहुगुणा तथा अन्य लोगों द्वारा हिमालय और गंगा की रक्षा हेतु टिहरी बाँध के विरोध मे एक संधर्ष समिति बनायी गयी। प्रारम्भ मे जहाँ विरोध का स्वरूप केवल पुर्नवास को लेकर था वही पर सुरक्षा सम्बन्धी गम्भीर स्थित को देखते हुये यह और आक्रमक हो गया। एक बड़े कृत्रिम जलाशय के भर जाने के पश्चात वन एवं जैव विविधता का महा विनाश हो गया है। हजारो वनस्पतियाँ नष्ट हो गयी है। चट्टान निर्मित इस सबसे बडे बाँध का जलाशय भूकम्प अधिकेन्द्र क्षेत्र में स्थिति होने के कारण बाँध के अस्तित्व पर ही सवाल खड़ा हो गया। इस बाँध विरोधी समिति ने नवम्बर 1985 में संविधान के अनुच्छेछ 21 के जीवन जीने के मूलअधिकार के तहत न्यायालय में एक याचिका दायर की। आज पुर्नवास के नाम पर व्यापक भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया है। पर्यावरणविदों का यह अनुमान भी है कि भूकम्प आने की दशा में 42 वर्ग किमी क्षेत्र में फैले हुये इस टिहरी बाँध के टूटने पर यह एशिया की सबसे बड़ी दुर्धटना होगी। इटली का वेजन बाँध इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जिसके कारण देखते ही देखते लाखो लोग कालकवलित हो गये। यही सबसे भायवह पक्ष है इस नदी धाटी परियोजना का।

इस प्रकार उत्तर औपनिवेशिक भारत में नदी धाटी विकास परियोजनाओ के माध्यम से अपनायी गयी राष्ट्रीय विकास नीति विकास विरोधी ही नहीं अपितु महाविनाश का कारण भी सिद्ध होती है। यह पूरी

तरह असन्तुलित विकास नीति रही है जो वर्तमान पीढ़ी के साथ आगे आने वाली पीढ़ी के लिये भी त्रासदी पूर्ण परिवेश में जीने के लिये विवश कर रही है। आधुनिक सभ्यता के मंदिर कहे जाने वाले इन बड़े बाँधो के कारण, 60 वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी भारत की पहली नदी धाटी विकास परियोजना के विस्थापितो की नयी पीढ़ी को न्याय नहीं मिल पा रहा है। नर्मदा धाटी विवाद न्यायाधिकरण आवार्ड,पुर्नवास और पुर्नव्यर्वस्थापन नीति 2003, 2007, और सर्वोच्च न्यायालय का आदेश सब कुछ निरर्थक सिद्ध हो गया। यू0पी0 के अति पिछड़े जनपद सोनभद्र का उदाहरण ले तो जहाँ1960–70 के दश कमे औधोगिक विकास जहाँ बहुत तेजी से शुरू हुआ था, पं0 जवाहर लाल नेहरू के सपनो का स्वीटजरलैंड कहा जाने वाला यह जनपद आज प्रदूषणलैंड बन गया है।

इसलिए राष्ट्रीय विकास नीति की पुर्नसमीक्षा करते हुये पूर्णतया पर्यावरण के अनकूल सन्तुलित एवं समावेशी विकास नीति अपनाने की परम अपरिहार्यता है। 12वी पंचवर्षीय योजना के दृष्टिकोण पत्र में देर से ही सही त्वरित, सतत और समावेशी विकास नीति का लक्ष्य एक सार्थक सोच को प्रदर्शित कर रहा है। विकास के किसी वैकल्पिक माडल पर भी विभिन्न गैर सरकारी संगठनो के साथ मिलकर विचार करने की भी आज आवश्यकता है। साथ ही व्यैक्तिक स्तर पर भी अति उपभोक्तावादी पाश्चात्य मूल्यों की जगह हम सभी को स्वदेशी एवम् गाँधीवादी मूल्यों को अपनाना होगा क्योंकि प्रकृति मनुष्य की आवश्यकताओ को तो पूरा करने में सक्षम है किन्तु उसी लालसाआं को हरगिज नहीं। आज इन्ही मूल्यो से प्रेरित होकर यू0एन0ओ0 के महासचिव बान की मून ने विश्व को चेताया है कि अभी भी समय है, चेत जाएं कहीं ऐसा न हो कि वापसी के सारे रास्ते ही बन्द हो जाएं।

सन्दर्भ :

1. वॉमाल,जे.विलियम (1999), इकोनामिक डायनामिक्स (न्यूयार्क प्रकाशन) अध्याय–2
2. शर्मा, सुभाष (2009) हवाई पीपुल प्रोटेस्ट प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पृष्ठ नं–125।
3. गाडगिल, और गुहा, इकोलाजिकल कानफिलिक्टस एंड इनवायरमेन्ट मूवमेन्ट इन इण्डिया पेज 112।
4. दुबे, एम0सी0(कमिश्नर जबलपुर डिवीजन) रिपोर्ट, (28 फरवरी 1987)
5. दामोदर नदी नहीं संस्कृति व अजीविका (सेमिनार रिपोर्ट)2007
6. मैक्यूले, पैट्रिक सरदार सरोवर प्रोजेक्ट : एन ओवरव्यू (आई0आर0एन0एस0निदेशक) 25 मई 1994।
7. विस्थापित आवाम संघ (एन0जी0ओ0 रिपोर्ट) समीक्षा और अपेक्षा 26 अप्रैल 1996।

8. शर्मा, मुकुल, इकोनामिक एण्ड प्वालिटिकल वीकाली लेख 21 फरवरी 1999
9. पर्यावरण चेतना, हिन्दी मासिक पत्रिका (अंक–7)नवम्बर 2011 पृष्ठ 28–30
10. गुर्जर, राम कुमार, व जाट वी0सी0(2007) जल संसाधन भूगोल पृष्ठ 56–75

***

साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में स्त्री

डॉ. राम कृष्ण *

साठोत्तरी युग में हिन्दी उपन्यास चरम विकास की गति को प्राप्त करता दृष्टिगत होता है। इस कालखण्ड के उपन्यासों में स्त्रियाँ केन्द्र में रही हैं। पूर्ववर्ती उपन्यासों में पारम्परिक भारतीय नारी आदर्शमयता, समर्पणशीलता आदि गुणों से ओत–प्रोत थी। परन्तु साठोत्तेरी उपन्यासों की स्त्रियाँ बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता की भावना से युक्त विकासात्मक नवीन सोपानों को संस्पर्शित करती हुई, क्रान्तिकारी प्रमाणित हो रही है। पुरुष सत्तात्मक समाज को गंभीर चुनौती देती हुई, आज की शिक्षित एवं जागृत स्त्रियाँ केवल पारम्परिक प्रेम का राग नहीं अलापती बल्कि आधुनिक ज्वलंत समस्याओं पर चिंतन मनन करती हुई, विभिन्न क्षेत्रों में अपनी व्यापकता का परिचय दे रही हैं। नारी–जागरण से प्रभावित बौद्धिकता से सम्पन्न इन नारियों में पारम्परिक प्रेम अथवा पुरुषों के प्रति पूर्ण समर्पण, भाग्यवादिता आदि का पूर्णतः अभाव मिलता है। इनमें स्वाभिमान, वैयक्तिकता, स्वच्छंदता आदि अनेक गुण सहजतः निबद्ध हैं। वर्तमान युग के साहित्य का सम्पूर्ण ढाँचा सूत्र–चरित्र होने के कारण वैयक्तिकता एवं उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति जानने की रही है। फलस्वरूप साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में विश्लेषण, मार्मिकता एवं सौन्दर्यमयता का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक तीखेपन के साथ विवेचित है।

इस युग की नारी पात्र पुरुषों के समक्ष समानता के अधिकार हेतु संघर्षरत रहकर अपनी क्रियाशीलता से पितृसत्तात्मक समाज में उथल–पुथल और बेचैनी का बीज वपन करती हैं। आर्थिक स्वतंत्रता, आर्थिक आत्मनिर्भरता उन्मुक्त प्रेम और दैहिक शोषण के विरूद्ध मुखरित होकर अपनी सक्षम भूमिका निभा रही है। वे वित्तीय बाजारों में बेहिचक दिलचस्पी लेने लगीं है। अपनी चारित्रिक दृढ़ता, व्यक्तित्व की विराटता तथा आत्मविश्वास के कारण ही वे पुरुष सत्तात्मक समाज के लिए चुनौती प्रस्तुत कराने में समाज के लिए चुनौती प्रस्तुत करने में सक्षम होती जा रही हैं। स्त्रियाँ आर्थिक परतंत्रता को जीवन का अभिशाप मानती हैं।

पूंजीवादी समाज व्यवस्था और उसकी पारंपरिक नैतिकता, धार्मिकता एवं तज्जन्य जड़ नैतिक मान–मूल्यों का विरोध करते हुए साठोत्तरी युग की स्त्रियाँ समाज सापेक्ष और यथार्थ के नूतन मूल्यों का आह्वान करती हैं। वैवाहिक मान्यताओं, सतीत्व, प्रेम की एकनिष्ठता और पवित्रता, नारी की आदर्शवादिता और आचरण संहिता पर प्रहार करती हैं। उन्हीं विधि–विधानों

---

* एसो0 प्रोफे0, हिन्दी विभाग, पं0 दीनदयल उपाध्याय राजकीय बालिका, महाविद्यालय सेवापुरी वाराणसी (उ0प्र0)।

को प्रश्रय देती हैं, जिनका मूल अर्थगत है। आधुनिक स्त्रियों की नैतिक चेतना युगबोध पर आश्रित है और युग–जीवन की नई सरणियों में संचरण करती है।

शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त विकास कर लेने के कारण आधुनिक स्त्रियाँ ईश्वर के प्रति रूढ़िवादिता नहीं पालतीं। पारम्परिक मान्यताओं से पृथक उनकी दृष्टि में ईश्वर एक आइडिया भर है, तभी तो 'अपनी–अपनी यात्रा' उपन्यास में ईश्वर को कल्पित रूप में प्रस्तुत किया गया है। कथन द्रष्टव्य है – ''भगवान तो कुछ भी नहीं सुरेखा! एक आइडिया है, एक विचार जिसे हमने अपने देखे हुए सपने के हिसाब से एक शरीर, एक नाम दे दिया है। उसे रहने को एक मंदिर दे दिया है। मैं छलावों में किसी झूठी कल्पना और लोगों की बकवाास में विश्वास नहीं रखती हूँ।''[1]

वस्तुतः सभ्यता और संस्कृति के विकास के समानान्तर ही साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों के नारी–पात्रों का दृष्टिकोण विकसित होता नजर आता है। ज्यों–ज्यों स्त्रियाँ सभ्यता के स्तर पर विकसित होती गयी, ज्यों–ज्यों उसकी यथार्थवादी दृष्टि भी पैनी और खरी होती गयी। आधुनिक शिक्षित स्त्रियाँ प्रत्येक वस्तु से प्रामाणिकता की मांग करती है। उसकी दृष्टि में वही सत्य स्वीकार्य है जिसकी परीक्षा की जा सके। तात्पर्य यह है कि आज तर्क की प्रधानता है जो निश्चित ही मनुष्य जाति की बौद्धिकता की उपज है। आज का युग मनुष्य के बौद्धिक विकास का युग है। अंधविश्वास का युग अब नहीं रहा, अब तो तर्क की कसौटी पर कसकर ही कोई बात स्वीकृत की जाती है।

वैज्ञानिकता के कारण सामाजिक मूल्यों से सम्बद्ध चिंतन में अपार परिवर्तनशीलता दृष्टिगत होती है। भाग्यवादिता का जोरदार ढंग से खंडन करती हुई, राजी सेठ ने 'तत्सम्' उपन्यास में विधवा स्त्री के पुनर्विवाह का समर्थन किया है। जब वसुधा के पुनर्विवाह पर उसकी माँ भगवान की मर्जी की बात कहती है, तब वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाली वसुधा की भाभी अपनी सास से कहती है – भगवान मर्जी में अपनी मर्जी जोड़कर तुम उसकी जिन्दगी को क्यों हराम कर रही हो अम्मा .... जरा सोचकर तो देखों, किसी भी और मर जाय तो मशान में ही रिश्ते आने लग जाते है।''[2]

इस युग के उपन्यासों में बौद्धिकता और वैज्ञानिकता की प्रबलता दृष्टिगत होती है बुद्धिवादिता के कारण ही प्राचीन परम्पराएं ध्वस्त हो रही हैं तथा रूढ़ियों का उन्मूलन भी संभव हो सका है। विधवा विवाह संबंधी मान्यताओं में भी पर्याप्त उदारता देखने को मिल रही है। 'चांद अमावस का' उपन्यास का एक युवा अपनी प्रेमिका के विधवा हो जाने पर अत्यन्त दुखी होता है उसकी संवेदना इतनी धनीभूत होती है कि वह उस विधवा से पुर्नविवाह करने, अंतकाल तक इंतजार करने हेतु उद्यत हो जाता है। प्रेमिका के वैधव्य पर उसकी संवेदना एवं समर्पण भाव द्रष्टव्य है – ''वह अपने घर में सुख से रहती, तो मैं भी निश्चित होकर अपनी गृहस्थी बसा

लेता। अपने मन को पूरी तरह तैयार कर लिया था मैंने। पर अब यूँ तिल–तिल घुलते देखकर भी कैसे अनदेखा कर दूँ? कैसे भूल जाऊँ कि इनती बड़ी दुनिया के बीच वह एकदम अकेली पड़ गयी है।''[3]

शरीर और नैतिकता से जुड़े प्रश्नों पर खुलकर बहस करने की स्थिति में साठोत्तरी नारियाँ दृष्टिगत होती हैं। पुरुष सत्तात्मक समाज के समक्ष उनकी चुनौती निरंतर प्रस्तुत होती है – क्या स्त्री की देह पुरुष की निजी मिल्कियत है? देह की पवित्रता, मर्यादाशील और नैतिकता के लिए किसी भी स्थिति में क्या स्त्री ही जिम्मेदार है? डॉ0 राजेन्द्र यादव ने इन तथ्यों को रेखांकित किया है ''चरित्र और नैतिकता हमारे यहाँ वैसे ही दुनिया के किसी गैरकानूनी, अमानवीय, निकृष्ट और जघन्य कार्य से नहीं, लिंग प्रयोग से तय होते हैं। स्त्री व्यक्तित्व के बड़े से बड़े गुब्बारे को नैतिक स्खलन की छोटी सी सुई से फोड़कर ध्वस्त किया जा सकता है।''[4]

इस कालखंण्ड के उपन्यासों पर वैज्ञानिकता के कारण नैतिक और सामाजिक मूल्यों में पर्याप्त परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। इस परिवेश की स्त्रियों में आर्थिक स्वावलंबन एवं समझता के कारण नयी जागृति आ चुकी है। निरूपमा सेवती रचित 'दहकन के पार' उपन्यास में विवाह पूर्व यौन सम्बंधों से उत्पन्न समस्याओं को आकलित किया गया है। अविवाहित स्त्री तुषार की गर्भवती हो जाने पर समाज की रूढ़िवादी सोच पर कुठराघात करते हुए उपन्यासकार का यह कथन महत्वपूर्ण है कि – ''जहाँ कोई स्त्री माँ बने तो संसार उतनी बड़ी अनुभूति उससे छीने नहीं। वैवाहिक समझौतों का लेवल भर न होने से क्या किसी जीवंत सच को या कि सहज अस्तित्व से आए किसी जीवंत बच्चे को नाजायज कहा जा सकता है? इतनी बेतुकी बात। इतना ज्यादा वैज्ञानिक युग इतनी बड़ी अवैज्ञानिक बात।''[5]

आधुनिक स्त्रियाँ गृह की चहारदीवारी से निकलकर स्वच्छन्दाकाश की सुहानी सफर तय करने में सक्षम दृष्टिगत होती हैं। नूतन अनुकूल परिस्थितियों के कारण मर्यादा, आदर्श और जातीय–बंधन शिथिल पड़ गए हैं। विवाह–संबंधी मान्यताओं और यौन–नैतिकता संबंधी धारणाओं में आमूल परिवर्तन साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में द्रष्टव्य है। मनोनुकूल जीवन साथी के चयन में स्त्रियाँ प्रायः स्वच्छन्द रहना चाहती हैं। 'रुकोगी नहीं राधिका' मैं ऊषा प्रियंवदा का कथन प्रस्तुत है – ''मैं ऐसा संगी चाहती हूँ जिसमें स्थिरता हो, औदार्य हो, जो मेरे सारे अवगुणों सहित मुझे स्वीकार कर ले, मेरे अतीत को झेल ले''।[6]

वर्तमान परिदृश्य में नूतन–मान्यताओं के साथ हमारा जीवन द्रुतगति से प्रवहमान है। वैयक्तिक स्वातंत्र्य, मशीनीकरण, औद्योगिक सभ्यता आदि के प्रभाववश समस्त जनमानस प्रभावित प्रतीत होता है। साठोत्तरी युग की नारियों पर भी इनका प्रभाव पूर्णतः पड़ता है और पारम्परिक भावनात्मकता का लोप तथा अर्थ–केन्द्रित मान्यताओं के साथ–साथ भोगवादिता की प्रवृत्ति इनमें बढ़ती हुई परिलक्षित होती है। आत्म केन्द्रित नारियाँ समाज एवं

सामाजिक मान्यताओं की उपेक्षा कर अपनी स्वतंत्र अभिव्यक्ति प्रकट करती हैं। अपने शारीरिक–सौन्दर्य एवं गठन पर उन्हें पूर्णतः भरोसा है। आर्थिक–स्वतंत्रता के कारण उन्हें किसी की परवाह नहीं है। जरा–जरा सी बातों पर मत–मतान्तर आते ही, वे संबंध–विच्छेद और पति की उपेक्षा करने में नहीं हिचकतीं। प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में अग्रणी भूमिका अदा करने हेतु वे कृत–संकल्पित हैं। उनका संकल्प है– यह मेरा शरीर है, इनके बारे में फैसला करने का अधिकार भी मुझे ही होना चाहिए।

इस युग की प्राताड़ित स्त्री स्वयं को छिपाना नहीं चाहती। अपनी आवाज बुलंदी के साथ वह समाज, पुलिस स्टेशन, न्यायालय और ससंद तक पहुँचा रही है। सामाजिक लांछनाओं से वह भयभीत नहीं होती। अन्याय के विरूद्ध संघर्ष हेतु शंखनाद करने की अद्‌भुत क्षमता उसमें विकसित हो गयी है। कथन द्रष्टव्य है– ''मैं किसी की परवाह नहीं करती... मैं अपना काम ठीक से करती हूँ, मुझसे किसी को शिकायत नहीं है, फिर मेरे व्यक्तिगत–जीवन में किसी को दखल देने का क्या हक है।''[7]

पुरुषों के साथ मतान्तर आते ही वे अलग मार्ग चयन करने हेतु स्वच्छन्द बन गयी है। जीवन को सही अर्थों में जीने के लिए जीवन–साथी तक का परित्याग कर देने में वे चिंतित नहीं होतीं। उनकी मान्यता 'पारु ने कहा था', उपन्यास में स्पट है– ''जहाँ भी मनमुटाव का कारण उत्पन्न होता नजर आए उसे वहीं छोड़कर आगे बढ़ जाना चाहिए। जो जी लिया, सो जी लिया। जो छूट गया, सो छूट गया। प्रत्येक आने वाला पल महत्वपूर्ण है, प्रत्येक बीता हुआ पल अर्थहीन है। मुझे एकाएक जैसे सुख प्राप्ति का अमोघ अस्त्र हस्तगत हो गया। एक बार की असफलता मुझे दुबारा परम सफलता की कुंजी दिख रही थी।''[8]

'चिड़ियाघर' उपन्यास की मिसेज रिजवी अति आधुनिक होने के नाते मर्दों का सेपरेट क्यू चाहती है। वर्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की वकालत करती है... ''क्यों चौधरी! अगर मैं एक एक्सपेरीमेंट करुँ? चार शौहर रखूँ, जिनमें से एक होम देखे, दूसरा फारेन रिलेशन की देख–रेख करे। तीसरा प्रोटोकाल का ख्याल रखे और चौथा इण्टरटेन करे, तुम्हारा क्या ख्याल है?''[9]

आधुनिक परिवेश में कई स्त्रियाँ विवाह–बंधन में बंधना ही नहीं चाहती। एक पति से बंधकर अपना सर्वस्व लुटाना नहीं चाहतीं। अपने अधिकार, माँग और स्वतंत्रता के प्रति वे सजग है और विवाह–सम्बन्धी पारम्परिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह भी। जीवन–साथी कोई और चुने यह उन्हें स्वीकार नहीं है। माता–पिता से भी व्रिदोह करने में वे लज्जा का अनुभव नहीं करती। अपनी इच्छा के विरूद्ध धनवान अथवा बहुत बड़े पद पर आसीन पुरुष से भी शादी संबंधी प्रस्ताव को ठुकरा देती हैं और जो पुरुष सर्वतोभावेन समर्पित होकर उसे स्वीकार करें उसकी भावना की कद्र करे, उसके साथ बँधना श्रेयष्कर समझती है। 'नई इमारत' उपन्यास में

भारती अपने तीखे तेवर से परम्परित भावना को धराशायी कर देती है तथा पुलिस कप्तान से पिता द्वारा अपनी शादी की बात सुनकर वह स्वयं को रोक नहीं पाती और चुनौतीपूर्ण शब्दों में पिता के समक्ष अपना पक्ष प्रस्तुत करती हैं–''आप मेरे पिता हैं, मेरे दिली–जज्बातों पर रहम करें। मैं किसी सरकारी नौकर से शादी नहीं करूँगी। अगर शादी करनी है, तो महमूद के साथ वरना मुझे अपना रास्ता जाने दें, आप के क्या, संसार के रोके न रूकूँगी।''[10]

साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में विवाह के संबंध में परिवर्तित मान्यताओं का भी चित्रण हुआ है। विवाह के प्रति नारियों का दृष्टिकोण यौन–केन्द्रित है। यौन–तृप्ति के लिए अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, प्रेम–विवाह आदि को भी सामाजिक मान्यता मिलने लगती है। अन्तर्जातीय विवाह को समाज आज भी पूरी तरह स्वीकार नहीं सका है परन्तु उपन्यासों में चित्रित चरित्रों के अवलोकनोपरान्त यह निष्कर्षित होता है कि साहसी प्रेमी–युगलों के लिए जाति अथवा धर्म की संकीर्णताएँ कदापि बाधक नहीं होती। शालिनी अपने मित्र वसुधा से अपनी मान्यता इन शब्दों में व्यक्त करती है– ''प्यार की कोई जाति नहीं होती बसुधा। कोई धर्म नहीं होता, सामाजिकता को लेकर चलने वाला प्यार समझौता होता है।''[11]

अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करना पारम्परिक भारतीय विशेषताएँ रहीं हैं परन्तु परिवर्तित मान्यताओं का समर्थन हिन्दी उपन्यासों में दृष्टिगत होता है– 'अंधेरे बंद कमरे' की ठकुराइन अपनी लड़की की शादी के संबंध में चर्चा करती हुई कहती है– '' मुझे जाति–पांति का कोई विचार नहीं। यह विचार अब रहे ही कहाँ?''[12]

ममता कालिया रचित उपन्यास 'बेघर' में भी कामवृत्ति का चित्र खुलापन के साथ उभरा है। काम की तृप्ति नहीं होने पर स्त्रियाँ निःसंकोच अपने भावों की अभिव्यक्ति करती है। काम–भावना की असंतुष्टि नारी को क्षुब्ध और विचलित कर देती है। कृष्णा सोबती रचित 'मित्रो–मरजानी' उपन्यास में अनेक स्थलों पर यौन अतृप्ति की अभिव्यंजना हुई है।

साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में उन्मुक्त प्रेम और प्रखर तेवर के अनेक उदाहरण दृष्टिगत होते हैं। कदम–कदम पर परम्परागत नैतिकता और आदर्श के प्रति विद्रोहात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति बहुतायत से मिलती है जिसका सशक्त उदाहरण कृष्णा सोबती के उपन्यास 'दिलो–दानिश', 'सुरजमुखी अंधेरे में' 'ऐ लड़की', 'समय सरगम' और 'जिंदगीनामा' में देखने को मिलती है।

मन्नु भंडारी कृत उपन्यास 'आपका बंटी' का बंटी अपनी मां और डॉक्टर साहब के बीच शारीरिक संबंध के बारे में कहता है–''फिर बोर्ड पर बनी बोतल एकाएक डॉक्टर साहब के टाँगों के बीच आकर उलट गयी, छीः छीः फिर वही सब बातें।''[13]

शनैः शनैः पुरुषों के प्रति विरोध की भावना नारियों में जागृत होने लगती है और उनकी अभिव्यक्ति पूर्णतः चुनौतीपूर्ण बन जाती है। परिवर्तित परिदृष्य में स्त्रियाँ केवल प्रश्न पूछने में ही नहीं अपितु प्रत्युत्तर देने में भी सिद्धहस्त प्रतीत होती हैं। प्रत्येक क्षेत्र में उनकी अग्रणी भूमिका प्रमाणित होने लगी है।

नारियाँ वैवाहिक–बंधन में सुख के साथ जीवन–निर्वाह हेतु बंधती हैं। वैवाहिक सूत्र में बंधे स्त्री–पुरुष के लिए यह आवश्यक होता है कि वे आपसी सहमति और सहयोग से जीवन की गति को आगे बढ़ाएँ। परिस्थिति अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल प्रत्येक स्थिति में उनमें समरसता दृष्टिगत होनी चाहिए। मृदुला गर्ग ने इस आशय की अभिव्यक्ति अपने उपन्यास 'उसके हिस्से की धूप' में रेखांकित की है।

विवाह–बन्धन की अस्वीकृति और अविवाहित रहने की प्रवृत्ति स्त्रियों में निरंतर व्याप्त होने लगती है। उनके मन मस्तिष्क में यह तथ्य बार–बार अनुगूंजित होता है– ''जीवन में बहुत महत्वपूर्ण काम है, सिर्फ विवाह ही नहीं और देशों में देखिए–बिना शादी किए ही औरतें कैसे मजे में रहतीहै।''[14]

पतिव्रता धर्म का मुख्य समाप्त प्राय प्रतीत होता है। एक नारी अनेक पुरुषों के साथ यौन–तृप्ति करने में क्रियाशील दृष्टिगत होती है। विवाह पूर्व और विवाहोपरान्त पुरुषों के साथ शारीरिक संबंध बनाना और समाज में उसकी अभिव्यक्ति देना, साठोत्तरी युगीन स्त्रियों का साहसिक कदम है। उनकी अभिव्यक्ति है– ''आठों पहर एक साथ जीकर, जीवन से जूझने के लिए मनीष की आवश्यकता नहीं। उसके लिए कोई भी पुरुष काफी हो सकता है।''[15]

विवाह–सम्बन्धी प्राचीन मान्यताएँ शीशमहल की तरह ध्वस्त हो जाती हैं और साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में स्त्रियों की अभिव्यक्ति नित–नूतन अत्याधुनिक विचार–धाराओं को जन्म देती प्रतीत होती हैं। साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में स्त्रियाँ धुम्रपान से भी परहेज नहीं करती। इनमें यौन तृप्ति से सम्बद्ध चित्रण का प्राबल्य दृष्टिगत होता है। प्रेम, वासनावृत्ति और वेश्यावृत्ति की अनुगूँज इन रचनाओं में अभिव्यंजित है। साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में एकनिष्ठ प्रेम की महत्ता तिरोहित हो गयी है। पाश्चात्य देशों की भांति विवाहित अथवा अविवाहित पुरुष भी शर्म, लज्जा, झिझक आदि को त्याग कर शारीरिक–भूख मिटाने के लिए तरह–तरह के नवीन प्रयोगों में संलिप्त दृष्टिगत होते हैं। अवैध–संबंध नाम की कोई चीज रह ही नहीं जाती।

इस प्रकार साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में विवेकशील और विकासशील स्त्रियों की सबलता का अनूठा चित्रण हुआ है। वैधव्य जीवन को रो–धोकर, नारकीय बनाकर साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों की नारियाँ नहीं जीना चाहती, अपितु अदम्य साहस के साथ प्रतिकूल परिस्थितियों से सामना करने हेतु पूरी तरह तैयार दृष्टिगत होती है।

निःसन्हेद साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में वर्णित स्त्रियों के व्यक्तित्व में पर्याप्त परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं तथापि कुछ और अधिक प्रतिमूलक लेखनी चलाने की आश्वयकता शेष रह जाती है। युगों से पुयष के शिकंजे में जकड़ी स्त्रियों को व्यवहारिकता के धरातल पर मुक्ति दिलाने हेतु किया गया प्रयास

पर्याप्त प्रतीत नहीं होता। इसी मुक्ति की संदेश वाहिका बनकर महाश्वेता देवी, गगनगिल, चित्रा मुद्गल, मन्नु भण्डारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, ऊषा प्रियंवदा आदि लेखिकाओं ने तथा अनेक पुरुष उपन्यासकारों ने अपनी औपन्यासिक कृतियों के माध्यम से निरंतर जागरूकता लाने की दिशा में प्रयासरत है। इन्हीं प्रयासों के कारण आज पुरुषवर्ग शिक्षित एवं कामकाजी महिलाओं को स्वीकार करने हेतु लालायित दृष्टिगत होते हैं। अज्ञेय जी ने शेखर के माध्यम से प्रेम को एक वेगवान नदी के रूप में निरुपित किया है। उन्होंने निःस्वार्थ और एकनिष्ठ–प्रेम पर सर्वाधिक बल दिया है। यौन–भावना को जीवन के लिए सहज, स्वाभाविक एवं आवश्यक शक्तिशाली मूलभूत प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने मानव–जीवन में यौन–भावना की सत्ता को शाश्वत मानते हुए यह निरुपित किया है कि वासना नश्वर है और प्रेम अमर।

साठोत्तरी युग के उपन्यासकारों के लिए सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वे आधुनिक संदर्भ में नारी–स्वतंत्रता, यौन–सम्बन्ध आदि का चित्रण अवश्य करे। स्त्रियों के लिए आत्म–निर्भरता और व्यापकत्व का संदेश अवश्य दे परन्तु भारतीय मानदण्डों को धूमिल न कर स्वस्थ और अनुकरणीय दिशा की ओर भावी पीढ़ियों को ले चलने का गुरुत्तर दायित्व भी अवश्य निभाएँ। नारी स्वतंत्रता सीमाहीन होकर स्वयं नारियों के लिए ही पीड़ादायक न बन जाएँ, इस पक्ष पर भी पुनः पुनः विचार करना साठोत्तरी युग के उपन्यासकारों के लिए करणीय प्रतीत होता है।

संदर्भ :

1. कुसुम अंसल : अपनी–अपनी यात्रा, पृ0 40
2. राजी सेठ : तबूजम, पृ0 25
3. मालती जोशी : चांद अमावस का, पृ0 52
4. राजेन्द्र यादवः हंस पत्रिका–सितम्बर अंक 1995, पृ0 6
5. निरुपमा सेवती, दहकन के पार, पृ0 78
6. उषा प्रियंवदा : रूकोगी नहीं राधिका, पृ0 99
7. उषा प्रियंवदा : पचपन खंभे : लाल दीवारें, पृ0 27
8. मणिका मोहनी : पारु ने कहा था, पृ0 50
9. गिरिराज किशोर : चिड़ियाघर, पृ0 103
10. रामेश्वर शुक्ल, अंचल : नयी इमारत, पृ0 78
11. डॉ0 देवेश ठाकुर : अंततः पृ0 144
12. मोहन राकेश : अंधेरे बंद कमरे, पृ0 316
13. मन्नू भण्डारीः आपका बंटी, पृ0 137
14. उषा प्रियंबदा : पचपन खंभे, लाल दीवारें, पृ0 101
15. मंजुल भगत–टूटा हुआ इन्द्रधनुष, पृ0 19

***

जनहितवाद

*डॉ. स्मिता पाण्डेय**

विपन्न और असहाय लोगों से जुड़े अधिकारों की सुरक्षा एवं उन्हें सस्ता और सुलभ न्याय प्राप्त कराने की चिं ता न्यायपालिका की चिंतन एवं प्रयास का महत्वपूर्ण केन्द्रीय विषय रहा है। यह सर्वविदित है कि लोकतंत्र में लोगों के सामाजिक , आर्थिक, राजनीतिक उन्नयन के लिए राज्य की सकारात्मक भूमिका की अनिवार्य ता होती है। दस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सरकारें नीतियों एवं विधियों का निर्माण करती है, जिनके क्रियान्वयन की जिम्मेदारी भी उन्हीं पर हो ती है कि वे तटस्थ भाव से नितियों की क्रियान्वयन इस प्रकार करें कि समस्त को उनका लाभ प्राप्त हो सके, किन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि राजकीय संस्थायें या तो अपने कार्य के प्रति निष्पक्ष नहीं रह पाती या तो उनमें द्वारा नीतियों के क्रियान्वयन में ही इस तरह की त्रु टियां रह जाती हैं कि उन नीतियों का लाभ समाज के दबे–कु चले, असहाय और विपन्न वर्ग को नहीं मिल पाता है, जबकि लोकतंत्र में सरकार का इन दबे, कुचले एवं विपन्न वर्ग के लोगों के हित संवर्द्धन के प्रति भी उत्तरदायित्व बनता है। न्यायपालिका का यह सदैव प्रयास रहता है कि जन सामान्य के प्रति राज्य के दायित्व की सु निश्चितता स्थापित की जा सके और जन सामान्य को सस्ता एवं सुलभ न्याय प्राप्त कराया जा सके।

किन्तु, उपरोक्त के बावजूद भी यह सर्वविदित है कि न्याय की परम्परागत प्रक्रिया इतनी जटिल, महंगी और कष्ट साध्य है कि न्याय केवल कुछ लोगों के स्वार्थ सिद्धि तक ही सीमित रह जाता है औ र समाज के विपन्न लोग न्याय से वंचित रह जाते हैं। जन सामान्य के ऐसे ही विपन्न वर्ग के लोगों को न्याय सु लभ कराना तथा उनके अधिकारों की संरक्षा एवं सुरक्षा के प्रति राज्य की जवाबदेही सु निश्चित करना ही आधुनिक उदार लोकतंत्र का एक प्रमुख पक्ष है तथा जनहितवाद (Public Interest Litigation) का प्रमुख आधार बिन्दु है। जनहित वाद की अवधारणा मूलतः संयु क्त राज्य अमेरिका की देन है। भारत वर्ष में इसकी स्थापना अपेक्षाकृत काफी नवीन है औ र उसके ऊपर अमेरिकी न्यायपालिका के आदर्शों, सों च और कार्य विधि को गहरी छाप दिखाई देती है। भारत वर्ष में जनहित की अवधारणों, प्रक्रियाओं तथा इसके अन्तर्गत पीड़ित पक्ष को सहायता आदि का निर्धारण माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया गया है। इनके निर्मा ण एवं विकास की प्रक्रिया आज भी जारी है। यद्यपि ये विवादों से परे नहीं है यहां

* असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, पं. दी.द. उ.रा.म.पी.जी.कॉ., राजाजीपुरम्, लखनऊ उ०प्र०

तक कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों के बीच इस संदर्भ में मतभेद दिखाई देते हैं।

अमेरिकी परिदृश्य से भिन्न भारत वर्ष में P.I.L. (Public interest litigation) के संदर्भ में कुछ भिन्न तथ्य ही सामने आते हैं। यहां सर्वोच्च न्यायालय के कुछ न्यायधीशों द्वारा पहल करके जनहित वाद (P.I.L.) सम्बन्धी मामलों को संज्ञान में लेने के उदाहरण मिलते हैं। इसकी विचारधारा एवं विषय वस्तु को समय के साथ–साथ न्यायधीशों ने विकसित किया है, फिर भी ऐसा नहीं है कि सर्वो च्च न्यायालय के सभी न्यायाधीश इससे प्रभावित हो या इसके प्रति प्रतिबद्ध भी हो।

ज्ञातव्य हो कि पी0आई0एल0 के अधिकांश मामलों में समस्याओं को समाचार पत्र से संज्ञान में लिया जाता है। याची इस मामले में न्यायालय को कुछ विशेष सहयोग नहीं कर पाता है। P.I.L. के सं दर्भ में जो कुछ पहल की जाती है वह भी स्वयंसेवी संगठनों अथवा कुछ जनहित कार्य में रुचि रखने वाले पत्रकारों एवं उत्साही नौ जवान अधिवक्ताओं के द्वारा की जाती है। पी0आई0एल0 के सम्बन्ध में भारत में सर्वो च्च और उच्च न्यायालयों में जनहित सम्बन्धी मामलों को 'पत्र' के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है, जो उस पत्र को ही याचिका मानकर विवाद की सु नवाई प्रारम्भ करते हैं। भारत वर्ष में पी0आई0एल0 का क्षेत्र धीरे–धीरे विस्तारित होता जा रहा है। इसका प्रयोग सामान्तया कारागार में निरुद्ध विचाराधीन कैदियों की समस्याओं से मुक्ति दिलाने , नारी सं रक्षण ग्र ह की दशा सु धारने, नारी व्यापार निषेध औ र उनको पीड़ा से मुक्ति दिलाने , बंधुआ मजदूरों की मुक्ति अन्य श्रमिक कानूनों को लागू करनें, लाइसेंस धारक, निक्शा चालकों को रिक्शा उपलब्ध कराने, लॉकअप में पुलिस अभिरक्षा में महिला कैदियों पर होने वाली हिंसा को रोकने तथा वातावरण संरक्षण आदि के लिए किया जाता है। इस प्रकार अनिवार्य रूप से पी0आई0एल0 का प्रयोग उन क्षेत्रों में किया जाता है जहां कानून अर्थहीन औ र निष्प्रभावी पड़ने लगते हैं। भारत वर्ष कुछ नये क्षेत्रों में भी इसका विस्तार हुआ है जिसमें वातावरण संरक्षण एक प्रमुख मामला है। न्यायालय ने नवीन परिप्रे क्ष्य में लोकहित को ध्यान में रखते हुये अपने निर्णय के माध्यम से यह सु स्थापित कर दिया है कि अनु च्छेद–32 के अधीन कोई संस्था, लोकहित से प्रेरित कोई नागरिक किसी ऐसे व्यक्ति के संवैधानिक या विधिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए याचिका दायर कर समता है जो निर्धनता, अशिक्षा या किसी अन्य कारण से न्यायालय तक प्रक्रियान्तर्ग त पहुंच पाने में अक्षम है।

जनहितवाद सम्बन्धी याचिकाओं को स्वीकृति प्रदान करने के उदारवादी दृष्टिकोण ने जनता में नवीन आशा का तीव्रगामी संचार किया है। अब आम लोगों को यह लगने लगा है कि जनता के अधिकारों का संरक्षण न्यायपालिका द्वारा ही प्रभावपूर्ण तरीके से किया जा सकता है, लेकिन जहां जनहितवाद की अवधारणा ने न्याय को आम आदमी के लिए सुगम, सस्ता

और सुलभ बना दिया। वहीं दूसरी ओर नवीन दृष्प्रवृत्तियो ं को भी पनपने का मौका मिला है। सर्वोच्च न्यायालय में पी0आई0एल0 की बाढ़ सी आ गयी है। इनमें कुछ मामले तो लोकहित से सम्बन्धित रहें , किन्तु बहुत सी ऐसी याचिकायें भी दाखिल की गयीं जिसमें लोकहित की अवधारणा में व्यक्तिगत हित सिद्धि के कलुषित प्रयास निहित दिखाई पड़े। जहां तक पी0आई0एल0 के दुरुपयोग का प्रश्न है जनतादल बनाम एस0सी0 चौधरी का वाद इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। जनहित वाद से सम्बन्धित जिस नवीन उदारवादी दृष्टिकोण का न्यायालय ने परिचय दिया, उसकी विशेषताओं का कुछ बिन्दुओं के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है :–

1. लोकस स्टैण्डी सम्बन्धी नियम को उदार बनाया जाना।
2. पत्र को याचिका के रूप में स्वीकार किया जाना।
3. प्रकरण की सु नवाई में न्यायधीश द्वारा सु ओमोटो Suo-Moto दृष्टिकोण को प्रस्थापित करने का प्रयास किया जाना।
4. न्याय की नॉन एडवर्सेरियल (Non-Adversarial) प्रक्रिया को अपनाया जाना।

वर्तमान समय में जनहितवाद की अवधारणा न्यायपालिका की न्यायिक सक्रियता से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई अवधारणा बन चुकी है। सक्रियतावाद (Judicial Activism) न्यायपालिका के निर्णयों को नये आधार एवं नये क्षेत्र प्रस्तुत करता है। अपने इस कार्य में न्यायधीश व्यवस्थापिका द्वारा विधियों औ र संविधान की स्थापना के पीछे निहित उद्देश्यों के मध्य रिक्त स्थानों को भरने का कार्य करते हैं तथा देश में न्यायपालिका के महत्व एवं संविधान की सर्वोच्चता स्थापित करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

इतिहास साक्षी है कि हमारे भारत वर्ष में देश के सर्वो च्च न्यायालय ने कार्य पालिका के विरुद्ध अत्याचारी विधान के विरुद्ध औ र विधान मण्डल के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की है। जब कभी विधान मण्डल ने व्यक्ति के विरुद्ध या न्याय के विरुद्ध अपने विशेषाधिकारों पर अत्यधिक बल दिया, सर्वो च्च न्यायालय ने उस पर रोक लगाकर अपने क्षमता का परिचय दिया है।

वस्तुतः सक्रिय न्यायपालिका कार्य पालिका की दृष्टिहीन और कर्तव्य के प्रति उपेक्षित, पीड़ित भारतीय जनता के प्रति अब ज्यादा संवेदनशील दृष्टिकोण अपना रही है। न्यायपालिका को आभास हो रहा है कि लोकतंत्र में आम गरीब, जनता सरकार से अपने आपको उपेक्षित महसूस कर रही है तथा जनता की समस्याओ ं का निदान करते हुए न्याय प्रदान करना न्यायपालिका का प्रथम कर्तव्य है। यही कारण है कि अब जब भी जनहित पी0आई0एल0 का कोई भी मामला उसके समक्ष उपस्थित होता है तो वह उस पर कार्य वाही करने से नहीं चूकती है। यद्यपि न्यायपालिका की यह सक्रियता इसके आलोचकों द्वारा कार्य पालिका के कार्यो ं में

हस्तक्षेप मानी जा रही है, लेकिन इस सन्दर्भ में सर्वो च्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायधीश न्यायमूर्ति जे0एस0 वर्मा का कहना है कि,

"हम तो केवल कार्य पालिका से कार्य करवा रहे हैं, हम उनकी भूमिका में दखल नहीं दे रहे हैं।"

जनहितवाद ने जहां एक तरफ समाज के वंचित वर्गों को न्याय दिलाने का महत्वपूर्ण मार्ग प्रशस्त किया है, वहीं दूसरी तरफ इसे सक्रिय करके शासन, प्रशासन तथा समाज के सामाजिक, आर्थि क एवं राजनैतिक क्षेत्रों में उत्पन्न अनियमितताओं एवं भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने में भी सक्षम बनाया। इस प्रकार जनहित वाद किसी भी देश की न्यायिक व्यवस्था में एक स्वर्णिम परिकल्पना है, जिसका व्यवहारिक क्रियान्वयन न्याय को आदर्श रूप प्रदान करता है तथा उसे देश के जनोन्नायक के रूप में स्थापित करता है।

संदर्भ :

1. बक्शी, उपकेन्द्र "टेकिंग सफरिंग सीरियसली : सोशल एक्शन लीटिगेशन इन दी सु प्रीम कोर्ट ऑफ इण्डिया, दिल्ली लॉ रिव्यू " (1978–80) पृष्ठ–91 (104–116)
2. अग्र वाल, एस0के0, पब्लिक इन्टरेस्ट लीटिगेशन : अक्रिटिक, दी इण्डियन लॉ इन्स्टीट्यूट, बाम्बे (1985) पृष्ठ : 6–7
3. एस0पी0 गु प्ता बनाम यूनियन ऑफ इंडिया, ए0आई0आर0 1982 एस0सी0, पृष्ठ सं0–1949
4. जनता दल बनाम एस0सी0 चौधरी (1992) एस0सी0सी0 305
5. अब्राहम, जे0 हेनरी, नं0–10 पृष्ठ–14
6. इंडिया टुडे , 15 मार्च 1966 पृष्ठ–44 न्यायमूर्ति जे0एस0 वर्मा के साक्षात्कार का एक अंश है।

***

कनिष्क प्रथम युगीन जैन धर्म तथा कला

अशोक कुमार यादव *
डॉ. स्वस्तिक सिंह **

बौद्ध धर्म के व्यापक प्रचलन के बावजूद जैन धर्म में लोगों की आस्था को कनिष्क के शासन के अनेक अभिलेख व्यक्त करते हैं। ऐसा कोई भी संकेत इन अभिलेखों में नहीं मिलता है कि राज्य ने प्रत्यक्ष रूप से उस धर्म को संरक्षण दिया था। अधिक सीमा तक राजनीति के अभिन्न अंगों, व्यापारियों और औद्योगिक वर्ग जो राज्य के प्रमुख वित्तीय स्रोत थे, पर राज्य निर्भर करता था। इस वर्ग ने जैन धर्म को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार राज्य के हित में जैन धर्म के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित की गई थी। मथुरा से प्राप्त बहुसंख्यक जैन अभिलेख कनिष्क की ओर से जैन धर्म के प्रति विरोध को नकारते हैं। उपलब्ध साक्ष्यों से विदित होता है कि मथुरा और उसके आस–पास के क्षेत्र जैन धर्म का प्रमुख गढ़ था। यह बौद्ध धर्म की अपेक्षा कम नहीं था। फिर भी कनिष्क के सिक्कों पर बुद्ध तथा ब्राह्मण देवताओं की भाँति जैन देवताओं का प्रदर्शन न करना खटकता है। इसकी व्याख्या करना कठिन है।

द्वितीय शताब्दी ई०पू० के मध्य से लेकर कुषाण काल तक के बहुसंख्यक लेखों से विदित होता है कि जैन समुदाय मथुरा में मजबूती से स्थापित हो गया था। यह पवित्र जैन उपासकों पर निर्भर था। इन उपासकों ने मथुरा में महावीर तथा पूर्व के तीर्थंकरों[1] की तथा जैन मन्दिरों में उपासना में महान उत्साह प्रदर्शित किया। श्वेताम्बर जैनियों ने स्त्रियों को जैन संघ में प्रवेश की अनुमति दी थी। मथुरा अभिलेखों में स्त्री–उपासिकाओं के लगातार उल्लेख मिलते हैं।[2]

यह उल्लेखनीय है कि मथुरा नगर के व्यापालिक वर्ग ने उपहारों और दानों द्वारा जैन धर्म को अधिक सीमा तक सहयोग तथा समर्थन दिया था। मथुरा से प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि श्रेष्ठिनों तथा सार्थवाहों के द्वारा श्रवण धर्म की बृद्धि के लिए उपहार दिए गए थे।[3] वर्ष 15 के जैन अभिलेख में श्रेष्ठिन की पत्नी कुमारमित्रा ने भगवत की चतुर्मुखी प्रतिमा का उत्सर्ग किया था।[4] मथुरा से प्राप्त लेखों से स्पष्ट होता है कि जैन धर्म को प्रोत्साहन और समर्थन कलाकारों, शिल्पियों, व्यापारियों, सार्थवाहों तथा श्रेष्ठियों के उपहारों, दानो तथा उत्सर्ग या समर्पण द्वारा किया गया था।

---

* शोधछात्र, प्राचीन इतिहास, गाँधी शताब्दी स्मारक पी० जी० कालेज, कोयसला, आजमगढ़
** अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, गाँधी शताब्दी स्मारक पी० जी० कालेज, कोयसला, आजमगढ़

मथुरा से प्राप्त अभिलेखों से प्रकट होता है कि जैन धर्म ने मुख्यतः धनी व्यापारियों के एक वर्ग को प्रभावित किया था। यह विश्वास किया जाता है कि जैन धर्म ने अपने अनुयायियों को युद्ध करने तथा यहाँ तक कि कृषि करने का निषेध किया था क्योंकि दोनों से प्राणियों की हत्या होती है। अन्ततः जैनी मुख्यतः अपने को व्यापारिक गतिबिधियों तक सीमित रखे। यद्यपि जैन धर्म ने उतना राजकीय समर्थन प्राप्त नहीं किया, जितना कि बौद्ध धर्म ने प्राप्त किया था तथा प्रारम्भिक काल में इसका तीव्र प्रसार नहीं हुआ था। उपलब्ध लेखों में दानी अधिकारियों के नाम नहीं मिलते हैं, परन्तु उनमें धनाड्य सौदागरों के परिवार की अनेक स्त्रियों के नाम मिलते हैं।

कनिष्क के शासनकाल में मथुरा उत्तरी भारत की व्यापारिक गतिविधियों की नस समझा जाता था। इसलिए वहाँ व्यापारिक वर्ग प्रकट हुआ तथा जैन धर्म ने उनका समर्थन प्राप्त किया। जिस जैन धर्म का संस्थापक वर्द्धमान था, उसका इतिहास बौद्ध धर्म से भिन्न था। इसने बड़ी मजबूती से अपने को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की और कुछ स्थानों, जैसे मथुरा और उसके आस–पास के क्षेत्रों में बड़ा प्रभावशाली हुआ, परन्तु भारत के बाहर उसका प्रसार नहीं हुआ। बौद्ध धर्म के समान मौलिक रूप से जैन सिद्धान्त में कोई परिवर्तन और विकास नहीं हुए, जो विचारों और आस्था में स्थायित्व ला सके।

परन्तु अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जैन उपासकों और उपासिकाओं ने आयागट्टों, स्तूपों, जैन मूर्त्तियों तथा मन्दिरों का निर्माण स्वयं तथा अपने माता–पिता के कल्याणार्थ हेतु पूजा के लिए किया। ल्यूडर्स लिस्ट के अभिलेखों[5] में श्रेष्ठिन, मणिकार, सार्थवाह, रजक, गांधिक, गामिक, लोहवनिय तथा अन्य शिल्पकारों का दानकर्ताओं के रूप में उल्लेख मिलता है। कंकाली टीला से जैनियों के दो शोभायमान मन्दिर हैं, इनके भग्नावशेषों से मूल्यवान मूर्त्तियों के विभिन्न प्रकार मिले हैं, जिनमें अधिकांश भग्न हैं, परन्तु लेखयुक्त हैं।[6] परन्तु भग्नावस्था के कारण उनसे तीर्थंकरों के नाम ज्ञात नहीं होते हैं। हमें तीन तीर्थंकरों के नाम ज्ञात होते हैं– वर्द्धमान[7], सुमति अथवा सुमतिनाथ[8] और अरिष्टनेमि।[9] यह विश्वास किया जाता है कि तीर्थंकरों की तालिका में वर्द्धमान चौबीसवें तीर्थंकर, सुमति पाँचवें और अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर थे। ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक मामलों में स्त्रियाँ बढ़–चढ़ कर भाग ले रही थीं। धार्मिक कार्यों के सामाजिक क्षेत्र में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन था।

बौद्ध धर्म में आस्था की तुलना में जैन अभिलेखों में अनोखापन है। अभिलेखों में जैन संघ के संगठन में गण, कुल तथा शाखा का पुनर्गण किया गया है। जैन समुदाय का समर्थन देने वालों में पुरुष उपासक, स्त्री–उपासिकायें भिक्षु और भिक्षुणियाँ थीं, उनका उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। जैन अभिलेखों में शब्दों की पुनर्गणना में गण–कुल, शाखा और संभंग का प्रयोग किया गया है। ये दान कर्ताओं के संदर्भ में दिए गए हैं। इसे इस

प्रकार कहा गया है[10]– (i) **गण,** सम्भवतः विशाल इकाई, समवयंग टीका में इसकी व्याख्या की गई है **"समहवाचन क्रियः सधुसमुधायः"** अर्थात् समान ग्रंथों का अनुसरण करने वाले भिक्षुओं का समूह, (ii) **कुल,** गण में अनेक कुल सम्मिलित थे, (iii) **सह (शाखा)** – एक विशेष गुरु से प्रशिक्षित शिष्यों की पंक्ति और (iv) **संभंग**– जैकोबी ने इसका अनुवाद "भिक्षुओं का एक समूह जो केवल एक जिले से भिक्षा ग्रहण करता था" किया है।[12]

अभिलेखों में तीन गणों के नामों का उल्लेख है– कोट्टिय गण, वर्ण गण तथा उद्देकिय गण; गण की तुलना में कुल की संख्या अधिक है, जैसे **पेतिवमिक कुल, थनिय कुल, वच्छालिय कुल, सन्तनिक कुल, मेहिक कुल, ब्रह्मदासी कुल, वनिय कुल** तथा **आर्यहत्तिय कुल**।[13] अभिलेखों में शाखाओं के नाम इस प्रकार प्राप्त होते हैं– **वेरि (वज्रि) शाखा, उच्छेनगरि शाखा, वैर शाखा, वजनगरि शाखा तथा वरि शाखा**।[14] **श्रीगृहसम्भोग** तथा **संभोग** का भी उल्लेख है। सभी गण–कुल–शाखा और संभोग के बारे में उल्लेख कनिष्क के शासनकाल के अभिलेखों में हुआ है। इन अभिलेखों का आधारभूत सार भक्तों द्वारा तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का समर्पण था। जैन भिक्षुओं की प्रार्थन पर उन भक्तों ने इन मूर्तियों का उत्सर्ग किया था। ये जैन भिक्षु विशेष गणों, कुलों, शाखाओं और संभोगों से सम्बन्धित थे।

प्रारम्भिक कुषाणकाल के मथुरा से प्राप्त कुछ आयागपट्टों पर क्वचित तीर्थंकर प्रतिमा के दर्शन होते हैं, पर इसी युग के मध्य में तीर्थंकर–प्रतिमाओं की संख्या और प्रकारों में पर्याप्त बृद्धि हो जाती है। कुषाण–कालीन जैन कला का सर्वोत्कृष्ट दर्शन मथुरा में ही होता है। मथुरा के कंकाली टीले वाले स्थान पर कुषाणों के पहले से ही जैनों का बहुत बड़ा अधिष्ठान था। वहाँ का स्तूप देवनिर्मित माना जाता था। वहाँ के उत्खननों से आरम्भिक जैन कला के भण्डारमिले हैं, जिनका बहुत बड़ा भाग राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित है।[15]

सभी तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ लगभग एक–सी होने के कारण इनकी अलग पहचान का मुख्य साधन प्रत्येक प्रतिमा की चरण चौकी पर बने विशेष चिन्ह या लाञ्छन होते हैं। प्रारम्भिक जैन कला में लाञछन दिखाई नहीं देते हैं। कुषाण काल में आदिनाथ की पहचान उनके कंधों पर झूलने वाले बालों से, पार्श्वनाथ की सर्पफणा से तथा नेमिनाथ की उनके अगल–अगल स्थित वासुदेव बलभद्र से होती है।[16] परन्तु अन्य तीर्थंकरों की जानकारी के लिए मूर्त्तियों पर उत्कीर्ण अभिलेखों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

कुषाणकालीन जैन कला में जैन प्रतीकों का रोचक अंक मिलता है–

1. आयागपट्ट–तीर्थंकर–प्रतिमाओं के लोकप्रिय होने के पहले कम–से–कम मथुरा क्षेत्र में आयागपट्ट बहुमान्य जैन प्रतीक थे। ये जैन धर्म में प्रतीक पूजन को स्वतः सिद्ध करते हैं। व्यूहलर महोदय ने आयागपट्टों

को "टैबलेट्स आफ होमेज" कहा है, जिसका अर्थ है "पूजा पट्ट"। वास्तव में आयागपट्ट प्रस्तर के चौकोर फलक है, जिन पर विभिन्न मांगलिक प्रतीकों के मध्य प्रथम बार "जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं" का अर्द्ध–चित्रण पाया गया है। इन शिलापट्टों के सम्मुख भाग पर स्तूप, धर्मचक्र, स्वस्तिक, तीर्थंकर प्रतिमा, त्रिरत्न आदि के साथ ही अष्टमांगलिक चिन्ह, अभिलेख आदि भी उत्कीर्ण रहते हैं। अभिलेखों में इन शिलापट्टों को आयागपट्ट कहा गया है तथा अर्हतों की पूजा के लिए इनका उपयोग बतलाया गया है। मथुरा से ऐसे अनेक आयागपट्ट मिले है (मथुरा संग्रहालय संख्या क्यू० 2)। इसके अलावा राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में भी ये सुरक्षित हैं (लखनऊ संग्रहालय संख्या जे० 248, जे० 250, जे० 252, जे० 253) इत्यादि।[17] वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार प्रतीक या धार्मिक चिन्हों के प्रभाव की जैसी स्फुट साक्षी आयागपट्टों में है, वैसी अन्यत्र नहीं है।[18]

2. स्तूप–बौद्धों की तरह जैनों के भी स्तूप बनते थे। परन्तु बौद्ध स्तूपों की तुलना में जैन विस्तार नगण्य रहा है। साहित्य तथा पुरातत्त्व के आधार पर कहा जा सकता है कि पाटलिपुत्र, पेशावर, पावा, कोटिकापुर आदि स्थानों पर तथा कलिंग देश में जैन स्तूप रहे।[19] परन्तु इनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि मथुरा के स्तूप की थी, जो आज के कंकाली टीला नामक स्थान पर विद्यमान था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शती से ही यह 'देवनिर्मित' महास्तूप अपनी ज्ञान से जगमगा रहा था। यहाँ से हमें सैकड़ों की संख्या में गिनी जाने वाली कलाकृतियां मिली हैं।[20]
3. चैत्यवृक्ष– बोधि वृक्ष के समान ही जैन–परम्परा में अनेक वृक्षों को बड़ा पावित्र्य मिला[21] परन्तु इस प्रतीक का भी बहुत अधिक प्रसार नहीं हुआ। प्रारम्भिक जैन कला में वेष्टनी युक्त चैत्य वृक्ष के दर्शन होते हैं, आगे चलकर कतिपय मूर्तियों में तीर्थंकरों के मस्तक पर ये दिखलाई पड़ता है।[22]
4. चैत्य स्तम्भ – मथुरा से प्राप्त एक शुंगकालीन कला कृति में (लखनऊ संग्रहालय संख्या जे० 268) चैत्य स्तम्भ की पूजा का दृश्य अंकित है। यहाँ सिंह शीर्ष युक्त एक स्तम्भ, वेदिका से घिरा हुआ है, जिसकी कुछ स्त्री–पुरुष प्रशिक्षण कर रहे हैं। स्तूपों के आंगन में भी चैत्यस्तम्भों के दर्शन होते हैं (लखनऊ संग्रहालय संख्या जे० 255)।[23]

इसके अतिरिक्त मथुरा से जो जैन स्तूपों के ध्वंसावशेष मिले हैं, उनमें 'वेदिका स्तम्भ' विशेष रोचक हैं। भूतेश्वर–मंदिर से प्राप्त तथा जैन स्तूपों की वेदिका स्तम्भों पर मथुरा जैन कला की दृष्टि से **शालभञ्जिकाओं** (पाणिनि ने इसे प्राचा क्रीड़ा कहा है) का अंकन विशेष महत्त्वपूर्ण है। जैन वेदिका स्तम्भों पर विभिन्न क्रीड़ाओं के अंकन में कलाकारों ने अपनी मौलिकता एवं उदार दृष्टि का परिचय दिया है। इन क्रीड़ाओं में नौयवना

स्त्रियों की क्रीड़ा मुद्राओं में प्रदर्शित किया गया है, जिसमें सद्यः स्नाना, शुक क्रीड़ा, कन्दुक क्रीड़ा, शालमञ्जिका एवं रूपदर्शिता उल्लेखनीय है।[24]

इस प्रकार उपर्युक्त जैन धर्म तथा कला की विवेचना के साथ हम कह सकते हैं कि कनिष्क प्रथम ने जिस प्रकार अपनी रुचि द्वारा बौद्ध धर्म एवं कला को प्रोत्साहित किया, वैसा जैन धर्म तथा कला को नही दिया। उसकी उदासीनता प्रकट होती है। कनिष्क की समन्वयवादी नीति तथा धार्मिक सहिष्णुता जैन धर्म तथा कला के विकास में बाधक नहीं बनी। परन्तु शिल्पकारों, कलाकारों, श्रेष्ठिन वर्ग, व्यापारियों, सार्थवाहों तथा धनाड्य वर्ग ने आर्थिक और धार्मिक दानों द्वारा जैन धर्म तथा कला के विकास में योगदान दिया।

सन्दर्भ :

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, जिल्द I, संपादक ई०जे० रैप्सन, पृ० 167.
2. ल्यूडर्स लिस्ट संख्या, 16, 18, 21, 22, 25, 26,27, 28, 29, 30, 32, 34, 36, 39, 45, 47, 48, 50, 56, 59, 67, 68, 70, 73, 75, 78, 86, 94, 96, 99, 100, 107, 112, 118, 121, 122.
3. बी० चट्टोपाध्याय, कुषाण स्टेट ऐंड इंडियन सोसायटी, कलकत्ता, 1975, पृ० 197.
4. ल्यूडर्स लिस्ट संख्या 24.
5. उपर्युक्त संदर्भ संख्या 2.
6. मनोज के० ठाकुर, इंडिया इन दि ऐज आफ कनिष्क, दिल्ली, 1999, पृ० 133.
7. एपिग्राफिया इंडिका, I, पृ० 381; एपिग्राफिया इंडिका, 33 तथा आगे संख्या 4
8. के०डी० बाजपेयी, जैन एंटीक्यूरी, जिल्द 16, जून 1950, पृ० 13–14
9. एपिग्राफिया इंडिका, II, पृ० 200, संख्या 14
10. बी० चट्टोपाध्याय, वही, पृ० 176
11. हरिपद चक्रवर्ती, अर्ली ब्राह्मी रिकार्ड्स इन इंडिया, कलकत्ता, 174, पृ० 140
12. जैकोबी, सेक्रेड बुक आफ दि ईस्ट, पृ० 167, संख्या 1, हरिपद चक्रवर्ती द्वारा उद्धृत, वही, पृ० 141
13. मनोज के० ठाकुर, वही, पृ० 134.
14. उपर्युक्त
15. नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्त्ति विज्ञान, पटना, 2000, पृ० 211.
16. उपर्युक्त, पृ० 212.
17. उपर्युक्त, पृ० 212.

18. भारतीय कला, वाराणसी, 1977, पृ० 238.
19. नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, जैन स्तूप और पुरातत्त्व, भगवान महावीर स्मृति ग्रंथ, आगरा, 1948–49, पृ० 183–87.
20. नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्त्ति विज्ञान, पृ० 213.
21. उपर्युक्त, तथा उमाकान्त शाह, स्टडीज इन जैन आर्ट, बनारस, 1955, पृ० 4–5.
22. प्राचीन भारतीय मूर्त्ति विज्ञान, पृ० 213.
23. उपर्युक्त
24. विस्तृत विवेचना के लिए देखिए, भारतीय कला में मथुरा कला।

***

बिहार में राजनीतिक नेतृत्व और कृषि नीति (2000–2020 ई०)

राजेश कुमार राम *

भारत के पूर्वी भाग में 13वाँ राज्य 'बिहार' है। यूँ तो बिहार शब्द की उत्पत्ति–'विहार' से हुई है जिसका अर्थ–'बौद्ध सन्यासियों का ठहरने का स्थान' होता है। बिहार को भारतीय संविधान के अनुसार सन्, 26 जनवरी, 1950 में राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ। बिहार की भागोलिक सीमा का निर्माण आज से लगभग 20 वर्ष पूर्व की है। 15 नवम्बर, 2000 ई0 को बिहार के दक्षिणी भाग का विभाजन कर 'झारखण्ड' नाम से नये राज्य की स्थापना हुई है। तत्पश्चात्, बिहार की स्थिति काफी दयनीय व कमजोर प्रतीत हुई है जैसे – कुल रकबा – 94,163 वर्ग किमी, साक्षरता दर–63.8 फिसदी, बाढ़ व सुखाड़ क्षेत्र वाला भूमि एवं कल कारखाना, उद्योग, कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक स्रोत इत्यादि में काफी कमी पाई गई। कुल आबादी लगभग 12 करोड़, 9 प्रमंडल, 38 मंडल, 101 अनुमंडल, 534 प्रखण्ड, 8,471 पंचायत एवं 45,103 गॉव का मात्र क्षेत्र तथा हिन्दी, उर्दू, मैथिली, भोजपुरी, मगही, वज्जिका एवं अंगिका भाषा मात्र बन कर रह गई।[1]

भारत के अन्य राज्यों की अपेक्षा बिहार में नदियों की संख्या अधिक है जो हमारे राज्य का प्राकृतिक सौंदर्य बढ़ाती है। बिहार की सबसे बड़ी नदी 'गंगा' जो प्रदेश के बीचों–बीच बहती है जिसकी सहायक नदियां–सोन, पुनपुन, फाल्गू तथा किऊल हैं जो गंगा के दक्षिणी भाग से जुड़ी हुई हैं। उत्तर–बिहार की मुख्य नदियाँ–बागमती, कोसी, बुढ़ी गंडक, गंडक, अजय– महानन्दा, बलान व कमला हैं। उपरोक्त समस्त नदियाँ बारिश के समय बाढ़ के रूप में तबदील हो जाता है और अन्य समय सुखी रहती है। अतएव उत्तरी–'बिहार के सर्वत्र उपजाऊ भूमि कृषि योग्य है, परंतु पानी का उचित प्रबंध नहीं होने की वजह से राज्य में कृषि क्षेत्र की स्थिति दयनीय है। बाढ़ से बचने के लिए नदियों पर तटबंध हैं, किन्तु पूरी तरह नहीं है और

* शोध छात्र (राजनीतिशास्त्र), ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा, पिता-हरे कृष्ण राम, ग्राम-दाईंग, पो.-महपारा, थाना-बहादुरपुर, जिला-दरभंगा-846009

सुखाड़ से निपटने के लिए कृषि मैदानी क्षेत्र में कुँआ व तलाब की उचित व्यवस्थ का अभाव है।[2]

बिहार को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो प्राचीन समय से विश्व प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में बिहार–सत्ता, शक्ति, अध्ययन, संस्कृति, सत्य–अहिंसा तथा भाईचारा के सम्बन्ध में विश्व का केन्द्र बिन्दु था। इसी धरती पर विश्व प्रसिद्ध बौद्ध एवं जैन धर्म का उदय हुआ है। साथ ही, सम्राट जरासंध, बिम्बिसार, आजातशत्रु, अर्याभट, चन्द्रगुप्त मौर्य, चाणक्य तथा अशोक का जन्म हुआ है। जिन्होंने विश्व को संचालित की है। भारत के प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन (सन् 1857) में वीर कुंवर सिंह ने अहम योगदान दिया है तथा स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने भी राज्य का गौरव बढ़ाया है। उपरोक्त समस्त ख्याति प्राप्ति के बावजूद विश्व को शिक्षा व ज्ञान दात्ता, आज स्वयं शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्ति के लिए लालायित हैं। विश्व को छोड़िये, भारत के भी शिक्षा दर में निचले पैदान पर है।[3]

मानवीय संस्कृति व सभ्यता के प्रारंभिक काल से नेतृत्व की भूमिका रही है। मानवीय इतिहास का प्रथम प्रस्थान बिन्दू नेतृत्व है। अतः मानवीय जीवन में राजनीति व्यवस्थ का केन्द्र बिन्दु राजनीतिक नेतृत्व रहा है। अतएव सूबे बिहार में इतिहास की धारा को समझने के लिए प्रदेश की राजनीतिक प्रक्रिया और नेतृत्व का अध्ययन महत्वपूर्ण है, क्योंकि वास्तविकता यह है कि बिहार में राजनीतिक प्रक्रिया व बौद्धिक समझदारी राजनीतिक नेतृत्व के बिना अधूरी एवं कोरी–कल्पना मात्र होगी। किसी भी संगठित समाज में राजनीतिक प्रक्रिया 'सामाजिक संरचना' की छाये है, जो भविष्य को सजाने एवं संवारने के लिए यथार्थ का विश्लेषण और आदर्श की कल्पना करना अनिवार्य शर्त रखती है। राजनीतिक नेतृत्व हकीकत में आदर्श और यथार्थ के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी है।[4]

प्रस्तुत शोध आलेख में बिहार प्रदेश के राजनेताओं एवं राजनीतिज्ञों का कैसा नेतृत्व? किसी प्रकार से प्रदेश में प्रशासन कार्यरत हैं ? और उनके राजनीतिक नेतृत्व और कृषि नीति की कैसे मानवीय जीवन और कृषि क्षेत्र में कायम है ? तथा कृषि के लिए कैसी नीति अपनाएं है? नेतृत्व की अवस्था हमेशा सामाजिक चक्र के आधार

पर चलता है। नेतृत्व एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें राजनेताओं एवं राजनीतिज्ञों की सम्पूर्ण शक्ति, सत्ता और लोकतांत्रिक प्रक्रिया निर्भर करती हैं। हमलोग सदियों से जानते है कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक में लगभग विषमताएं मिलती ही हैं। अतः सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित ढ़ाचा में लाने हेतु उसकी मानवीय संवेदना, चेतना और तनाव की परिस्थितियां सामने रहती हैं। वास्तव में किसी भी राजनेताओं एवं राजनीतिज्ञों को राजनीतिक नेतृत्व के बीच तनाव को समाप्त करना, उचित समाधान एवं प्रयास नेतृत्व की भूमिकाओं को चिन्हित करता है।[5]

आज की राजनीतिक दुनिया भूमंडलीकृत है जिसमें स्थानीय और विश्वस्तरीय राजनीतिक घटनाओं और नेतृत्व का महत्वपूर्ण संबंध स्थापित हो रहा है। राजनीतिक नेतृत्व का उत्तरदायित्व होता है कि वह शासन और सत्ता के सरंक्षण एवं प्रकार्यो का निर्वहन करे, जिसके द्वारा स्थानीय तथा विश्वस्तर के जनअकांक्षाओं का समाधान किया जा सके। वर्तमान में राज्य मानवीय विकास का राजनीतिक संगठन है, जिससे आज मानव का कल्याण किया जाता है और मानवीय सभ्यता के लिए कल्याणकारी होने को कायम रखें हैं। राज्य मानव कल्याण हेतु शक्ति की संरचना है जिसकी उत्त्पत्ति में राजनीतिक नेतृत्व की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। साथ ही, लोकतांत्रिक व्यवस्था तथा मानवाधिकार के बदलते आयाम में भी अहम योगदान रहा है। नेतृत्व समाज तथा राज्य के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करता है। हालांकि नेतृत्व की उत्त्पत्ति समाज से हुआ परंतु समाज का संचालन नेतृत्व करती हैं।[6]

प्राकृतिक दृष्टि से सामाजिक, आर्थिक और राजनीति में गैर–बराबरी होना कतई उचित नहीं है। परंतु असंतोष, अतिस्वार्थ एवं क्रांन्तिकारी नेतृत्व के वजह से इसमें अनन्त विषमताएं बढ़ रही हैं। अतः मानवीय चेतना, चिंतन, संघर्ष तथा ऐततिहासिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप कर जाति, धर्म, वर्ग, नस्ल, तथा रंग आधारित भेदभाव को समाप्त करने का प्रयास है। राज्य भी अपने नेतृत्व से बदलाव, टकराव तथा तनाव को समाप्त कर राजनीतिक संगठन तथा सामाजिक व्यवस्था को बनाएं रखते हैं जिसे नेतृत्व की महत्ता बढ़ जाती है। चूंकि

नेतृत्व की क्षमता आम नागरिकों में नहीं होता है तो अभिजनवादियों का महत्व और बढ़ जाता है। अभिजनवादी समाज के शीर्ष बुद्धिजीवी होते हैं, जो सामाजिक समस्या, टकराव एवं तनाव का समाधान समय–समय पर करते हैं। अतः राजनीतिशास्त्र के विद्वानों एवं अध्येताओं के लिए यह महत्वपूर्ण है, क्योंकि जनतांत्रिक व्यवस्था तथा आम नागरिकों के बीच में नेतृत्वकार्ताओं की अहम भूमिकाएं रहती हैं।[7]

संसार का उद्योग की ओर काफी तेजी से बढ़ने के कारण मानवीय सभ्यता के विकास में भी तेजी आई हैं, परन्तु उद्योग के नकारात्मक चरित्र से वातावरण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है जैसे–उपजाऊ भूमि पर उद्योग का स्थापना, प्राकृतिक संसाधन (जंगल, कोयला, खनज, पेड़–पौध (वन) का आवश्यकयता से अधिक उपयोग करना, उद्योग में उपयोग होने वाली वाहन द्वारा सड़कों को नष्ट करना अर्थात् उद्योग को विस्तार जितना नियोजित होगा, उतनाही भविष्य के लिए अच्छा होगा। अतः कृषि सम्बन्धित उद्योग की स्थापना से उपरोक्त समस्त त्रुटियों से वातावरण मुक्त रहेगा। कृषि क्षेत्र में सुव्यवस्थिति प्रकार से कदम उठाएं (जैसे–बाढ़ क्षेत्र में पानी के नियंत्रण, उपजाऊ भूमि हेतु तटबंध बनाकर बाढ़ से सुरक्षा एवं सुखाड़ के समय में बिहार के समस्त नदियों जैसे–गंगो, बागमती, बुढ़ी गंडक, गंडक, कोसी, कमला, बलान इत्यादि से नहर निकाल कर उपजाऊ भूमि तक कुआ एवं तालाब की व्यवस्था और प्रदेश के समस्त छोटी नदियों में चेक डैम बनाकर पानी सुरक्षित राना। तत्पश्चात् प्रदेश को विकसित होने की ओर बढ़ा सकते हैं और प्रदेश की अर्थव्यवस्था के रूप को कृषि पर आधरित बना सकते है। वातावरण सुंरक्षित एवं विकास की कड़ी एक–दूसरे से जुड़ सकते हैं।[8]

बिहार की साक्षरतादर काफी कम है। किसानों का शिक्षा से कम सम्बन्ध है जिस कारण से वह कृषि वैज्ञानिक पद्धति से नहीं कर पाते है। सरकार द्वारा प्रशिक्षण हेतु प्रयास किए गए हैं, परंतु किसानों को इस सम्बन्ध में उचित जागरूकता और सूचना का अभाव है। अतएव किसान वर्ष में एक या दो फसल उगा कर घर बैठ जाते हैं। अतः जरूरत है सरकार तथा कृषि अनुसंधान संस्थाओं को किसान के साथ जमीनी स्तर पर जाकर कार्य करने की है।

बिहार भौगोलिक दृष्टि से बाढ़ व सुखाड़ की समस्या झेलता रहा है तो सरकार को सूबे में नकदी फसल (सब्जी, प्याज, आलू, टमाटर, तम्बाकू, आम, लीची आदि) की ओर बढ़ना चाहिए। सरकार को भी किसान तथा कृषि अनुसंधान संस्थाओं की सलाह से प्रदेश में कृषि नीति बनानी चाहिए। हालांकि राज्य एवं केन्द्र सरकार ने इस विषय पर कई नीतियाँ और योजनाएं बनाई है जैसे– कृषि सिंचाई, नेशनल एग्रीकल्चर मार्केट, प्रधानमंत्री सिचाई आदि योजनाएं है जिसे भारतीय सरकार ने उम्मीद रखी है कि किसानों की आय सन्– 2022 तक दुगूनी की जाएगी। अगर सन्– 2013 से किसानों की आय की वृद्धि को देखा जाए तो समग्र आय में 1.34 गुणा, अधिक भूमि वाले किसान (कम से कम 1 हेक्टेयर भूमि अनिवार्य) में 1.5 गुणा तथा कम भूमि वाले किसान (1हेक्टेयर से कम भूमि) में 1.1 गुण की वृद्धि हुई है, जिसमें लगभग आधी आय (49 फिसदी)– हरियाणा, कर्नाटक, तेलंगाना, महाराष्ट्र, आसाम, मध्यप्रदेश, पंजाब, छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश और बिहार में ही केन्द्रित है। विडम्बना यह कि निम्न स्तर की औसत आय और कृषि भूमि में निरंतर विखण्डन बढ़ रही हैं जिससे कृषि क्षेत्र अब सीमित एवं कमजोर होता जा रहा है।[9]

बिहार सरकार के हरित आवरण के लक्ष्य की बात की जाए तो 9 प्रतिशत से बढ़ाकर 15 प्रतिशत तक की है जिसमें वर्षः 2017–18 में 13 प्रतिशत का लक्ष्य पूरा भी कर लिया गया है, लेकिन कुल 15 प्रतिशत तक आने में कृषि अनुसंधान संस्थाओं को धरातल पर आकर कार्य करना होगा। बिहार एक कृषि प्रधान प्रदेश है जहाँ पर लगभग 76 प्रतिशत आबादी कृषि पर निर्भर करते है। अतः सरकार ने कृषि क्रान्ति–इन्द्रधनुषी (सभी कृषि क्रान्ति का एक क्षेत्र, सन् 2000 ई0 में लागू जैसे–पीली–तेल एवं तिलहर, सदाबहार–मिट्टी उन्नति, ऋण, रेन हार्वेस्टिंग तथा कृषि शोध, काली–पेट्रोलियम एवं कोयला, सिल्वर–मुर्गी एवं अण्डा उत्पादन, सुनहरी–बागवानी एवं शहद, नीली–मत्स्य, गुलाबी–प्याज एवं झींगा मछली उत्पादन, श्वेत–दूध उत्पादन, हरित–खाद्यान्न उत्पादन) क्रान्तियों से कृषि क्षेत्र को मजबूी देने की कोशिश व नीति लाया गया है। उपरोक्त समस्त क्रान्तियों से फसल में वृद्धि हुई हैं। जिस वजह से सरकार भण्डारण क्षमता को भी बढ़ा रहे

हैं। तत्पश्चात् सूबे में कृषि क्षेत्र में मजबूती प्रदान करने हेतु 3 कृषि विश्वविद्यालय–सहरसा, पूर्णिया एवं किशनगंज की स्थापना की गई।[10]

भारत सरकार ने वर्ष 2017–18 में राष्ट्रीय कृषि बाजार पर 187,233 करोड़ रूपया का आवंटन किया है, जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था की रीढ़ साबित होगा। प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना के तहत उपजाऊ भूमि–फसल क्षेत्र 40 प्रतिशत से बढ़ा कर वर्ष 2018–19 में 50 प्रतिशत की है। साथ ही, प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना के तहत अग्रिम 5 वर्षो में कृषि योग्य क्षेत्र में समुचित पानी की व्यवस्था की जाएगी। राज्य एवं केन्द्र सरकार ने कृषि उत्पादन हेतु काफी योजनाएं व कार्यक्रम लाए हैं फिर भी कृषि क्षेत्र कमजोर ही है। किसान व शोध संस्थान के तालमेल से सरकार योजना एवं नीति बनाने मे आपसी सहयोग की अभाव रहा है।[11]

20वीं सदी आते–आते बिहार में राजनीतिक आन्दोलन का लगभग विकास हो चुका था। बहुत हद तक कृषि के व्यवसायिकरण, शहरीकरण एवं कतिपय अन्य आर्थिक विकास के कारण समाज के मध्य नेतृत्व तथा कृषि नीति की ललक पैदा हो चुकी थी जिससे आम नागरिकों में नेतृत्वच एवं कृषि नीति में रूझान बढ़ने लगा।[12]

21वीं सदी के तीसरे दशक में मानव सभ्यता प्रवेश कर चुकीं हैं और आधुनिक बिहार–उत्तर आधुनिक बिहार की ओर बढ़ गई है। जिसमें मानवीय प्रयास की परिकल्पना है कि जनवादी तथा समतामूलक समाज एवं कल्याणकारी राज्य और कृषि में उचित विकास तथा उसकी नीति को जन–जन तक स्थापना करने की है। युद्ध और हिंसा के दौरान मानव सभ्यता में शान्ति को ही महत्वपूर्ण स्थान मिला है जिसका संचाालन अच्छे नेतृत्वकर्ता द्वारा किया गया। स्थाई शान्ति स्थापित करना मानवीय अस्तित्व हेतु अनिवार्य शर्त्त है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विभाजनोंपरान्त बिहार में नेतृत्व क्षमता की स्थिति का विश्लेषण, कृषि उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में बिहार सरकार की कृषि रोड मैप को स्पष्ट, बिहार में कृषि के महत्व को सामने लाना तथा उसको बाढ़ एवं सुखाड़ से रक्षा करने के लिए सफल प्रयास किया जा रहा है ।

संदर्भ :

1. बिहार सरकार की राज्य अभिलेखागार–जनगणना–2011.
2. संग्रहीत प्रति, मूल से 25 सितंबर, 2019 को पूरालेखित, अभिगम तिथि– 25 सितंबर, 2019.
3. आब्राहम एम0 एफ0, डायनामिक्स ऑफ लिडरशिप इन भिलेज अइण्डिया–रिसर्च एब्सट्रक्ट क्वार्टली.
4. अहूजा राम, पॉलिटिक्स एलिटः ए सोशियोपोलॉजीकल स्टडी ऑफ एमर्जिंग पॉलिटिकल एलिट इन बिहार, जयपुर–1973.
5. अशरफ अली एण्ड एल0 एन0 शर्मा, पॉलिटिकल सोशियोलॉजी– ए न्यू ग्रामरऑफ पॉथ्लटिक्स, यूनिवर्सिटी प्रेस, मद्रास–1983.
6. बीडेल डब्लु0 डब्लु0, कल्टिमेंशन अबॉफ कम्युनिटी लिडरशिप– आपफ्रॉम ग्रासरूटस, हार्पर, न्यूयार्क– 1953.
7. सोने का रेट एवं पटेल भूमि राज, कृषि एवं ग्रामीा विकास रिसर्च जनरल ऑफ हयॅमनेटाइज एण्ड सोशल साइन्स– 2013.
8. गर्ग आनन्द, अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा– 2017.
9. बिनोद बहल, समावेशी विकास के माध्यम ग्रामीण बदलाव, पत्र सूचना कार्यालय, भारत सरकार, नई दिल्ली–2019.
10. स्वामी सहजानन्द सरस्वती, किसान क्या करे, 1927.
11. राहुल सांकृत्यायन, वोल्गा ेस गंगा, 1943.
12. चौधरी, वि0 सी0 प्र0, द क्रियेशन ऑफ मॉडर्न बिहार, दरभंगा, 1964.

***

हिंदी गीतकाव्य की परंपरा और निराला के गीतों की विशेषताएं

मोहन कुमार *

अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए मनुष्य ने आरंभ से ही वाणी की गेयता को सर्वाधिक महत्व दिया है। इसलिए विश्व के प्राचीनतम साहित्य भी गेय रूप में ही प्राप्त होते हैं। गीतों का उद्‌भव आदिमानव के भावों की अभिव्यक्ति के साथ और मानव की स्वाभाविक रागप्रियता के कारण हुआ। आदिरूप में लोकगीतों का आविर्भाव पृथ्वी पर मानव जीवन के अस्तित्व के साथ ही हुआ माना जाता है। मानव जीवन में गीत अथवा संगीत का विशेष महत्व है। मानव सभ्यता में गीत की परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। गीत के विकास का संबंध सभ्यता के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। कथन को विशिष्ट, स्व और पर आनंददायी, अपनी व्यक्तिगत प्रभावी वक्तृता एवं विशिष्ट शैली बनाने एवं स्मरण हेतु उसे सुर, लय, प्रवाह तथा गति आदि देने के प्रयास में गीत का जन्म हुआ। लोकगीतों की परंपरा अनादि काल से चली आ रही है और यह लोकगीत ही हमारे गीतों के मूल में विद्यमान हैं तथा उनके जनक हैं। भारतीय मिथक शास्त्र में भगवान शंकर को 'नाद ब्रह्म' कहा गया। सामवेद को गीत–संगीत का स्रोत माना गया है। प्रारंभ में दो प्रकार के गीत बताए गए थे –वैदिक और लौकिक। लोकगीत के भी दो प्रकार बताए गए हैं– मार्ग गीत और देसी गीत। मार्ग गीतों में शास्त्रीय परंपरा का निर्वाह किया जाता है और विश्व के अलग–अलग देशों के लोगों के द्वारा अपनी रूचि और शैली के अनुसार गाये जाने वाले गीतों को देसी गीत कहते हैं। बाद में साहित्यिक प्रतिष्ठा के बाद यही देसी गीत गीतिकाव्य या गीत कहलाते हैं। सृष्टि के हर स्पंदन में लय और संगीत विद्यमान हैं। नदियों की कल–कल, हवाओं की थिरकन, झरनों की अनुगूंज, भौरों की गुंजार, कोयल की कूक, बच्चों की किलकारी, बादलों के गर्जन, बिजली की चमक, किसानों–मजदूरों के श्रम, पक्षियों की चहचहाहट आदि सबमें एक निसर्ग संगीत विद्यमान है। गीत काव्य की सबसे पुरानी विधा है। गीत रचनाकार के अंतर्मन को बहिर्जगत में प्रस्तुत करने का सशक्त माध्यम है। आदिम मानवों ने भी अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति गीतात्मक ढंग से की है। गीतों में हमारी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, परंपरा, कला, इतिहास, लोक और मान्यताओं आदि का सार संकलित और सन्निहित है। गीत मनुष्य के आत्मा की सहज अभिव्यक्ति हैं। गीत का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव सभ्यता का। मनुष्य अपने सुख–दुरूख, आशा–निराशा, उत्साह–उल्लास तथा प्रेम और पीड़ा की सर्वाधिक सरल और सशक्त अभिव्यक्ति गीतों में ही करता है। मनुष्य की स्वाभाविक तथा सहज भावनाओं और मनोविज्ञान की स्वतरू स्फूर्त अभिव्यक्ति गीत के रूप में हुई है। जब मानक साहित्य का निर्माण नहीं हो सका था गीत तब भी मौजूद थे। इसके पूर्व लोक साहित्य के रूप में गीतों की रचना एक लंबे समय से होती चली आ रही थी। यद्यपि इन लोकगीतों का लिखित रूप बहुत कम उपलब्ध है तथापि ये गीत मौखिक श्रवण और स्मरण के माध्यम से एक लंबे समय से आज तक चले

* शोधार्थी,हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आ रहे हैं। गीत के जन्म और उसकी रचना प्रक्रिया का संबंध लोक और श्रम की संस्कृति से है। गीत का आरंभ आदिम मानव के अति पुरातन और आरंभिक भावों के साथ जुड़ा है। हिंदी गीत काव्य के इतिहास में नवगीत के प्रवर्तक राजेंद्र प्रसाद सिंह ने नवगीत का नाम लक्षण निरूपक प्रथम ऐतिहासिक संकलन गीतांगनी (1958) की भूमिका में गीत के विषय में लिखा है – 'गीत काव्य–रचना का एक ऐसा प्रकार है, जिसके माध्यम से रचयिता और रस ग्राहक, दोनों के आंतरिक भाव–संगीत का विनिमय हो सकता है और जिसकी वस्तु तथा शैली में हृदय की अनुभूति–लीन प्रक्रिया मौलिक रूप से गतिशील रहती है तथा परिवेश की उत्तरोत्तर व्यापक परिधियों के प्रभाव अनुभूति की विशेषताओं का परिपाक करते रहते हैं। व्यक्तिगत स्वभाव, परिवेशगत प्रभाव और परंपरागत मान्यताओं के अंतर्द्वंद से, अनुभूति की प्रक्रिया में बहता हुआ हृदय जिस मार्मिक समग्रता को संजोता रहता है उसका आत्मीयतापूर्ण स्वीकार ही गीत का उद्‌गम है।'[1] गीत, प्रत्येक युग में मनुष्य के साथी रहे हैं। लोकजीवन आज भी गीतों में नैसर्गिक रूप से विद्यमान है। सरस काव्य में गीतों का स्थान सदैव सर्वोपरि रहा है।

स्वर, पद और ताल से युक्त जो गान होता है, उसे गीत कहा जाता है। गीत मनुष्य मात्र की भाषा है। अलग–अलग विद्वानों द्वारा गीत की अलग–अलग परिभाषा दी गई है। आचार्य हेमचंद्र ने लिखा है– 'गीतं शब्दित गानयो:।" अमर सिंह अपनी रचना अमरकोश में लिखते हैं – "गीतं गान ममे समे।" महाकवि निराला ने 'गीतिका' की भूमिका में लिखा है – 'गीत–सृष्टि शाश्वत है। समस्त शब्दों का मूल–कारण ध्वनिमय ओंकार है। इसी अशब्द संगीत से स्वर–सप्तकों की भी सृष्टि हुई। समस्त विश्व स्वर का ही पूंजीभूत रूप है।'[2] गीत में मानव के व्यक्तिगत अनुभव भावावेश में संगीतमय होकर कोमलकांत पदावली के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। दिनकर ने गीतों को काव्य का निचुड़ा हुआ रस माना है। गीत संपूर्ण मानवीय संवेदना के सर्वोत्तम निचोड़ की सार्थक और संगीतात्मक अभिव्यक्ति है। व्यक्तिगत उद्‌गार होने के बाद भी गीत समाज के सामूहिक संवेग का ही प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए गीत के मर्म को समझने के लिए उसकी आत्मपरकता में अंतर्निहित मानवीयता के स्वर से अवगत होना आवश्यक है। डॉ नगेंद्र के अनुसार गीत वास्तव में काव्य का सबसे तरल रूप है व वाणी का द्रव है क्योंकि इसका माध्यम स्वर है जबकि छंद का लय। गीतकाव्य की आत्मा है– भाव, जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीत में फूट निकलता है। गीत के विषय क्षेत्र के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचार हैं कि 'गीत काव्य में मधुर ध्वनि प्रवाह के बीच कुछ चुनें हुए पदार्थ और व्यापारों की झलक भर होती है।'[3] आचार्य प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'गीत काव्य व्यक्ति के सुख दुख का चित्रण होने के साथ–साथ अवस्था विशेष का भावमय चित्रण है।' गीत के स्वरूप और सरोकार को स्पष्ट करते हुए डॉ रामविलास शर्मा लिखते हैं कि 'कविता के अन्य अंगों की अपेक्षा गीत का समाज से सीधा संबंध है। साहित्य स्वयं एक सामाजिक क्रिया है, गीत और भी।' प्रसिद्ध छायावादी कवयित्री और गीतकवी महादेवी वर्मा गीत के विषय में लिखती हैं कि 'सुख–दु:ख की आवेशमयी अवस्था विशेष का गिने–चुने शब्दों में स्वर–साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।[4] गीत का चिरंतन विषय रागात्मिकता वृत्ति से संबद्ध रखने वाली सुख एवं दुरूखात्मक अनुभूति से रहेगा। गुलाब राय ने गीत को काव्य के अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अंतरूप्रेरित, कलायुक्त और कृत्रिमता रहित कहा है। उनके मतानुसार – प्रगीत काव्य में कवि जो कुछ कहता है, अपने निजी दृष्टिकोण से कहता है। उसमें

निजीपन के साथ रागात्मक्ता होती है। रागात्मकता में तीव्रता बनाए रखने के लिए उसका अपेक्षाकृत छोटा होना आवश्यक है। आकार की इस संक्षिप्तता के साथ भाव की एकता और अन्विति लगी रहती है। गीतिकाव्य में विविधता रहती है किंतु वह प्रायः एक ही केंद्रीय भाव की पुष्टि के लिए होती है। डॉक्टर गणपति चंद्र गुप्त के अनुसार श्गीत काव्य एक ऐसी लघु आकार एवं मुक्तक शैली में रचित रचना है जिसमें कवि निजी अनुभूतियों या किसी एक भाव–दशा का प्रकाशन गीत या लयपूर्ण कोमल पदावली में करता है। हरिवंश राय बच्चन के मतानुसार श्गीत वह है जिसमें भाव, विचार, अनुभूति, कल्पना एक शब्द में कथ्य की एकता और उसका एक ही प्रभाव पड़े।' केदारनाथ सिंह कहते हैं– 'गीत कविता का एक अत्यंत निजी स्वर है, गीत सहज, सीधा, अकृत्रिम होता है।' प्राचीन समय के संपूर्ण भारतीय साहित्य की रचना ही गीतों के रूप में हुई है इसलिए भारत में गीत काव्य का कोई अलग अस्तित्व नहीं रहा। अंग्रेजी में गीत काव्य की एक अलग परंपरा रही है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में गीत के लिए लिरिक शब्द का प्रयोग हुआ है। लिरिक लायर नामक वाद्ययंत्र की सहायता से गाया जाता है, जिसे अंग्रेजी में लायर कहते हैं। वह ग्रीक शब्द लूरा से बना है। इसके सहारे गाए जाने वाले गीतों को वहां लुरिकोस कहते थे। यह लुरिकोस ही बाद में लिरिक के रूप में रूपांतरित हो गया। पाश्चात्य विद्वानों ने भी गीतकाव्य की महत्वपूर्ण परिभाषा दी है। हीगेल ने अपनी पुस्तक 'सौंदर्यशास्त्र' में लिखा है–"जब कवि विश्व के अंतः करण में पहुंचकर आत्मानुभूति करता है, तब उसे अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार काव्योचित भाषा में व्यक्त कर देता है, उसे गीत कहते हैं। गीत सृष्टि की एक विशेष मनोवृति होती है। इच्छा, विचार और भाव उसके आधार होते हैं।" अर्नेस्ट राइस के अनुसार – "सच्चा गीत वही है जो भाव या भावात्मकता विचार का भाषा में स्वभाविक विस्फोट हो।" प्रो गुमरे के मतानुसार 'गीतिकाव्य वह अंतर्वृत्ति निरुपिणी कविता है जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होती है, जिसका संबंध घटनाओं से नहीं अपितु भावनाओं से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था से निर्मित होती है।'

भरत मुनि ने गीत को संगीत का भेद न कहकर संगीत को गीत का भेद माना है। मनुष्य ने गीतों के लिए लय, विराम, गति, आरोह–अवरोह, तुक और भाषा आदि समस्त उपादान प्रकृति और जीवन से ही प्राप्त किया है। गीत आकार में संक्षिप्त होते हैं परंतु उसमें अनुभूति की सघनता और तीव्रता होती है। अधिकांश गीतों में मुखड़े की पंक्तियों के अलावे दो–तीन बंद या अंतरे होते हैं। गीत–रचना में शब्दार्थ की एकात्मता गीत–वैशिष्ट्य का बीज मंत्र कही जा सकती है। गीत विधा के प्रमुख तत्व निम्न हैं – मुखड़ा, टेक, अंतरा या बन्द, पूरक पंक्ति, लय, तुकांत, स्वर का उतार–चढ़ाव आदि। गीत के प्रारंभ की पंक्ति अथवा पंक्ति समूह मुखड़ा कहलाता है। इसमें सामान्यतः एक से चार तक पंक्तियां होती है। मुखडे की जिस पंक्ति को अंतरे के अंत में जोड़कर दुहरायी जाती है, उसे टेक कहा जाता है। मुखडे के बाद का वह पंक्ति समूह जिसके बाद टेक दुहरायी जाती है और प्रायः मुखड़े को भी गाया जाता है, उस पंक्ति समूह को अंतरा या बन्द कहा जाता है। सामान्यतः गीत में दो या अधिक अंतरे होते हैं। अंतरे की अंतिम पंक्ति को पूरक पंक्ति कहते हैं। इसके साथ टेक को मिलाकर गाया जाता है। तथा टेक और पूरक पंक्ति की लय समान होती है। शब्दों के प्रवाह की मधुर गति को लय कहा जाता है। मुखड़े की पंक्तियों में और अंतरे की पंक्तियों में तुकांत का निर्वाह किया जाता है। पूरक पंक्ति का टेक से तुकांत किया जाता है। गीत विधा में स्वरान्त पर आधारित ध्वन्यात्मक तुकांत को भी मान लिया जाता है। चूँकि गीत विधा में गेयता की प्रमुखता होती है, अतः गीत में शब्द उच्चारण में स्वरों का उतार चढ़ाव भी

स्वीकार किया जाता है। शब्द की वर्तनी शुद्ध होनी चाहिए। एक उत्कृष्ट गीत में मुखड़ा, टेक, अंतरा, पूरक पंक्ति, लय और तुकांत का सही रूप में निर्वहन होना आवश्यक है।

भावों और विचारों के बेहतर समन्वय के साथ–साथ गीतात्मकता का उचित संतुलन भी एक सफल गीत रचना के लिए आवश्यक है। छंदशास्त्र के नियमों को ध्यान में रखकर भी गीत लिखे जाते हैं और उन्मुक्त गायन के लिए भी गीतों की रचना होती है। गीत का जीवन–जगत के भावों से गहरा संबंध होता है इसलिए गीतों की रचना प्रक्रिया जटिल होती है। गीत मानव जीवन का स्वर है। मनुष्य की स्वयं तथा लोक पर जययात्रा के प्रारंभिक चरण से गीत उसके साथ रही है। गीत विस्तारवादी नहीं होता, गीत की रचना स्वयं को सुनाने के लिए भी की जाती है। संक्षिप्तता और शालीनता गीत का श्रृंगार है। गीत मृत्युंजय है, कालजयी है। गीतकाव्य की विभिन्न परिभाषाओं तथा तत्वों पर विचार करने के पश्चात गीत की निम्नलिखित प्रमुख प्रवृतियां या विशेषताएं सामने आती हैं –

वैयक्तिकता – वैयक्तिकता या आत्मनिष्ठा गीतों की प्रमुख विशेषता है। गीत में कवि की अनुभूतियों का प्राधान्य रहता है। गीतों में वैयक्तिकता के महत्व के विषय में हडसन लिखते हैं कि वैयक्तिकता की छाप गीत काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है किंतु वह व्यक्ति वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवी भावनाओं पर आधारित होती है जिससे पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं से तादात्म्य स्थापित कर सके। यह गीत की विशेषता है कि इसमें अभिव्यक्ति आत्मपरक होते हुए भी सब की अनुभूति बन जाती है। प्रत्येक पाठक और श्रोता गीतकार की अनुभूति से संबंध स्थापित कर लेता है।

भावप्रवणता – गीत में हृदय की कोमल भावनाओं का स्फुरण होता है। हृदय की सुख–दुरूखात्मक वृत्तियां ही गीत का आधार बनती हैं। कवि के अंतर की अनुभूति जब घनीभूत होकर अपनी तीव्रता की चरम सीमा पर पहुंच जाती है तभी गीत का जन्म होता है। करुणा के भाव को गीत का स्रोत माना गया है। अच्छा भाव तत्व गीत की आत्मा है।

संगीतात्मकता या गेयता – इसको गीत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व कहा गया है। कोई काव्य रचना यदि संगीत के स्वरों में या लय में गायी नहीं जा सकती तो उसे गीत नहीं कहा जा सकता। गेयता का अर्थ ताल, लय और स्वर के संधान से है। सुख–दुरूखात्मक अंतः प्रेरणाओं के भार से दबकर जब स्वर स्वतरू फूटता है तो उसमें ताल, लय आदि का विधान स्वतरू हो जाता है। विश्व के सभी भाषाओं के जितने भी श्रेष्ठ गीत हैं, वे सभी गेय हैं।

संक्षिप्तता – सामान्यतः गीत आकार में छोटे होते हैं। उसमें प्रबंधात्मक विस्तार नहीं होता है। सघन और मार्मिक अभिव्यक्ति गीत में संक्षिप्तता के साथ व्यक्त होती है। दीर्घता या अत्यधिक लंबे होने को गीत का दुर्गुण माना गया है। संक्षिप्तता के कारण ही गीत तीक्ष्ण प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। अधिकांश श्रेष्ठ गीतों में दो से तीन अंतरे मिलते हैं।

कोमलकांत पदावली और सहज भाषा शैली – गीतों में कोमल कांत पदावली का प्रयोग होना आवश्यक है। गीतों में व्यक्त भावनाओं के अनुसार ही सरल और सहज शब्दों का चयन किया जाना चाहिए। कठोर और कर्कश शब्दों के प्रयोग से गेयता के नष्ट होने का डर रहता है तथा इससे लय में भी बाधा उत्पन्न होती है। सामान्यता गीत में कठोर एवं कर्ण–कटु लगने वाले वर्णों और शब्दों का प्रयोग वर्जित माना जाता है।

प्रभावान्विति – गीतों में सामान्यतः किसी एक मार्मिक अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है जिससे उसमें एकसूत्रता उत्पन्न होती है। जिस गीत में जितनी प्रभावान्विति होगी, वह गीत उतना ही सुंदर होगा। प्रभावान्विति के कारण ही गीत

एक स्वतंत्र और पूर्ण रचना कहलाती है। इसके कारण ही गीत का आकार भी संक्षिप्त होता है और उसमें सघनता और मार्मिकता बनी रहती है।

सौंदर्यमयी कल्पनाशीलता – गीतों में अनुभूतियों को सौंदर्यमयी कल्पना के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इसके लिए प्रतीक, अलंकार, रुप–विधान, बिम्ब–विधान आदि का आश्रय लिया जाता है। इसके प्रयोग से गीतों में नवीन सौंदर्य का समावेश होता है। इसके अतिरिक्त अंतर्जगत का चित्रण, सहज स्फुरित उद्‌गार या उद्रेकता, संवेदनात्मक एकता, अनुभूति की तीव्रता और गहनता, निर्बन्धता आदि गीतों की अन्य प्रमुख विशेषताएं हैं।

भारतीय गीत काव्य की परंपरा विश्व साहित्य में सबसे पुरानी है। मानव इतिहास के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में मानव इतिहास के सर्वप्रथम गीत पाए जाते हैं। ये गीत प्रकृति व ईश्वर के प्रति सुखद, आश्चर्य, रोमांच एवं श्रद्धा भाव के गीत हैं। यही सृष्टि के प्राचीनतम गीत हैं जिनकी पृष्ठभूमि पर परवर्ती काल में लोकगीतों–गीतों के विविध भाव– रूपों में समस्त संसार में काव्य का विकास हुआ। यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद में इनका विकसित रूप दिखाई पड़ता है। सामवेद तो स्वयं गीत का ही वेद है। वैदिक गीत स्वर–प्रधान थे और छंदों में वर्णनात्मकता प्रधान थे। संस्कृत साहित्य में गीत काव्य प्रमुखता से रचा गया। कालिदास रचित मेघदूत और ऋतुसंहार तथा जयदेव का 'गीतगोविंद' श्रेष्ठ गीत काव्य हैं। मेघदूत को भारतीय साहित्य का प्रथम गीतिकाव्य कहा जाता है।[5] सिद्धों के गीत हिंदी के प्रथम लिखित गीत हैं। वेदों में गीत के दो प्रकार मिलते हैं – ऋक और गाथा। सिद्धों के द्वारा रची गये गीत ऋक कहलाये और नाथों द्वारा रचित गीत गाथा कहे गए। हिंदी साहित्य के आदिकाल में अधिकांश ग्रंथ गेय शैली में लिखे गए। इन दिनों में राजा तथा प्रजा को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने तथा रानियों–स्त्रियों को सतीत्व की रक्षा के लिए प्रेरित करने का भाव निहित है। अमीर खुसरो की रचनाओं में भी गीति शैली का उत्कृष्ट नमूना प्राप्त होता है। अमीर खुसरो के झूले के गीतों में लोकगीतों का माधुर्य झलकता है। लोकगीतों की टेक पद्धति का प्रयोग सबसे पहले खुसरो ने ही किया। विद्यापति हिंदी गीत काव्य परंपरा के आदि प्रवर्तक हैं। विद्यापति ने मैथिली भाषा में राधा और कृष्ण की लीलाओं का संगीतमय गान किया है जो आज भी लोकप्रिय है। भक्तिकाल में कबीर, मीरा, सूर आदि हिंदी कवियों ने सुंदर और मार्मिक गीतों की रचना की है। वैष्णवों के लीला के पद, विनय के पद तथा निर्गुणवादियों के शब्द विशिष्ट राग–रागिनी में रचे गए थे। "हिंदी में जो गीत प्रचलित हैं उनमें कबीर के गीत शायद सबसे प्राचीन हैं। सूर के गीत साहित्यिक महत्व रखते हैं, तुलसी के भी ऐसे ही हैं। मीरा संगीत की देवी है। जनता में कबीर से मीरा तक सभी के गीत प्राणों की संपत्ति है। आज तक इन्हीं गीतों के आधार पर लोग अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को पकड़े हुए हैं। संत पदावली से एक बहुत बड़ा उपकार जनता का हुआ। जहां संगीत की कला दरबार में तरह–तरह की उखाड़–पछाड़ों से पीड़ित हो रही थी, भावपूर्ण सधा–सीधा स्वर लुप्त हो रहा था, वहां भक्त साधक और साधिकाओं के रचे गीत और स्वर यथार्थ संगीत की रक्षा कर रहे थे।"[6] रीतिकाल में गीतों का विकास एक तरह से थम गया। रीतिबद्ध रचना की लोकप्रियता और दरबारी मनोवृति के कारण रीतिकाल में गीतों का समुचित विकास नहीं हो सका। आधुनिक काल में गीतकाव्य के विकास में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी योगदान दिया। भारतेंदु के गीतिकाव्य में दो धाराएं मिलती हैं। एक विद्यापति, चंडीदास, सूर, तुलसी, मीरा की परंपरा वाली प्राचीन शैली तो दूसरी शैली उन राष्ट्रीय गीतों की जिनमें हृदय की करुणा का स्त्रोत उमड़ पड़ा है। चंद्रावली नाटिका का गीत 'पिय तोहि कैसे हिये राखौं छिपाय' प्रथम शैली का

उदाहरण है तो 'आवहु रोवहु सब मिलि कै भारत भाई। हां हां भारत दुर्दशा देखी न जाई' दूसरी शैली का उदाहरण है। द्विवेदी युग में श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त आदि ने गीतिकाव्य को अपनी लेखनी से संवारा। छायावाद गीत प्रधान काल था। प्रसाद निराला और महादेवी वर्मा समेत इस दौर के सभी महत्वपूर्ण कवियों ने गीतों की रचना की। निराला और महादेवी वर्मा के गीत अपना विशेष महत्व रखते हैं। छायावादोत्तर काल के गीतकारों में बच्चन, जानकी वल्लभ शास्त्री, गोपालदास नीरज आदि गीतकार प्रसिद्ध है प्रगतिवाद और नई कविता के समानांतर आगे बढ़ते हुए हिंदी गीत काव्य का विकास स्वतंत्रता के बाद नवगीत और जनगीत या जनवादी गीतों के रूप में हुआ।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला (21 फरवरी 1896 – 15 अक्टूबर 1961) आधुनिक हिंदी कविता के प्रसिद्ध कवि और गीतकार थे। निराला आधुनिक हिंदी गीत काव्य के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उन्हें हिंदी नवगीत का प्रवर्तक और आरंभकर्ता माना जाता है। निराला का जन्म बंगाल के मेदिनीपुर जिले की महिषादल रियासत में वसंत पंचमी के दिन हुआ था। निराला जी ने काव्य रचना का प्रारंभ अपने विद्यार्थी जीवन से ही कर दिया था। निराला का जीवन दुःख और संघर्षों से भरा रहा। इसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व, जीवन और रचनाकर्म पर भी पड़ा। दुःखदग्ध मानव की वेदना के कवि निराला ने कालजयी गीतों की रचना की है। उनका 'सरोज स्मृति' हिंदी का सर्वश्रेष्ठ शोकगीत है। निराला असहाय, दीन–दुखियों के दुखों के गीतकार हैं। सामाजिक यथार्थ का वर्णन, स्वतंत्रता प्राप्ति का स्वप्न, मुक्ति की आकांक्षा, प्रेम और सौंदर्य आदि उनके गीतों के मुख्य विषय हैं। छायावाद के दौर में महादेवी वर्मा और निराला ने हिंदी गीतों को उत्कृष्टता के शिखर तक पहुंचाया। उनके गीत हिंदी गीतकाव्य की धरोहर हैं। निराला के गीत परंपरा का विकास और विस्तार आगे चलकर हिंदी के प्रगतिशील कवियों ने भी किया। गीत की यही परंपरा जो सिद्धों–नाथों तथा विद्यापति और अमीर खुसरो से होते हुए चली आ रही थी और जिसे निराला जैसे समर्थ रचनाकार विकसित और संवर्धित कर रहे थे बाद में आगे जाकर नवगीत और जनगीत के रूप में प्रतिफलित होती हुई दिखाई पड़ती है। नवगीत आंदोलन के उभार के बाद छायावादी गीत की परंपरा का लगभग अवसान हो गया लेकिन फिर भी निराला की समर्थ गीत प्रतिभा नवगीतकारों को लगातार प्रेरणा देती रही। निराला के गीत छंद में भी हैं और मुक्त छंद में भी। परंतु उनके मुक्त छंद के गीतों में भी सर्वत्र गेयता विद्यमान है। निराला जी ने गीतों में छंद संबंधी अनेक प्रयोग भी किए हैं। गीतिका की भूमिका में उन्होंने संगीत और काव्य के संबंध में एक सूक्ष्म विवेचन भी प्रस्तुत किया है। निराला के वे गीत जिनमें छोटे–छोटे छंदों का प्रयोग हुआ है बहुत ही सफल हुए हैं। अर्चना में ऐसे कई सुंदर गीत संकलित हैं –
अट नहीं रही है।

आभा फागुन की तन, सट नहीं रही है।
कहीं सांस लेते हो, घर–घर भर देते हो,
उड़ने को नभ में तुम, पर–पर कर देते हो
आंख हटाता हूं तो हट नहीं रही है।7

इन गीतों में छोटे छंद, सरल और मुहावरेदार भाषा, लोक जीवन के संदर्भ, और गहरी तथा तीव्र संवेदना के कारण एक नवीन अनुभूति की संरचना हुई है।

'राग–विराग' गीतकाव्य की दृष्टि से कवि–गीतकार निराला की प्रतिनिधि रचना है। इस पुस्तक के संपादक डॉ रामविलास शर्मा हैं। राग विराग में संग्रहित निराला के गीत विविध विषयक हैं। निराला ने बहुत से विषयों पर गीत लिखे हैं।

संपादक डॉ रामविलास शर्मा ने निराला के प्रायः प्रत्येक प्रकार के गीतों का चयन और संकलन इस पुस्तक में किया है। निराला के गीतों का स्रोत इस संसार में और इसी धरती पर है। निराला के गीतों में सुख और दुःख दोनों के भाव मिलते हैं। पुस्तक की भूमिका में रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि – "इस कविता संग्रह का नाम है: राग–विराग। यह उन कविताओं का संग्रह है जिनमें जितना आनंद का अमृत है, उतना ही वेदना का विष। कवि चाहे अमृत दे, चाहे विष, इनके स्रोत इसी धरती में हो तो उसकी कविता अमर है।" राग विराग में संकलित गीतों को तीन चरणों में विभक्त किया गया है। इस संग्रह में संकलित गीतों के अंतर्गत निराला के समूचे कृतित्व का सार तत्व संकलित करने का प्रयास किया गया है। प्रथम चरण के अंतर्गत सन 1921–36 तक रचे गीत, द्वितीय चरण के अंतर्गत सन 1937–46 के मध्य रचे गीत और तृतीय चरण के अंतर्गत सन 1950–61 तक की रचनाएं संकलित की गई हैं। इसकी विशेषता यह है कि प्रथम चरण जहां कवि के उल्लास पूर्ण यौवन का चरण है वही द्वितीय चरण कवि के संघर्षपूर्ण जीवन का चरण और तृतीय चरण उनके प्रौढ़ चिंतनयुक्त अवकाश का चरण है।

गीति तत्वों की वैयक्तिकता या आत्माभिव्यक्ति, संगीतात्मकता, भाव–प्रवणता और संक्षिप्तता नामक प्रमुख चार कसौटी मानी गई है। इन कसौटियों के आधार पर भी राग–विराग के गीत श्रेष्ठ हैं। राग–विराग में निराला के गीतिका (1936), परिमल (1940), अनामिका (1923), बेला (1946), अणिमा (1943), नये पत्ते (1946), गीतगुंज, अर्चना (1950), आराधना (1953), और सांध्य काकली जैसे महत्वपूर्ण संग्रहों से कुल 130 गीतों को चयनित कर संकलित किया गया है। राग विराग में संकलित निराला के गीतों की मुख्य विशेषताओं में सामाजिक चेतना और देश–दशा, देश–भक्ति, प्रेम और सौंदर्य, भक्ति–भाव, प्रतिरोध आदि हैं। इनके अलावा इस संग्रह में प्रार्थना–परक और प्रकृति–परक गीत भी शामिल हैं।

हिंदी के प्रमुख छायावादी कवि निराला की कविताओं और गीतों में सामाजिक चेतना और देश–दशा का व्यापक चित्रण हुआ है। छायावाद आधुनिक हिंदी कविता का स्वर्ण काल कहा जाता है। ऐसे में इस दौर के श्रेष्ठ कवि निराला के गीतों का महत्व भी निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। पराधीन भारत की जनता के दुःख–दर्द और उनकी समस्याओं को शब्दों में ढ़ालने वाले निराला अपनी वेदना को सामाजिक वेदना के साथ मिलाकर अपने गीतों में अभिव्यक्त करते हैं। 'गीत गाने दो मुझे तो, वेदना को रोकने को' जैसी पंक्तियां इसका उदाहरण है। दीन–हीन जन की मुक्ति और शक्ति के गीत निराला लगातार लिखते रहें। अंग्रेजी राज में शोषण के दुष्चक्र में फंस कर भारतीय जनता की स्थिति अत्यंत ही दयनीय हो गई थी। दूसरे का शोषण करने वाली, खून चूसने वाली अंग्रेजी सत्ता और देशी जमींदारों का वर्ग जनता की आकांक्षा और उनके सपनों को कुचल रही थी। ऐसे में निराला शोषण से त्रस्त जनता के भीतर सामाजिक चेतना जागृत करने का प्रयास करते हैं। अमीरी–गरीबी ,ऊंच–नीच, जाति–पाति और शोषण से मुक्त समाज की स्थापना के लिए आवश्यक सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति निराला के गीतों में हुई हैरू

जल, जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ !
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अंधेरे का ताला,

एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ।[8]

पराधीन भारत अनेक राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से ग्रसित था। तत्कालीन समय में देश–दशा अत्यंत खराब और दुखद थी। अपने समय और समाज के एक सजग रचनाकार होने के नाते निराला की उनपर गहरी नजर थी। एक तरफ अंग्रेज देश की संपत्ति को लूट रहे थे तो दूसरी तरफ देसी जमींदार और साहूकार जैसे शोषकों तथा जातिगत वैमनस्य के कारण भारतीय समाज लगातार खोखला होता जा रहा था। निराला इस त्रासद स्थिति से निकलने के लिए स्वराज, देशभक्ति और सामाजिक एकता की भावना पर जोर देते हैं:

देश की भक्ति से,
निर्विरोध शक्ति से,
राज अपना होगाय
जमींदार, साहूकार अपने कहलाएंगे
शासन की सत्ता हिल जाएगी
हिंदू और मुसलमान
वैरभाव भूलकर जल्द गले लगेंगे।[9]

सामाजिक चेतना और देश–दशा के उत्थान के लिए निराला राष्ट्र की स्वाधीनता और जनता की मुक्ति को आवश्यक मानते हैं। अभाव और मुसीबत में दिन काटती हुई, स्वाधीनता के लिए संघर्षरत जनता की वेदना को निराला ने अपने गीतों में अभिव्यक्ति प्रदान की है।

निराला के गीतों में देशभक्ति की भावना का सुंदर समावेश हुआ है। राग–विराग में संकलित निराला के कई गीत देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत हैं। निराला के गीतों में देशभक्ति की भावना कहीं प्रार्थना के रूप में प्रकट हुई है तो कहीं सीधे–सीधे। निराला पराधीन भारत की स्वाधीनता के लिए संघर्षरत जनता के गीतकार हैं। निराला ने अपने प्रसिद्ध गीत श्वीणावादिनी वर देश में भारत की स्वतंत्रता और मुक्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की है रू

वर दे, वीणावादिनी वर दे !
प्रिय स्वतन्त्र–रव अमृत मंत्र नव
भारत में भर दे !
काट अन्ध–उर के बन्धन–स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झरय
कलुष–भेद–तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे !
नव गति, नव लय, ताल–छंद नव,
नवल कंठ, नव जलद–मन्द्ररवय
नव नभ के नव विहग वृंद को
नव पर, नव स्वर दे ![10]

यह गीत सामान्य तौर पर सरस्वती वंदना मालूम पड़ती है परंतु इस गीत में भारत की पराधीनता से मुक्ति और स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रबल आकांक्षा निहित है। कवि देश में फैले गुलामी की अंधकार को दूर कर स्वतंत्रता और स्वाधीनता का प्रकाश सारे जग में बिखेरने की प्रार्थना ईश्वर से करता है। साथ ही मनुष्य और प्रकृति के तमाम अवयवों के लिए नवीनता की मांग करता है। निराला देश को केवल पराधीनता के बंधन से ही नहीं बल्कि तमाम तरह के बंधनों से मुक्त देखने के आकांक्षी हैं। क्योंकि श्टूटें सकल बन्ध कलि के, दिशा–ज्ञान–गत हो बहे गन्धश से ही श्भारती जय विजयकरे! कनक–शस्य–कमलधरे! का स्वप्न पूर्ण होगा। रागविराग में श्जागो फिर एक बारश, श्वर दे वीणावादिनी वर देश, श्भारती जय विजयकरेश, श्टूटे सकल बन्ध कलि केश तथा श्46 के विद्यार्थियों के देश प्रेम के

सम्मान में लिखा गीत श्खून की होली जो खेलीश आदि देशभक्ति से संबंधित गीत संकलित हैं।

निराला ने प्रेम और सौंदर्य से संबंधित कई सुंदर गीत लिखे हैं जो राग विराग में संकलित हैं। निराला के सौंदर्य का आधार यह धरती है। इस धरती के सौन्दर्य से निराला का मन बहुत मजबूती से बँधा हुआ है। निराला को प्रकृति के कण–कण का सौंदर्य आकर्षित करता है। वसंत निराला की प्रिय ऋतु है। निराला ने प्रकृति और नारी सौंदर्य के कई सुंदर गीत रचे हैं। सौंदर्य के प्रति प्रबल आकर्षण होने के बावजूद निराला के गीतों में प्रेम और सौंदर्य की भावना नियंत्रित और उदात्त है। फूलों का रंग, माटी की महक और धरती के आकर्षण का सौंदर्य निराला को बहुत आकर्षित करता है :

रँग गई पग–पग धन्य धरा
हुई जग जगमग मनोहरा।
वर्ण गन्ध धर, मधु–मरन्द भर,
तरु–उर की अरुणिमा तरुणतर
खुली रूप कलियों में पर भर
स्तर–स्तर सुपरिसरा।[11]

प्रेम से संबंधित निराला का एक बहुत प्रसिद्ध गीत है 'बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु ! पूछेगा सारा गाँव, बन्धु! आकार में बेहद संक्षिप्त यह गीत हिंदी के सर्वश्रेष्ठ प्रेम गीतों में से एक है। मानवी प्रेम और सौंदर्य की अभिव्यक्ति का यह गीत अपने भीतर प्रेम, करुणा और समर्पण का भाव समेटे है। इस गीत में निराला की प्रेमानुभूति बहुत गहरी है। इस गीत में वे अपनी दिवंगत पत्नी का भी स्मरण करते हैं। संवादधर्मी और वेदना प्रधान इस गीत में कवि के सौंदर्यबोध, पत्नी के प्रति गहन प्रेम, उसकी सहनशीलता और सेवा भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है:

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी,
सबकी सुनती थी, सहती थी
देती थी सबके दाँव बन्धु !
'बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु !
*पूछेगा सारा गाँव, बन्धु!*12

राग–विराग में निराला के प्रेम और सौंदर्य से संबंधित अन्य कई गीत संकलित हैं, जिनमें 'सखि, वसंत आया', 'प्रिया के प्रति', 'आंख लगाई तुमसे जबसे, हमने चौन न पाई', 'बातें चलीं सारी रात तुम्हारी, आंखें नहीं खुलीं प्रात तुम्हारी' आदि महत्वपूर्ण हैं।

निराला के गीतों की एक विशेषता उनकी भक्ति भावना भी है। निराला ने भक्ति–भाव से परिपूर्ण कई गीतों की रचना की है। परंतु निराला की भक्ति भावना पारंपरिक भक्त कवियों की भक्ति भावना से अलग और विशिष्ट है। मध्यकालीन संत कवियों की भक्ति भावना जहां प्रभु से मिलन और आत्मकल्याण पर केंद्रित है वहीं निराला की भक्ति–भावना भारत की दीन–हीन–शोषित जनता के उद्धार और कल्याण की कामना से पूर्ण है। भक्ति–भावना का यह आधुनिक ढंग निराला के गीतों की एक अनन्य विशेषता है जिसमें निराला आत्मकल्याण के लिए नहीं बल्कि दलित–पीड़ित और शोषित जनों की मुक्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं :

दलित जन पर करो करुणा।
दीनता पर उतर आये
प्रभु, तुम्हारी शक्ति अरुणा।[13]

निराला की भक्ति भावना पर बंगाल की संस्कृति का व्यापक प्रभाव है। बंगाल की संस्कृति में मातृ शक्ति की आराधना की प्रधानता है। निराला भी मातृशक्ति की स्तुति में गीत रचते हैं। गीतिका में सरस्वती या मातृशक्ति पर अनेक गीत हैं। रहस्यवादी और प्रकृति सौंदर्य के गीतों के बाद इन्हीं की संख्या अधिक है। यह बंगाल का प्रभाव है। बंगभूमि में मात्री शक्ति की उपासना बहुत अधिक होती है। 'निराला का आरंभिक जीवन बंगाल में बीता था। इसलिए मातृशक्ति के प्रति वे समर्पित दिखाई देते हैं। इस मातृ शक्ति की वंदना उन्होंने मुख्यतः तीन रूपों में की है– सरस्वती के रूप में, भारत माता के रूप में और काव्य रचना की प्रेरिका के रूप में।'[14] इसके अलावे राम, कृष्ण, हरि आदि देवताओं से संबंधित भक्तिपरक गीत भी उन्होंने लिखे हैं। राग–विराग में 'जिधर देखिए श्याम विराजे','मॉ अपने आलोक निखारो', 'दूरित दूर करो नाथ','भजन कर हरि के चरण, मन!' आदि श्रेष्ठ भक्ति–भाव से पूर्ण गीत संकलित हैं।

निराला अपने जीवन के अंतिम दौर तक गीत रचना में प्रवृत्त रहे। अपने रचनाकर्म में उन्होंने आदि से अंत तक गीत शैली का निर्वाह किया है। आधुनिक काल में गीत के आरंभिक चरण में ही निराला ने हिंदी गीत को बहुत ऊंचाई प्रदान की। निराला ने अपने गीतों में कथ्य शिल्प और प्रस्तुतीकरण के धरातल पर प्रयोग किये। उनके गीतों में प्रेम, सौंदर्य, परम सत्ता के चरणों में गति और मानव मात्र के प्रति स्नेह और करुणा का भाव अभिव्यक्त हुआ है। 'निराला के गीतों की सफलता इस बात में भी है कि उन्होंने गीत को अपने दीर्घ काल से बिछुड़े सहचर संगीत से भी मिलवाया।'15 लय से पूर्ण निराला के गीतों में काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों का संतुलन दिखाई पड़ता है। मानव मात्र की मुक्ति और शक्ति की कामना से पूर्ण निराला के गीत हिंदी गीतकाव्य की अमूल्य निधि हैं।

संदर्भ :

1. राजेंद्र प्रसाद सिंह, गीतांगिनी, भूमिका से
2. श्री सूर्यकांत त्रिपाठी श्निरालाश, गीतिका, भारती–भंडार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, वि.२००२, भूमिका, पृष्ठ सं. 1
3. वशिष्ठ अनूप, गीत का आकाश, प्रकाशन केंद्र लखनऊ, प्रथम संस्करण, 2010, पृष्ठ सं. 17
4. वही, पृष्ठ सं. 17
5. वही, पृष्ठ सं. 21
6. संदर्भ– 2, पृष्ठ सं. 3
7. रामविलास शर्मा (संपादक), राग–विराग, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण 2014, पुनर्मुद्रण 2018, पृष्ठ सं. 157
8. वही, पृष्ठ सं.137
9. वही, पृष्ठ सं.139
10. वही, पृष्ठ सं.74–75
11. वही, पृष्ठ सं. 43
12. वही, पृष्ठ सं.162
13. वही, पृष्ठ सं.131
14. डॉ विश्वनाथ प्रसाद, आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2011, पृष्ठ सं. 38
15. कन्हैया लाल नंदन (संपादक), श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन, साहित्य अकादमी, द्वितीय संस्करण, 2005, पृष्ठ संख्या सं. 43

***

19वीं शताब्दी में हुए सामाजिक नवजागरण का इतिहास : एक अध्ययन

डॉ. आशा शर्मा *

भारत में नवजागरण का सूत्रपात अठारहवीं सदी से माना जा सकता है। अंग्रेजों के भारत में भारत में आने के साथ भारत का पष्चिम से सम्पर्क था। ईसाई मिशनरियों ने पाश्चात्य सांस्कृतिक तत्वों को भारत के दूर–दराज इलाकों तक पहुँचाया। परिवर्तित सामाजिक आर्थिक व राजनैतिक परिवेश के अनुरूप भारतीय समाज को ढालने की चुनौती को सर्वप्रथम बंगाल, जो आरंभ में अंग्रेजी शासन का केंद्र था, के प्रबुद्ध वर्ग ने स्वीकार किया, जिसके नेता राजा राम मोहन राय थे। वे आधुनिक भारत में सामाजिक–सुधार और नवजागरण के प्रणेता थे। उन्होंने धार्मिक जड़ता अंधविश्वास और कर्मकाण्ड के विरूद्ध जन–अभियान चलाया। दलितोंद्धार आंदोलन के क्षेत्र में एक नई चेतना लाकर शांति के अग्रदूतों दयानंद सरस्वती, राजा राम मोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, ज्योतिवा फुले व दूसरी ओर गुरू नारायण स्वामी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, कांग्रेसी दल व अन्य राजनीतिक दलों का विशेष योगदान रहा। रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से दलितोद्धार आंदोलन चलाकर दलितों के सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की माँग की जा रही थी।

19वीं शताब्दी में समाज में हुए सुधार की बात करें तो मोटे तौर पर हम कह सकते है कि समाज सुधारक कौन है ? वो व्यक्ति जो मानवता और इंसानियत के प्रति किसी भी प्रकार से चिंतित हो, जो अच्छाई के लिये माहौल में बदलाव करना चाहता हो, एक व्यक्ति जो किसी कमजोर वर्ग के लोगों की पीड़ा को सहन नहीं कर सकता हो। वास्तव में एक समाज सुधारक एक आम इंसान होता है जो असाधारण तरीके से मानवता की सेवा करना चाहता है।

❖ राजा राम मोहन राय :–

राजा राम मोहन राय को भारतीय नवजागरण का जनक कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने देश में जागृति लाने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में प्रयासों की पहल की।[1] मिस सोफिया डौवसन कौलेट ने अपनी प्रख्यात पुस्तक ''लाईफ एण्ड लेटर्स ऑफ राजा राम मोहन राय'' में लिखा है कि ''धर्म राजनीति, साहित्य और लोक कल्याण सभी क्षेत्रों में राजा राम मोहन राय ने जो काम किया है, वह भारतीयों द्वारा किये गये सुधार कार्य के इतिहास में सर्वाधिक प्रभावकारी तथा अग्रणीय माना जायेगा। राजा राम मोहन राय का जन्म 22 मई 1772

* पी०-एच० डी० इतिहास विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

ई0 को बंगाल में दारकेश्वर नदी के तट पर स्थित राधानगर गाँव में रमाकान्त राय, पिता और तारिणी देवी माता के घर हुआ। सोलह वर्ष की अवस्था में ही मूर्त्तिपूजा का विरोध करने के कारण उनके पिता ने उन्हें घर से निकाल दिया था। राम मोहन राय का मानना था कि धर्म में सुधार आने से सम्पूर्ण समाज में परिवर्त्तन आयेगा। धर्म की रूढ़िवादिता के कारण स्त्रियों की स्थिति सबसे दयनीय थी। अनपढ़ अधिकारों से वंचित, बाल विवाह से त्रस्त, पर्दे में बंद, विधवा होने पर जीवित जलायी जाने वाली स्त्री के प्रति उनके मन में अत्यन्त करूणा थी। उन्होंने स्त्री के उत्थान, उसकी स्वतंत्रता और उसके प्रति मानवीय व्यवहार में भारतीय समाज का उद्धार संभव माना था।[2] वे धर्म को जाति बंधन से मुक्त करना चाहा था। अतः उसे केवल ब्राह्मणों के अधिकारों तक सीमित नहीं रहने दिया, उनका मानना था कि परम्परागत जाति भेदों को तोड़ना चाहिए, क्योंकि जाति और वर्ग के घेरे में बंद लोगों के लिए विकास के सब पल अवरूद्ध हो जाते है।[3] उन्होंने 20 अगस्त 1828 को ब्रह्म समाज की स्थापना की।

ब्रह्म समाज उस समय के धार्मिक आंदोलनों में सबसे पहला महत्वपूर्ण आंदोलन था। जिसने आधुनिक भारत में विवेक बुद्धि और जागृति का प्रसार किया। राजा राम मोहन राय ने धर्म में सुधार द्वारा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्त्तन लाने की चेष्टा की पर उनकी दृष्टि शोषितों पर निबद्ध थी। उन्होंने सती के उत्तराधिकार नियम, सती प्रथा उन्मूलन, स्त्री शिक्षा आदि के लिए निरंतर आवाज उठायी। कृषकों के भी कष्ट से वे अपरिचित नहीं थे।[4] जाति के प्रश्न को राम मोहन राय ने व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर से ऊपर उठकर इसे राष्ट्रीय प्रश्न बना दिया। यह कहने में वे जरा भी हिचके नहीं थे, कि जाति मनुष्य के लिए है : मनुष्य जाति के लिए नहीं।[5]

राजा राम मोहन राय ने जाति व्यवस्था पर अनेक बार कुछ न कुछ लिखा है। वे इसे एक ऐसी दूषित व्यवस्था मानते थे जो समाज को विभाजित करती है। उन्होंने अपने मित्र को पत्र में लिखा है कि जाति व्यवस्था हिन्दूओं को अनेक श्रेणियों और उपश्रेणियों में बांटकर देशभक्ति की भावना से वंचित कर देती है। ब्राह्मनिकल मैग्जीन में प्रकाशित एक लेख में उन्होंने लिखा था – ''हमें लगभग नौ सौ वर्षों तक अपमान सहना पड़ा है। इसके दो कारणों में एक हमारा अनेक जातियों में विभाजन होना है। जिसके कारण हम संगठित नहीं हो पाते है।'' राजा राम मोहन राय ने अन्तर्जातीय विवाह के लिए भी प्रयास किया। राजा राम मोहन राय का धार्मिक सुधारों का मुख्य उद्देश्य मानव कल्याण था। इसलिए सती जैसी विभत्स प्रथा की ओर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक था।[6]

❖ **दयानंद सरस्वती :–**

उन्नीसवीं सदी में भारत में राजा राम मोहन राय के अतिरिक्त अन्य लोगों ने धार्मिक व सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। इनमें स्वामी दयानंद सरस्वती का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। वे

भारत के धार्मिक व सामाजिक पुनर्जागरण के प्रणेता थे। उन्होंने स्वर्णित अतीत की अच्छाईयों के आधार पर आधुनिक भारत के निर्माण की आधारशिला रखी। उन्होंने मूर्त्ति पूजा का विरोध एवं वैदिक धर्म को पुनर्जीवित किया। सामाजिक जीवन में उन्होंने जाति–पाति, ऊँच–नीच और छूआ–छूत का विरोध किया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की और आर्य समाज ने शुद्धि के माध्यम से अस्पृश्यों को वर्ण व्यवस्था में सम्मिलित कर महत्वों को बढ़ाया। शूद्रों एवं दलितों को वेदों का अध्ययन करने, जनेऊ पहनने, मंत्रोच्चारण करने की स्वतंत्रता प्रदान की। पंजाब सहित उत्तर भारत के अधिकांश क्षेत्रों में शिक्षा के प्रसार में आर्य समाज की महती भूमिका रही है।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने निम्न जाति के लोगों के लिए कार्य किया, उनका मानना था कि कि निम्न जाति के लोगों को भी शिक्षित होने का अधिकार है। यदि शूद्र भूल से भी वेद मन्त्रों को सुन लेता तो उसके कानों में पिघला सीसा डालने की आज्ञा थी। स्वामी जी ने उन्हें वेद मंत्र पढ़ने और सीखने की आज्ञा दी तथा बंधन मुक्त किया। वे समस्त आर्य सनातन को गायत्री की शिक्षा दी और लोगों को बताया कि शिक्षा से भी बढ़कर प्रार्थना बुद्धि की शूद्रता की है, जो हमें परमात्मा से करना चाहिए।[7] भारतीय समाज में निहित बुराईयों के विरूद्ध स्वामी जी ने जब युद्ध छेड़ा तो राजा राम मोहन राय का ब्रह्म समाज, केशवचन्द्र सेन का प्रार्थना समाज पहले से ही इस क्षेत्र में सक्रिय थे। स्वामी जी के विचारों का निचोड़ ''सत्यार्थ प्रकाश'' नामक पुस्तक में दिया गया है कि वेदों के अनुसार जीवन कैसे जीना चाहिए।[8]

स्वामी जी 1875 में आर्य समाज की स्थापना मुम्बई में की। दयानंद सरस्वती अच्छी तरह समझ बए थे कि उनके उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए एक संगठित प्रयास की आवश्यकता थी। स्वामी जी समझते थे कि जैसा संस्था वे बना रहे है, उसे प्रभावशाली बनाने के लिए राजा और जनता दोनों का ही मन व मस्तिषक जीतना होगा। इसलिए इस संस्था का समानतावादी होना अनिवार्य है।[9] स्वामी जी बाल विवाह के विरोधी थे और इसको शारीरिक निर्बलता का कारण मानते थे। उनके विचार से पुरूष के लिए 25 वर्ष व कन्या के लिए 16 वर्ष ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक है। विवाह में वर और कन्या की सहमति को आवश्यक समझते थे। स्वामी जी जाति को जन्माधारित नहीं वरन् कर्म के अनुसार मानते थे। मदिरापान व मांस भक्षण को भी अनुचित मानते थे। आज सारे देश में आर्य समाज की अनेक शाखायें है। शिक्षा क्षेत्र में भी उनका योगदान अद्वितीय है। स्वामी जी ऐग्लो वैदिक (डी. ए. वी.) स्कूल सारे भारत में खोले गए है। स्वामी दयानंद के अनुयायियों द्वारा बनाये गये अस्पताल, पुस्तकालय, सामुदायिक भवन जनता की सेवा आज भी कर रहे है।[10] ''सत्यार्थ प्रकाश'' ही आज तक ऐसी पुस्तक है, जो व्यापक रूप से पढ़ी व सराही जाती है। स्वामी दयानंद सरस्वती का

सबसे बड़ा योगदान भी यही है कि उन्होंने राष्ट्र की चेतना को झकझोड़ कर जगाया। स्वामी दयानंद सरस्वती से पहले व बाद में ऐसा कोई सन्त नहीं हुआ, जिसका भारतीय जीवन पर इतना स्थायी प्रभाव हो।[11]

❖ **ज्योतिबा फुले :–**

दलितों एवं शुद्रों के मसीहा के रूप में ज्योतिबा फुले का नाम इतिहास के पन्नों पर लिया जाता है। तत्कालीन भारतीय समाज में शुद्रों की स्थिति बड़ी ही दयनीय थी। वे गुलामों से भी बदतर जीवन बिताते थे। महात्मा फुले का दृढ़ विश्वास था कि दलितों में शिक्षा के बिना कोई सुधार और चेतना नहीं आ सकती। वह यह भी मानते थे कि दलित स्त्रियों पशुवत जीवन व्यतीत करती है। अगर उन्हें शिक्षित कर दिया जाये तो आने वाले परिवार का स्वरूप ही बदल जायेगा।[12] वह कहते थे जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है और न कोई शुद्र, ये तो कुछ लोगों के सामाजिक, आर्थिक, अधिकार छीनकर उन्हें शिक्षा से वंचित कर दिया। उन्हें राजनीतिक क्रियाकलापों से दूर रखकर दलित और गुलामों की एक पीढ़ी तैयार कर दी गयी। जब तक दलित शिक्षित नहीं होगा, तब तक न ही उसमें सुधार होगा और न ही सफलता प्राप्त होगी। जिससे उनकी आर्थिक विषमता दूर हो, इसलिए उन्होंने संकल्प लिया, कि वे सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक प्रगति के लिए त्रिपक्षीय लड़ाई लड़ेगें।[13]

महात्मा ज्योतिबा फुले ने अपने क्रांतिकारी विचारों से पूरे समाज को अभिभूत किया। उन्होंने दलील दी कि अगर ईश्वर एक है तो गरीब और दीन दलितों के लिए उसके दोहरे मानदण्ड क्यों है ? क्या वह समदर्शी नहीं है ? उन्हें वेद पढ़ने से क्यों रोका गया ? इस प्रकार ज्योतिबा फुले ने एक नया रास्ता, एक नया मंत्र सुझा दिया था। समानता का, सामाजिक न्याय का, शिक्षा के अधिकार का, उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि ज्ञान और विधा किसी विशेष जाति या समाज की बपौती नहीं है। शूद्र और निम्न जाति के लोग भी अवसर मिलने पर विधाधिकारी बन सकते है।[14] कुछ संगठन जैसे ब्रह्म समाज, आस्तिक समाज और प्रार्थना समाज जैसे सुधारवादी संगठन और आंदोलन ऊँची जातियों के लोगों ने आरंभ किये थे। सत्यशोधक समाज ही एक ऐसा संगठन था जिसके संस्थापक निम्न जाति के थे। इसकी स्थापना 23 सितम्बर 1873 को पूना में हुआ। सत्य शोधक समाज के संस्थापकों में कई सदस्य मुस्लिम, ईसाई, पारसी, यहूदी, ब्राह्मण, मराठा, महार माग और माली आदि जातियों से संबंध रखते थे। समाज ने स्पष्ट घोषणा कर रखी थी, कि वह जाति–पाति अस्पृश्यता धर्म संकीर्णता और मनुष्य के हर प्रकार के शोषण के विरूद्ध है।

सत्य शोधक समाज दलितों पर हो रहे अत्याचारों, दमन शोषण के विरूद्ध तथा समाज के संगठित प्रचार–प्रसार से यह दलित लोगों की अकांक्षा का प्रतीक और जागृति का संदेशवाहक बन गया। प्रारंभ से ही सत्य शोधक समाज ने जाति एकता पर बल दिया था। यह दलित जातियों में

समन्वय स्थापित करने के पक्ष में थे, वे सभी शूद्र और दलितों को एक ही मंच पर लाना चाहते थे। दलितों के उद्धार के साथ–साथ समाज सुधारक भी थे। इस संदर्भ में उन्होंने रूढ़ियों का खण्डन किया। सती प्रथा तथा विधवा मुंडन का विरोध तथा विधवा विवाह का समर्थन किया और दीन दलित स्त्रियों के लिए छोटे–छोटे उद्योगों की व्यवस्था की।[15] महात्मा फुले का जीवन इस देश की मनुवादी सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष का वह मजबूत कदम था, जिसने आगे चलकर एक देशव्यापी आंदोलन का रूप धारण कर लिया है। वस्तुतः महात्मा ज्योतिबा फुले को अगर भारत में सामाजिक क्रांति के पितामह की संज्ञा दी जाये, तो यह अतिश्योक्ति नहीं होगी। स्वयं बाबा साहेब अम्बेडकर ने महात्मा ज्योतिबा फुले को अपना गुरू स्वीकार किया।[16]

ज्योतिबा फुले एक ऐसे समाज की संरचना के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे, जिसका आधार सामाजिक और न्यायिक समानता हो। उन्होंने शूद्रों के हितों की रक्षा के लिए तथा महिलाओं के उद्धार के उद्देश्य से एक जबरदस्त आंदोलनप्रारंभ किया था। महाराष्ट्र के कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने महात्मा फुले के कार्यों का विरोध किया था, किंतु वे अपने मार्ग पर अडिग रहे। महात्मा गाँधी ने उन्हें ''वास्तविक महात्मा'' और वीर सावरकर ने उन्हें क्रांतिकारी समाज सुधारक कहा है।[17] 1865 में महात्मा फुले ने ''गुलाम गीरी'' नामक पुस्तक लिखकर शूद्रों के लिए नवीन इतिहास की रचना की और मनुवादी व्यवस्था का सबक सिखाया। उन्होंने महसूस किया कि राजनैतिक गुलामी से सामाजिक गुलामी अत्यंत कष्टदायक है। उन्होंने सामाजिक गुलामी से मुक्ति पाने के लिए ऐतिहासिक साहित्य का अध्ययन किया और शूद्रों की खोज की। इस प्रकार उन्होंने लगभग 40 वर्ष तक दलित शोषितों की सेवा की। हरिजनों के उद्धार हेतु महात्मा फुले ने अनेक कार्यक्रम और सुधार कार्य कर समरसता का परचम लहराया जो उस समय के समाज में साहस की बात थी। इसीलिए 19वीं सदी के महात्मा गाँधी इन्हें अपना मार्गदर्शक मानते थे। शूद्रों को आज जो महत्ता मिला इसके प्रथम प्रणेता महात्मा ज्योतिबा फुले है। इसीलिए भारतीय संविधान के निर्माण डॉ0 अम्बेडकर इन्हें गुरू मानते थे।

महात्मा ज्योतिबा फुले का सारा जीवन दलितों और शोषितों के उद्धार हेतु समर्पित था। वे मानव को स्वाबलंबी व स्वतंत्र देखना चाहते थे। उनकी प्रतिभायें, उनकी शिक्षा, उनका व्यक्तित्व, उनका कृतिव सच्ची मानवसेवा व सच्ची राष्ट्रभक्ति की प्रेरणा देती है। वे मानव की गरिमा, स्वतंत्रता और समानता के प्रबल प्रहरी थे।

❖ **श्री नारायण गुरू :–**

19वीं शताब्दी में देश भर जात–पात, छूआछूत की बुराई से अछूता नहीं था। लेकिन इस सामाजिक बुराई की जड़े केरल में बहुत गहरी जमी थी। अस्पृष्यता ही नहीं अगम्यता जोरों पर थी। वहां के हर व्यक्ति को

अपनी जाति का घमंड था। जो व्यवहार ब्राह्मण अपने से नीची जाति वालों के साथ करते थे वहीं व्यवहार हर नीची जाति वाला अपने से नीचे जाति वालों के साथ करता। अछूत लोग अपने से ऊँची जाति वालों के मंदिरों में नहीं जा सकते थे, उनके बच्चे स्कूलों में पढ़ नहीं सकते, सार्वजनिक कुंओं से पानी नहीं भर सकते, उनके लिए अलग कुंआ होते थे। उन्हें गाँव के अंदर भी नहीं रहने दिया जाता। छोटी–छोटी झोपड़ियां बनाकर गाँव से बाहर रहते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि वहां समाज सुधार का काम सबसे कठिन था जिसका बीड़ा नारायण गुरू ने उठाया।[18] ऐसी परिस्थिति से उबरने के लिए मानसिक क्रांति व नवजागरण की जरूरत थी। केरल के क्षितिज पर ये नवजागरण नारायण गुरू के माध्यम से संभव हुआ।[19]

नारायण गुरू का जन्म 3 सितम्बर 1854 को तिरूवांकुर से सात मील दूर स्थित चेम्पत्ति नामक गाँव में इजवा जाति के एक बहुत ही गरीब घर में हुआ था। घर में उन्हें नानु के नाम से बुलाया जाता था। इन्होंने संस्कृत की शिक्षा, आयुर्वेद तथा ज्योतिष का भी अध्ययन किया। चौबीस–पच्चीस वर्ष की अवस्था में वे घर बार छोड़कर अज्ञात स्थान पर चले गये। कई वर्षों तक उनके बारे में पता न चल सका, पर सुना जाता था कि इस अवधि में उन्होंने अय्यावु नामक तमिल साधक के योग की शिक्षा ली। वो वहीं साधना करते रहें और जंगली पशु तक उनके मित्र बन गये।[20] नीची कही जाने वाली जातियों के बीच में समानता और भाईचारे का प्रचार करने लगे। समानता का प्रचार उन्होंने अपनी इजवा जाति से ही किया। ऊँची जाति वाले इजवा लोगों से बुरा बर्त्ताव करते थे। इजवा लोग अपने से नीची जातियों से बुरा बर्त्ताव करते थे। नारायण गुरू ने कहा अपने से नीचे जातियों को भी अपने समान समझो और उन्हें नये प्रतिष्ठित मंदिरों में प्रवेश करने दो। लोगों ने उनकी बातें मानना शुरू कर दी।[21] उन्होंने सर्वप्रथम अरूविप्पुरम में एक ऐसे मंदिर की स्थापना की। जिसमें देवता की जगह आइने का एक टुकड़ा था। कई शिव मंदिरों की स्थापना की, जिनके पुजारी पिछड़ी और दलित जाति के व्यक्ति होते। यदि कोई और नीचे जाति का व्यक्ति ऐसा काम करता, तो ऊँची जाति वाले उसे नहीं छोड़ते। लेकिन नारायण गुरू का विरोध करने की हिम्मत किसी में नहीं थी। वे विवाह आदि में फिजूल खर्ची व कर्मकाण्ड के विरोधी थे। शिक्षा और उद्योगों को प्रोत्साहन दिया।[22]

परंपरा अंधविश्वास, छुआछूत, असमानता की भावना जर्जर संगठनों, प्रथाओं और मूल्यों को इस आंदोलन से करारी चोट पहुँची। शिक्षा को नारायण गुरू समृद्धि के लिए ही नहीं, ज्ञान के लिए विकास के लिए भी जरूरी समझते थे। एस. एन. डी. पी. योगम प्रचारकों को आदेश था, कि जिस स्थान पर स्कूल कॉलजों की आवश्यकता हो, वे वहां जरूर खोले। उनका प्रयास था कि जिन लोगों की वित्तीय स्थिति अच्छी हो, वे गरीब मेधावी बच्चों को पढ़ाने में हरसंभव प्रयास करे व सहायता दें। एक बार तो

उन्होंने यह भी कहा था कि जब मंदिर की अपेक्षा विद्यालय की ज्यादा आवश्यकता है। उनके सभी मंदिरों में स्कूल तथा पुस्तकालय जरूर होते थे। महिलाओं की शिक्षा पर भी उतना ही जोर देते थे ताकि वे जिन्दगी की दौड़ में पीछे न रह जाये।[23] वे कहते हैं कि धार्मिक परिष्कार का मतलब यह नहीं कि आज के किसी धर्म को तज कर दूसरे किसी धर्म को स्वीकार किया जाये। हमारे सामाजिक संगठनों का लक्ष्य होना चाहिए कि वे सभी लोगों को एक कर दे। धर्म वह है जो वैचारिक स्वतंत्रता की अनुमति दें, सभ्य समाज के लिए स्वीकार्य हो मनुष्य को उद्धत आदर्शों की ओर ले जाने वाला हो।[24]

उन्होंने जगह–जगह आश्रम व मंदिर बनवाये। उनके द्वारा बनवाये गये मंदिरों में सभी जातियों के लोग जा सकते थे। उनके मंदिरों की देखा–देखी और मंदिरों में भी सभी जातियों के लिए खुल गये। उनके दो प्रसिद्ध आश्रम है तिरूवांकुर के निकट बरकल में और कोचीन के निकट अलवाय में अद्वैत आश्रम। नारायण गुरू केवल समाज सुधारक ही नहीं थे वे कवि भी थे, दार्शनिक भी और योगी भी। अछूतोद्धार के बारे में केरल में जितनी अभूत पूर्व प्रगति हुई उतनी भारत के किसी अन्य राज्य में नहीं हुई। वैकोम के इस सत्याग्रह से इस सहयोग की पराकाष्ठा दिखाई देती है।[25] उस महापुरूष ने मनुष्य के लिए एक जाति एक धर्म और एक भगवान का सिद्धांत बुलंद किया और अपने सहयोगियों को बताया कि अनेक विभिन्नताओं के बावजूद मनुष्यों के बीच खान–पान तथा शादी विवाह में कोई ऐतराज नहीं, क्योंकि वे सभी एक ही है। यहीं नहीं नारायण गुरू ने देश का प्रथम धर्म सम्मेलन अलवायें में सन् 1924 में आयोजित किया। जहाँ पारसी, ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, जैन धर्मों के आचार्य आये थे और अपने धर्मों की विशेषताओं से उपस्थित लोगों को अवगत कराया था। यह धर्म सम्मेलन आज भी प्रत्येक वर्ष महाशिवरात्रि के मौके पर अलवाये में आयोजित होता है।

गाँधी जी और श्री नारायण गुरू का दो युग पुरूषों का ऐतिहासिक मिलन भी संभव हुआ। हरिजनों के मंदिर प्रवेश को लेकर प्रसिद्ध वायकोम सत्याग्रह के दौरान केरल में गाँधी जी का दौरा हुआ और शिवगिरी वर्कला में दोनों का विचार विनियम भी हुआ। गाँधी जी को यह जानकर अत्याधिक संतोष हुआ कि भारत के इस दक्षिणी कोने में हरिजन समस्या का अहिंसात्मक हल अथवा पूजा विप्लव गाँधी जी के हरिजन आंदोलन के बहुत पूर्व ही श्री नारायण गुरू सफलता से सम्पन्न कर रहे थे। यह सही है कि गुरू जी की तुलना में गाँधी जी का कार्यक्षेत्र विशाल रहा।

19वीं शताब्दी में भारतीय समाज में जो भी कुरीतियाँ विद्यमान थी उसमें सुधार करने का प्रयास समाज सुधारकों द्वारा किया गया ताकि समाज में लोग समान रूप से जीवन निर्वाह कर सके। सुधार के द्वारा पुरूष एवं स्त्री में व्याप्त जो विभेद था उसको भी दूर करने का प्रयास किया गया। सती प्रथा, बाल विवाह, जाति प्रथा आदि को दूर कर विधवा पुर्नविवाह स्त्री शिक्षा आदि पर जोर दिया गया। धार्मिक भेदभाव को भी विशुद्ध रूप से दूर

करने का प्रयास किया गया। धर्म के नाम पर हो रहे आडंबर पर प्रतिबंध लगाया गया तथा लोगों को समाज में व्याप्त बुराईयों से परिचित कर उससे निजात पाने के लिए मार्गदर्शक का काम समाज सुधारकों द्वारा किया गया।

सन्दर्भ :

1. सिंह पंकज, भारत के नवजागरण के जनक – राजा राम मोहन राय, लखनऊ, 1985, पृ0 – 125
2. वही, पृ0 – 144
3. पाठक उमा, राम मोहन राय, आत्माराम कम्पनी एण्ड सन्स लखनऊ, 1952, पृ0 – 154
4. वही, पृ0 – 155
5. वही, पृ0 – 157
6. वही, पृ0 – 162
7. नागौरी एस. एल. कांता, आधुनिक भारतीय इतिहास की रूपरेखा, नई दिल्ली, 1975, पृ0 – 116
8. दयानंद सरस्वती, महान व्यक्तित्व, नई दिल्ली, 2015, पृ0 – 19–20
9. वही, पृ0 – 50
10. वही, पृ0 – 51–52
11. टाइम्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 4 जनवरी, 1920 से उद्धत।
12. वेसन्तरी, देवेन्द्र कुमार, भारत के सामाजिक क्रांतिकारी, दलित साहित्य प्रकाशन संस्थान, लखनऊ, 1905, पृ0 – 136
13. वही, पृ0 – 120
14. शर्मा, डॉ0 राधा कृष्ण, बाबा साहेब अम्बेडकर, आगरा, 1936, पृ0 – 4
15. वही, पृ0 – 10–11
16. गर्ग राजीव, आधुनिक भारत का इतिहास, आगरा, 1946, पृ0 – 36
17. वही, पृ0 – 56
18. वही, पृ0 – 58
19. कुमार अजय, दलित पैंथर आंदोलन, लखनऊ, 1927, पृ0 – 42–43
20. वही, पृ0 – 96
21. वेसन्तरी, देवेन्द्र कुमार, भारत के सामाजिक क्रांतिकारी, दलित साहित्य प्रकाश संस्था, दिल्ली, 1953, पृ0 – 130–32
22. वही, पृ0 – 138–139
23. पाण्डेय, धनपति, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 1980, पृ0 – 122
24. वही, पृ0 – 134–35
25. वही, पृ0 – 150

***

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की कमियों का अध्ययन

*दुर्गेश कुमार**

उच्च सूचना काल में मानवाधिकार की महत्ता वैश्विक स्तर पर बढ़ी है। मानवाधिकार दार्शनिकों, सामाजिक व राजनीतिक चिंतन का महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। आज जहाँ एक ओर मानव सम्मान व अधिकार के प्रति संलग्नता व महत्ता की बात हो रही है, वहीं दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय नियमों और मानकों का उल्लंघन भी हो रहा हैं। आज सम्पूर्ण विश्व में लोग भूख, बीमारी, अवसरहीनता, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अधिकारों से वंचित है। विश्व की हरेक राजनीतिक व्यवस्थाओं ने मिलकर इसके संरक्षण हेतु संस्थाओं का निर्माण किया। प्रत्येक देश ने अपने संविधान में मानवाधिकार रक्षार्थ व्यवस्थाएँ की व संस्थाओं का निर्माण किया। भारत में राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकार संरक्षण व संवर्द्धन हेतु मानवाधिकार आयोग की स्थापना की गयी। वर्ष 2021 मे राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के 28 वर्ष पूरे हो रहे हैं। आयोग ने लाखों मामलों का निस्तारण कर पीड़ित पक्ष को राहत प्रदान की, देश के लोगों का भरोसा आयोग पर है। साथ ही अपने गठन से ही आयोग विवादों में घिरा रहा है। शोध पत्र मे मानवाधिकार आयोग (भारत) की कमियों का अध्ययन किया है।

मानवाधिकार सुरक्षा अधिनियम (1993) मानवाधिकार संरक्षण (संशोधन) विधेयक (2019) मानवाधिकार आयोग की प्रकाशित रिपोर्ट (1993–2018), अभय प्रसाद सिंह कृष्ण मुरारी (2019) रचना सुचिन्मयी (2016), एच.ओ. अग्रवाल (2014), धरम सिंह (2015), सुधीर कुमार, सतीश कुमार (2019), सत्य नारायण साबत (2015) के अध्ययनों से भारत में मानवाधिकार की स्थिति, सरकारी, गैर सरकारी प्रयास व राष्ट्रीय मानवाधिकार भारत की जानकारी प्राप्त होती है। शोधार्थी ने इनका अध्ययन करते हुए आयोग में व्याप्त कमियों को बताया है। इस आयोग को शाक्तिशाली कैसे बनाया जाय? पर विचार किया गया है।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की स्थापना 12 अक्टूबर, 1993 को हुई। इसके प्रावधान मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम 1993 में निहित हैं। जिसे मानव अधिकार (संशोधन) अधिनियम 2006 व मानवाधिकार संरक्षण (संशोधन) विधेयक 2019 द्वारा संशोधित किया गया। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का गठन 1991 में मानव अधिकारों के संरक्षण और संवर्धन हेतु पेरिस में आयोजित की गयी राष्ट्रीय संस्थानों की पहली कार्यशाला में अंगीकार किए गए तथा बाद में संयुक्त राष्ट्र महासभा के 20 दिसम्बर, 1993 के 48/134 संकल्प में पृष्ठांकित किए गए पेरिस सिद्धान्तों के अनुरूप है।

---

* शोधार्थी, राजनीति विज्ञान, वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय जौनपुर (उ.प्र.)

आयोग मानव अधिकारों के संरक्षण और संवर्धन के प्रति भारत की चिंता का मूर्त रूप है।[1]

मानवाधिकार संरक्षण (संशोधन) विधेयक 2019 की प्रमुख बातें निम्नवत है–

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग एक बहु–सदस्यीय संस्था है। इसके अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली उच्चस्तरीय समिति (प्रधानमंत्री, लोकसभा अध्यक्ष, राज्यसभा का उप–सभापति, संसद के दोनों सदनों के मुख्य विपक्षी नेता तथा केंद्रीय गृहमंत्री) की सिफारिशों के आधार पर की जाती है। अध्यक्ष और सदस्यों का कार्यकाल 3 वर्षों या 70 वर्ष की उम्र, जो भी पहले हो, तक होता है। इन्हें इनके पद से केवल तभी हटाया जा सकता है जब उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की जाँच में इन पर दुराचार या असमर्थता के आरोप सिद्ध हो जाएं। इसके अतिरिक्त आयोग में पाँच विशिष्ट (विधि विभाग, जाँच विभाग, नीति अनुसंधान एवं कार्यक्रम विभाग, प्रशिक्षण विभाग और प्रशासन विभाग) भी होते हैं। राज्य मानवाधिकार आयोग में अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा राज्य के मुख्यमंत्री, राज्य के गृहमंत्री, विधानसभा अध्यक्ष एवं नेता प्रतिपक्ष के परामर्श पर की जाती है।

बदलाव

- **राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (NHRC) का ढाँचा:**[2]
- इस अधिनियम के अंतर्गत आयोग के अध्यक्ष के रूप में केवल उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को ही नियुक्त किया जा सकता था। किंतु संशोधन के पश्चात् अध्यक्ष पद के लिये उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के साथ–साथ उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीश भी योग्य होंगे।
- इस अधिनियम में ऐसे दो सदस्यों की नियुक्ति का प्रावधान था जिन्हें मानवाधिकारों के क्षेत्र की व्यापक समझ एवं ज्ञान हो। संशोधन के बाद इस संख्या को बढ़ाकर तीन कर दिया गया है, इसमें कम–से–कम एक महिला सदस्य का होना आवश्यक है।
- इस अधिनियम के अंतर्गत पूर्व में राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग, राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग तथा राष्ट्रीय महिला आयोग के अध्यक्ष ही मानवाधिकार आयोग के सदस्य होते थे लेकिन अब राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग, बाल अधिकार संरक्षण आयोग के अध्यक्ष तथा दिव्यांगों के लिये मुख्य आयुक्त को भी राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का सदस्य नियुक्त किया जाएगा।
- **राज्य मानवाधिकार आयोग :** संशोधन से पूर्व अध्यक्ष उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को नियुक्त किया जाता था लेकिन अब उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के साथ–साथ उच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीश भी राज्य मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष बन सकेंगें।

- **कार्यकालः** अधिनियम के अंतर्गत राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तथा राज्य मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष का कार्यकाल पाँच वर्ष अथवा 70 वर्ष की आयु (जो भी पहले पूर्ण हो) होती थी। संशोधन के बाद अब इस कार्यकाल को घटा कर 3 वर्ष कर दिया गया है हालाँकि आयु सीमा पूर्ववत ही है। इसके अतिरिक्त 5 वर्ष की अवधि के लिये राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तथा राज्य मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष की पुनर्नियुक्ति का भी प्रावधान किया गया है।
- **शक्तियाँः** अधिनियम के अंतर्गत राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के महासचिव तथा राज्य मानवाधिकार आयोग के सचिव उन्हीं का उपयोग करते थे जो उन्हें सौंपी जाती थी। संशोधन के पश्चात् उपर्युक्त अधिकारी अपने अध्यक्ष के अधीन सभी प्रशासनिक एवं वित्तीय शाक्तियों का उपयोग कर सकेंगे यद्यपि इसमें न्यायिक शाक्तियाँ शामिल नहीं है।
- **संघशासित क्षेत्रः** संशोधन के बाद संघशासित क्षेत्र से संबंधित मामलों को केंद्र सरकार राज्य मानवाधिकार आयोग को प्रदान कर सकती है। किंतु दिल्ली से संबंधित मामले राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग द्वारा निपटाए जाएँगे।
- **राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की शिकायतों की जाँच प्रक्रिया**

शिकायतों की जाँच (धारा 17)

आयोग, मानव अधिकारों के अतिक्रमण की शिकायतों की जाँच करते समय–

1 केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार अथवा उसके अधीनस्थ किसी अन्य प्राधिकारी या संगठन से ऐसे समय के भीतर, जो आयोग द्वारा विनिर्दिष्ट किया जाए, जानकारी या रिपोर्ट माँग सकेगा–

परन्तु

(क) यदि आयोग को नियत समय के भीतर जानकारी या रिपोर्ट प्राप्त नहीं होती है तो वह शिकायत के बारे में स्वयं जाँच कर सकेगा।

(ख) यदि जानकारी या रिपोर्ट की प्राप्ति पर, आयोग का यह समाधान हो जाता है कि कोई और जाँच अपेक्षित नहीं है अथवा अपेक्षित कार्रवाई संबंधित सरकार या प्रधिकारी द्वारा आरंभ कर दी गई है या की जा चुकी हैं तो वह शिकायत के बारे में कार्यवाही नहीं कर सकेगा और शिकायतकर्ता को तद्नुसार सूचित कर सकेगा।

2 खंड (1) में अंतर्विष्ट किसी बात पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, यदि आयोग, शिकायत की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए आवश्यक समझता है तो जाँच आरम्भ कर सकेगा।

- **जाँच के दौरान और जाँच के पश्चात् कार्रवाई (धारा 18)**[3]

आयोग, इस अधिनियम के अधीन की गई किसी जाँच के दौरान उसके पूरा होने पर निम्नलिखित कार्रवाई कर सकेगा, अर्थात्:–

(1) जहाँ जाँच से किसी लोक सेवक द्वारा मानव अधिकारों का अतिक्रमण या मानव अधिकारों के अतिक्रमण के निवारण में उपेक्षा या मानव

अधिकारों के अतिक्रमण का उत्प्रेरण प्रकट होता है, तो वहाँ वह संबंधित सरकार या प्राधिकारी को–

(क) शिकायतकर्ता या पीड़ित व्यक्ति या उसके कुटुम्ब के सदस्यों को ऐसा प्रतिकर या नुकसानी का संदाय करने की सिफारिश कर सकेगा, जो आयोग आवश्यक समझे।

(ख) संबंधित व्यक्ति या व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन के लिए कार्यवाहियाँ आरम्भ करने या कोई अन्य समुचित कार्रवाई करने के लिए, सिफारिश कर सकेगा, जो आयोग ठीक समझे।

(ग) ऐसी अन्य कार्रवाई करने की सिफारिश कर सकेगा, जिसे वह ठीक समझे–

(2) उच्चतम न्यायालय या संबंधित उच्च न्यायालय को ऐसे निर्देश, आदेश या रिट के लिए जो, वह न्यायालय आवश्यक समझे, अनुरोध करना।

(3) जाँच के किसी प्रक्रम पर सम्बद्ध सरकार या प्राधिकारी को पीड़ित व्यक्ति या उसके कुटुम्ब के सदस्यों को ऐसी तत्काल अन्तरिम सहायता मंजूर करने की, जो आयोग आवश्यक समझे, सिफारिश करना।

(4) खण्ड (ड) के उपबंधों के अधीन रहते हुए, जाँच रिपोर्ट की प्रति अर्जीदार या उसके प्रतिनिधि को उपलब्ध कराना।

(5) आयोग अपनी जाँच रिपोर्ट की एक प्रति अपनी सिफारिशों सहित, संबंधित सरकार या प्राधिकारी को भेजेगा और संबंधित सरकार या प्राधिकारी, एक मास की अवधि के भीतर या ऐसे और समय के भीतर, जो आयोग अनुज्ञात करे, रिपोर्ट पर अपनी टीका–टिप्पणी आयोग को भेजेगा जिसके अंतर्गत उस पर की गई या की जाने के लिए प्रस्तावित कार्रवाई है।

(6) आयोग, संबंधित सरकार या प्राधिकारी की टीका–टिप्पणी सहित, यदि कोई हो, अपनी जाँच रिपोर्ट तथा आयोग की रिफारिशों पर संबंधित सरकार या प्राधिकारी द्वारा की गई या की जाने के लिए प्रस्तावित कार्रवाई को प्रकाशित करेगा।

- **सशस्त्र बलों की बाबत प्रक्रिया (धारा 19)**

1. इस अधिनियम में किसे बात के रहते हुए भी, आयोग सशस्त्र बलों के सदस्यों द्वारा मानव अधिकारों के अतिक्रमण की शिकायतों के बारे में कार्रवाई करते समय, निम्नलिखित प्रक्रिया अपनाएगा, अर्थात्:–

   (क) आयोग स्वप्रेरणा से या किसी अर्जी की प्राप्ति पर केंन्द्रीय सरकार से रिपोर्ट माँग सकेगा।

   (ख) रिपोर्ट की प्राप्ति के पश्चात् आयोग, याथास्थिति, शिकायत के बारे में कोई कार्यवाई नहीं करेगा या उस सरकार को अपनी सिफाारिशें कर सकेगा।

2. केन्द्रीय सरकार, सिफारिशों पर की गई कार्यवाई के बारे में आयोग को तीन मास के भीतर या ऐसे और समय के भीतर जो आयोग अनुज्ञात करे, सूचित करेगी।
3. आयोग, केन्द्रीय सरकार को की गई अपनी सिफारिशों तथा ऐसी सिफारिशों पर उस सरकार द्वारा की गई कार्यवाई सहित अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करेगा।
4. आयोग, उपधारा (3) के अधीन प्रकाशित रिपोर्ट की प्रति, अर्जीदार या उसके प्रतिनिधि को उपलब्ध कराएगा।

- **आयोग की कमियाँः ए.पी. जितेन्द्र रेड्डी का दृष्टिकोण** [4]

आयोग में सदस्यों की चयन प्रक्रिया ही त्रुटिपूर्ण है। इसके अध्यक्ष और सदस्यों का चुनाव सत्तासीन पार्टी करती है। सबसे पहले तो चयन समिति के सदस्यों को अलग–अलग क्षेत्रों से लाया जाना चाहिए।

दूसरे आयोग के सदस्यों की चयन प्रक्रिया भी बड़ी अस्पष्ट है। अक्सर तो सरकार इसकी रिक्तियों का खुलासा ही नहीं करती है। चुने जाने वाले सदस्यों की योग्यता का भी कोई निश्चित पैमाना नहीं है। यही कारण है कि इसके किए जाने वाले चुनाव विवादास्पद रहे हैं। सरकार को चाहिए कि वह चयन प्रक्रिया में पारदर्शिता को बढ़ाए।

आयोग में न्यायिक प्रतिनिधित्त्व की प्रधानता रही है इसके पीछे तर्क यह दिया जाता है कि आयोग में न्यायिक पक्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, अतः यह उचित है। लेकिन वास्तव में तो आयोग के 10 कार्यकलापों में से मात्र एक ही न्यायिक क्षेत्र से जुड़ा होता है।

न्यायिक प्रतिनिधित्त्व के पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि यह सरकार के लिए विश्वसनीय है। इसके बावजूद आयोग की अतिरिक्त निधि की माँग का लंबित पड़े रहना, समझ से परे की बात है।

संशोधन अधिनियम के माध्यम से सरकार मानवाधिकार के जिन लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहती है, वह समाज के प्रतिष्ठित नागरिक और ऐसे शिक्षाविदों को शामिल कर प्राप्त किया जा सकता है, जिनका मानवाधिकार के विकास में पर्याप्त योगदान रहा हो। इसके लिए जमीनी स्तर पर कार्य कर रही संस्थाओं या व्यक्तियों तक पहुँचा जाना चाहिए।

मानवाधिकारों के मामलों में की जाने वाली जाँच–पड़ताल में भी सुधार की बहुत आवश्यकता है। इन मामलों में जिन पुलिसकर्मियों को प्रतिनियुक्ति पर भेजा जाता हैं।, उनकी निष्ठा अपने मूल कैडर के साथ ही जुड़ी रहती है। निष्ठा के अभाव में काम करते हुए इन अधिकारियों को अक्सर कानून प्रवर्तन अधिकारी द्वारा दोषी ठहरा दिया जाता है। इंटेलीजेंस ब्यूरो के अधिकारियों को इस प्रकार की जाँच–पड़ताल में शामिल करके स्थिति और भी बिगड़ जाती है। अतः राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को अपने ही अधिकारियों की सख्त आवश्यकता है, जिससे निष्पक्ष जाँच–पड़ताल की जा सके।

कुछ स्थितियों में जहाँ केन्द्र और राज्य सरकारें मानवाधिकार रक्षा अधिनियम के अनुभाग 17 के अंतर्गत कोई कदम नहीं उठाती, वहाँ राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को स्वतंत्र जाँच का अधिकार प्राप्त है। परन्तु आयोग ने शायद ही कभी अपनी इस शक्ति का इस्तेमाल किया है।

यही कारण है कि उच्चतम न्यायालय ने आयोग को 'दंतविहीन बाघ' की उपाधि दी थी। अब आयोग को शाक्ति प्रदान करने का सारा दारोमदार सरकार पर है।

देश की वर्तमान सरकार ने मानवाधिकार संरक्षण (संशोधन) विधेयक, 2019 के माध्यम से संशोधन किया। इन परिवर्तनों का परिणाम आना अभी बाकी है। पूर्व अधिनियम में ऐसे सदस्यों की नियुक्ति का प्रावधान था जिन्हें मानवाधिकार से संबंधित विषयों की जानकारी हो, नवीन अधिनियम में यह संख्या बढ़कर तीन हो गयी है जिसमें एक महिला सदस्य भी होगी। लेकिन इन महत्त्वपूर्ण पदों पर 'सरकार की पसंद का व्यक्ति हो' यह व्यवस्था बदली नहीं है। सरकारों ने कभी ख्याति प्राप्त मानवाधिकार कार्यकर्त्ता को यह पद कभी नहीं सौंपा। इस अधिनियम में अध्यक्षों एवं सदस्यों की सरकारी पद पर नियुक्ति का निषेध करता है। इस प्रतिबंध का पालन नहीं हुआ। नवीन विधेयक के द्वारा इस व्यवस्था में बदलाव नहीं किया गया है। आयोग लोकसेवकों द्वारा की गयी लापरवाही की जाँच कर सकता है। लेकिन वह निष्कर्ष के आधार पर अपने निर्णयों को निष्पादित नहीं कर सकता। आयोग के पास जाँच करने के लिए कोई तन्त्र नहीं है। वह सरकार को मामले की जाँच का आदेश देता है। किसी भी मामले में इसकी शाक्तियाँ मात्र सलाहकार की है। सिफारिशों को लागू करने की उसके पास कोई व्यवस्था नहीं है। वित्त की कमी आयोग के पास होती है। यह वित्त की कमी उसके कार्यो में बाधा डालती है। आयोग एक साल बाद की शिकायतों की जाँच नहीं कर सकता। अतः बहुत सारी समस्या बिना जाँच के रह जाती है। सरकार अक्सर आयोग की सिफारिश को खारिज भी कर देती है। कभी–कभी अंशतः ही लागू करती है।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को मानव अधिकार रक्षक बनाने हेतु उसमें सुधार करते की जरूरत है। सरकार आयोग के निर्णयों को लागू करे तो वह अधिक प्रभावशाली हो सकता है। आयोग की संरचना में बदलाव कर उसमें आम नागरिक, मानव अधिकारों की रक्षा करने वाले संगठन के प्रतिनिधियों को शामिल करना होगा। सरकारी और गैर सरकारी अभिकर्त्ताओं को शामिल करना होगा। इसे राजनीति से दूर रखने की जरूरत है। अगर इनमें बदलाव हो तो आयोग सही तरीके से तटस्थ हो तुरंत कार्यवाही करेगा। वह मानवाधिकारों का सजग प्रहरी बनकर उभरेगा।

संदर्भ :

1. राष्ट्रीय मानव अधिकार, आयोग भारत, वार्षिक रिपोर्ट, 2009 अध्याय–3 पृ 11

2. मानवाधिकार संरक्षण (संशोधन) विधेयक, 2019
3. मानवाधिकार संरक्षण (संशोधन) विधेयक 2006 (2006 के अ. सं. 43) द्वारा प्रतिस्थापित
4. 'द इंडियन एक्सप्रेस' में प्रकाशित ए.पी. जितेन्द्र रेड्डी के लेख पर आधारित 11 अक्टूबर, 2018 https://afeias.com/knowledge-centre/current-content/मानवाधिकार–आयोग–को–शक्ति देखा गया। 10.01.2020

***

निर्मल वर्मा के कहानी संग्रह 'परिन्दे' में एकांतिक अनुभूति

राधा जायस *

'नई कहानी में' अनुभूति की प्रमाणिकता पर विशेष बल दिया गया है। यदि 'अनुभूति' शब्द पर चर्चा करें तो यह शब्द संस्कृत में 'अनुभव' का समानार्थी है। इसका अभिप्राय साक्षात, प्रत्यक्ष ज्ञान या निरीक्षण और प्रयोग से प्राप्त ज्ञान। इसे शब्द शास्त्रीय गरिमा से माण्डित करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। अनूभूति में सुख– दुखात्मक बोध होता है वह तीखा और बहुत निजी होता है। भाव से यह भिन्न है।

''छायावाद–काल के आरम्भ में ही शुक्ल जी ने सन् 1915 में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में एक निबन्ध में लिखा था, 'भाव या मनोविकार'। इसमें उन्होंने अनुभूति को 'सहजात' कहा है।''[1] अनुभूति मूलतः सुखात्मक या दुखात्मक होती है इसके साथ किसी 'प्रत्यय' के सम्पृक्त होने पर जिस जटिल मानसिकता का गठन होता है वह भाव है। वे अनुभूति को वाक्य–ज्ञान (तर्क) से भिन्न मानते हैं।

जयशंकर प्रसाद के लेख 'काव्य–कला' (1935) में ''अनुभूति का अर्थ आत्मानुभूति माना गया है जो चिन्मयी धारा से जुड़कर किंचित रहस्यमीय हो जाती है।''[2] वही नंददुलाने वापेयी ने 'आत्मानुभूति' को साहित्य का प्रयोजन मानते हैं।

इधर अनुभूति को प्रयोगवादियों ने 'वैयक्तिक' कहकर अपनी वैयक्तिकता का परिचय दिया, क्योंकि वैयक्तिक विशेषण लगाने से अनुभूति का अर्थ विकृत होता है। यदि नई कहानी में आन्तरिक अनुभूति या एकान्तिक अनुभूति के तत्वों की बात करें तो आस्तित्व वादी दर्शन के कारण इन कहानियों व्यर्थधाता बोध–संशय शीलता, अर्थहीनता, भ्रष्टाचार, अजनबीयत, मूल्यहीनता, भाई–भतीजाबाद आदि कहानियों के विषय बने। नई कहानी आन्दोलन के अन्तर्गत निर्मल वर्मा की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन के सन्दर्भ में एक विशिष्ट उपलब्धि हैं। इनकी कहानियों में आधुनिक सन्दर्भ में अनवरत एकाकी या अकेले हो रहे व्यक्ति के अन्तर्मन की व्यथा की कथा है। निर्मल वर्मा की कहानियों में, जीवन की उन अनुभूतियों से साक्षात्कार होता है, जिसे एकांतिक अनुभूति की संज्ञा दी जाती है। इनके 'परिन्दे' कहानी संग्रह में एकांतिक अनुभूति के भाव प्रखर रूप से उभरकर सामने आये हैं। इनका यह कहानी संग्रह नई कहानी आन्दोलन में नवीन कीर्तिमान स्थापित करने के साथ–साथ व्यक्ति के जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थिति की सूक्ष्म संवेदना के साथ अभिव्यक्ति है। उदाहरण के लिए निर्मल वर्मा की 'डायरी का खेल' कहानी में एकान्तिक अनुभूति का यह

* (शोध छात्रा) किशोरी रमण (पी० जी०) कॉलेज, मथुरा (उ० प्र०)

उदाहरण दृष्टव्य है– ''उनका स्वर इतना सहज, इतना शान्त था कि कितनी ही देर तक मैं जान भी न सका कि बिट्टो रो रही है, अपने ही में, धीमे–धीमे..... आँसू जो बिल्कुल ठण्डे, वंचनारहित होते हैं, उनको बहाने से रोना नहीं होता, दुख से छुटकारा नहीं मिलता, जो हृदय को एक मर्मान्तक, घनीभूत पीड़ा में निचोड़ते हुये चुपचाप बूँद–बूँद गिरते हैं .....।''[3] इन पंक्तियों में बब्बू के माध्यम से बिट्टो के मन में व्याप्त एकान्तिक अनुभूति के दुख की पीड़ा एक गहरी सम्बेदनात्मक दृष्टि के साथ प्रकट होती है। बिट्टो 'तपेदिक' की बीमारी से ग्रसित है। यह कहानी एक लड़की की महत्वाकांक्षाओं के टूटने की पीड़ा को उसके आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति है। इनकी कहानी 'माया का मर्म' में व्यक्ति के अकेले होते जा रहे मन, तथा टूटते पारिवारिक मूल्य तथा ध्वस्त होते सामूहिक परिवार की दशा को तथा इन समस्त परिस्थितियों से जूझते हुये मनुष्य की तथा अपने आप को अकेला महसूस करते हुये मानव मन की अभिव्यक्ति है। यह भारतीय पृष्ठभूमि पर लिखी गई बेरोजगार एवं मध्यवर्गीय युवक की सूक्ष्म संवेदना की अभिव्यक्ति है। बेरोजगार युवक के आन्तरिक मन की एकांतिक अनुभूति को व्यक्त करता हुआ कहानी का यह उदाहरण दृष्टवय है– ''दिन के समय लालटेन जलाता हुआ में इस उम्र में भी कतराता हूँ– न जाने क्यों भीतर कुछ रूआँ–सा घुटने लगता है। लगता है, घरमें कोई मर गया हो।''[4] इन पंक्तियों में युवक के माध्यम से व्यक्ति मन की पीड़ा, अवसाद, अंतविरोध तथा समाज में पारिवारिक परिस्थितियों से उत्पन्न जटिल परिस्थितियों से आया एकाकीपन तथा अवसाद की पीड़ा का अंकन हुआ है। 'परिन्दे' संग्रह की समस्त कहानियाँ सूक्ष्म मानवीय अनुभूति की कहानियाँ हैं। एक मौलिक 'एकांतिक भाव' जो मुख्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर होता है। इस संग्रह की समस्त कहानियाँ इसी एकांतिक अनुभूति की कहानियाँ हैं। निर्मल वर्मा ने इस एकांतिक जीवन को तथा परिस्थितियों में देखा ही नहीं अपितु उसे स्वयं अनुभव किया है। इसी अकेलेपन की अनुभूति को उनकी कहानी में एक महत्वपूर्ण जगह मिली है। इनकी कहानी 'तीसरा गवाह' एक ऐसी लड़की की प्रेम कहानी है, जो कि दुनियाँ से डरी हुई, एकांत आन्तरिक तथा खामोशी का गहना लिये मध्यवर्गीय परिवार से सम्बन्ध रखती है। जिसके मनःस्थिति की अभिव्यक्ति निर्मल वर्मा ने इस प्रकार की है– ''खामोशी वह अब भी रहती थी, किन्तु अब पहले सी पूरी मिट चली थी। कभी–कभी लगता था कि वह मुझे भी अपनी खामोशी के उन छिपे, धुँधले कोनो तक ले जाती थी जहाँ वह मुझसे अलग–अकेले में इतने बरस तक रही थी।''[5] कहानी की यह पंक्तियाँ अकेलेपन तथा खामोशी व पात्र नीरजा के माध्यम से आधुनिक संदर्भ में लगातार अकेले व एकांत जीवन जी रहे व्यक्ति के अन्तर्मन की अनुभूति है। कहानी 'अंधेरे में' जिसकी नायिका अवसाद, हताशा व अन्तर्द्वन्द्व में जीती हुई एक माँ है। वह अपनी इस आन्तरिक पीड़ा को छुपाना तो चाहती है लेकिन वे छुप नहीं पाती। उसके जीवन में पति–बच्चा

होने के बावजूद भी वह स्वयं को बहुत ही अकेली महसूस करती है। इस कहानी में कहानी कहने वाला बच्चा है जो कि अपनी के प्रेम की दुखद कहानी का दर्शक है। कहानी का यह अंश जो कि बच्चा और माँ दोनों के एकांतिक जीवन की अभिव्यक्त है– ''कभी–कभी चुपके से में माँ के कमरे जाता हूँ। पिछले कुछ महीनों से माँ और बाबू अलग–अलग, अपने–अपने कमरे में सोते हैं। पहले मुझे यह बात अजीब सी लगी थी किन्तु कुछ चीजें हैं, जिन्हें मैं किसी से नहीं पूछता, मन का एक कोना है, जिसमें सबकी आँखों से छिपाकर उन्हें दबा देता हूँ।'' उपर्युक्त पंक्तियों में परिवार के सदस्यों माँ, बच्चा तथा पिता तीनों के ही एकांतिक जीवन की अभिव्यक्ति है।

धनंजन वर्मा ने इनकी कहानियों के विषय में कहा है– ''दरअसल निर्मल वर्मा की कहानियाँ जीवन की वे अनुभूतियाँ हैं, जिन्हें एकांकित अनुभूतियाँ कहते हैं। ये अन्तर्मुखी और व्यक्तिपरक होती है। उनका प्रभाव, बाह्य नहीं आन्तरिक होता है।''[7] निर्मल वर्मा की कहानियाँ नई कहानी में विशिष्ट उपलब्धि हैं जो कि विशेष रूप आधुनिक सन्दर्भ में तनाव, आन्तरिक जीवन में सूनापन व एकाकी जीवन से जूझते, टूटते व्यक्तियों की स्थिति की दास्तान को बयाँ करती है। कहानियों में मध्यवर्गीय शहरी जीवन का यथार्थ बोध सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। कहानी के पत्र अदृश्य यथार्थ को तथा कहानी की सांकेतिकता को स्पष्ट करने के साथ उसकी संवेदना को तीव्र रूप प्रस्तुत करते हैं। इनकी कहानी 'पिक्चर पोस्टकार्ड' तथा 'परिन्दे' कहानी के पात्रों को देखकर यही कहा जा सकता है कि वो किसी विशिष्ट चिन्तन में डूबकर अपना जीवन व्यतीत कर खामोशी को धारण किये हुये हैं। 'पिक्चर पोस्टकार्ड' कहानी का यह अंश कहानी के पात्र परेश की आन्तरिक खामोशी को बखूबी बयाँ कर रहा है। ''जो में नीलू से कहना चाह रहा था और नहीं कह पाया था। मुझे अच्छा लगा कि मैंने उन्हें नहीं कहा। अब सोचकर मुझे शर्म आ रही थी, क्योंकि कुछ बातें हैं जो एक उम्र में संग जुड़ी होती हैं और उम्र बीत जाये और वे अनकही रह जायें तो उन्हें कभी कहना नहीं होता।''[8] इन पंक्तियों से यही स्पष्ट होता है कि परेश (पात्र) कुछ अनकही बातों को याद कर रहा है जिन्हें वह कहना चाहता था किन्तु कह नहीं पाया। खामोश व अपने अन्तर्मन में दबाये रहा था। निर्मल वर्मा कहानियों में भावों की संरचना का मुख्य बिन्दु शहरी जीवन तथा मध्यवर्गीय युवा वर्ग की समस्या 'परिवार एवं प्रेम' की आन्तरिक टूटन को लेकर रहा है। कहानी 'सितम्बर की एक शाम' का युवक अपने परिवार से अपने पिता से जद्दो जहद कर दूसरे शहर भाग जाता है जहाँ उसकी बहन है। कहानी का यह अंश उसके आन्तरिक संघर्ष को स्पष्ट कर रहा है– ''उसे लगा कि उसके पाँव पीछे कोई निशान नहीं छोड़ गये हैं। जैसे वह अभी जनमा हैं उसकी जिन्दगी की गांठ अतीत के किसी प्रेत से नहीं जुड़ी है इसलिए वह मुक्त है, और घास पर लेटा है।''[9]

निर्मल वर्मा की कहानियाँ में पात्रों की खामोशी और अर्न्तमुखी व्यक्तिपरक्ता के विषय में नामवर सिंह की यह पंक्ति विशेष समीचीन है– ''व्यथा की गहनता में पात्र प्रायः खामोश रहते हैं। उनकी खामोशी व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है।''[10]

इनकी कहानी 'परिन्दे' जो कि इनकी सशक्त कहानियों में से एक हैं। यह कहानी नायिका लतिका के जीवन पर केन्द्रित है। यह कहानी स्वातन्त्रयोत्तर भारत के मध्यवर्गीय जीवन तथा आधुनिक जीवन में मन के तनाव, अन्तर्विरोध तथा एकांतिक अनुभूति की अभिव्यंजना करती है, निर्मल वर्मा की यह केन्द्रीय प्रवृत्ति उनके 'परिन्दे' संग्रह की सम्पूर्ण कहानियों में अभिव्यंजित है। 'परिन्दे' कहानी का भाव बोध बेजोड़ है। कहानी की नायिका लतिका मानसिक द्वन्द्व में रहती हुई तनाव तथा एकांकी जीवन की शिकार है। वह अपने इस एकांकी जीवन से मुक्त हो सकती है लेकिन वह अपने पूर्व प्रेमी गिरीश नेगी को भुलाना नहीं चाहती तथा अपने आन्तरिक सूनेपन को किसी के सामने जाहिर नहीं होने देती है तथा मि0 हबर्टका प्रेम–निवेदन अस्वीकार कर देतीहै। उसे लगता हैकि जो अनुभूति नेगी के लिए थी वैसी ही अनुभूति अब किसी के लिए नहीं हो पायेगी। वह उसे भूलना भी चाहती है मगर वह पुनः उन जख्मों को कुरेद देती है ताकि उस मीठे दर्द की अनुभूति से वह मुक्त हो जाये। इसी पीड़ा में वह आनन्द को महसूस करती है। वह कहती है– ''अब वैसा दर्द नहीं होत, सिर्फ उसको याद करती है, जो पहले कभी होता था– तब उसे अपने पर ग्लानि होती है। वह फिर जानबूझकर उस घाव को कुरेदती है, जो भरता जा रहा है।''[11] लतिका ने अपने जीवन में एकाकीय को अपनी नियति मान कर एक अजीब अदृश्य, घेरा अपने चारों तरफ बनाकर स्वयं को सुरक्षित मान, खामोशी के अकेले तथा ठंडे एवं भुंतहे परिवेश में जीकर अपने अकेलेपन में पूर्ण रूप से अभयस्त हो चुकी है। तभी तो हयूबर्ट के पूछने पर कि छुट्टियों में आप कहीं जाती क्यों नहीं– ''अब मुझे यहाँ अच्छा लगता है'' लतिका ने कहा, ''पहले साल अकेलापन कुछ अखरा'' था– अब आदी हो गई हूँ।''[12]

वस्तुतः 'परिन्दे' संग्रह आधुनिक जीवन–बोध तथा महानगरीय एवं मध्यवर्गीय जीवन बोध की अनूठी कहानियों का संग्रह है। इस संग्रह की समस्त कहानियाँ नई कहानी के ऐसे स्वरूप को प्रस्तुत करती हैं जिसमें संघर्ष की अपेक्षा हताशा, एकांकी जीवन, आन्तरिक द्वन्द्व, अंतर्विरोध, आत्मसंघर्ष तथा जीवन में विकटता आदि देखने को मिलता है। 'परिन्दे' संग्रह अकेले होते व्यक्ति के अन्तर्मन की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कर सर्वथा यथार्थ के नये पहलू से परिचय कराता है।

सन्दर्भ :

1. बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2007, द्वितीय संस्करण पृ0सं0 12
2. वही, पृ0सं0 14

3. 'परिन्दे' संग्रह निर्मल वर्मा, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ0 सं0 22
4. वही, पृ0सं0 27
5. वही, पृ0सं0 48
6. वही, पृ0सं0 60
7. नई कहानी सन्दर्भ एवं प्रकृति, देवी शंकर अवस्थी, (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण 2018), पृ0सं0 198
8. 'परिन्दे' संग्रह निर्मल वर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0 2017, पृ0 सं0 95
9. वही पृ0सं0 98
10. कहानी नई कहानी, नामवर सिंह, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2017, पृ0सं0 60
11. 'परिन्दे' संग्रह, निर्मल वर्मा, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, पृ0सं0 132
12. वही, पृ0सं0 120

***

मिथिला क्षेत्र के विकास की अवधारणा

डॉ. उपेन्द्र मेहत्तर *

मिथिला के पुर्णगठन का एक परिणाम के रूप में वर्ष 1972 से पुराने दरभंगा जिले से अलग कर बनाया गया था। यह पूर्व में दरभंगा जिले के उत्तरी उपखंड है, यह 21 विकास खंड के होते है। नेपाल के एक पहाड़ी क्षेत्र द्वारा उत्तर में घिरा है और दरभंगा की सीमा को विस्तार देने, सीतामढ़ी, पूर्व में पश्चिम और सुपौल में, मधुबनी काफी एक मिथिला के रूप में जाना क्षेत्र के केन्द्र का प्रतिनिधित्व करता है। और जिले की है अपनी खुद की एक अलग व्यक्तित्व को बनाये रखा है।

परंपरा पर भरोसा किया जा रहा है उनके निर्वाचन के दौरान पांडवों उनके साथ जुड़ा हुआ है। वर्तमान जिला और Pandaul (ब्लॉक मुख्यालय) के कुछ हिस्से में रहने लगा, जनकपुर Bihar की प्रमुख प्रदेश Benipatti के उत्तर पूर्वी कोने में Phulhar के गाँव नेपाली इलाके और परंपरा अंक में जिले के उत्तर पश्चिम में एक कम दूरी पर स्थित है फूल बगीचे के रूप में थाना जहाँ किंग्स पुजारियों पूजा के लिए फूल इक्टठा करने के लिए इस्तेमाल किया और राम के साथ उसकी शादी से पहले सीता द्वारा पूजा की थी। किंवदातियों और परंपराओं संतों की संस्था के साथ इस जिले सहयोगी और प्राचीन काल के मन Master गांव Kakraul (मिथिला के महान ऋषि को जिम्मेवार माना) व्यावहारिक रूप से जल्द से जल्द आदिवासी आबादी के अवशेष जले के कुछ हिस्सों में देखा जा सकता है। अपने सांख्यिकीय लेखा हंटर मधुबनी के तत्तकानील पुराने उपखंड में Tharus के रूप में जाना लोगों के अस्तित्व के लिए भेजा गया है। Bhars भी उनक बारे में सकारात्मक कुछ भी नहीं किसी भी विश्वासनीय स्त्रोत से जाना जाता है। मधुबनी जिले निम्नलिखित उप प्रभागों शामिल है। मधुबनी, जयनगर, बेनी, पट्टी, झंझारपुर, फूलपारस जिले के उत्तर पूर्वी भाग में बिहार वस्तियों व संभतः दूरस्थ हिस्से में कुछ ताकते कि संकेत मिलता है। kiratajavakirt हकदार डा0 सुनीति कुमार चटर्जी के काम से यह Kiratas भी काफी अवधि के लिए जिले के लोग रहते है कि प्रतीत होता है। Mithila इतनी गहराई से 6 वीं शताब्दी ईसा पूर्व में गंगा घाटी के लोगों के दिलों को उभारा जो धार्मिक और सांस्कृतिक विक्षोभ में साक्षा किया जाना चाहिए। उत्तर बिहार की पूरी गहराई से दो महान सुधारकों (महावीर और बुद्ध) की शिक्षाओं से प्रभावित था कि बाद से यह मिथिला के लोगों को सक्रिय रूप से इन सुधार आंदोलनों के प्रचार में भाग लिया अनुमान है कि केवल प्राकृतिक 1857 में देश भक्ति राजा जनक के काल से आधुनिक

* ग्राम +पो०+थाना-देवधा, भाया-जयनगर, जिला-मधुबनी (बिहार)

समय तक मिथिला ने अनेक उत्थान – पतन की कहानियाँ को अपन अंक में छुपा रखा है। इसकी भौगोलिक संरचना, भाषा, रीति रिवाज खान – पान कला साहित्य दर्शन, ज्योतिष, सामाजिक परिवंश के विकास के विभिन्न रूपों ने इसे विशिष्ठ और पृथक पहचान दी है।

भौगोलिक दृष्टिकोण से यहाँ की जमीन बाढ़ द्वारा गयी उपजाऊ मिट्टी से बनी है। इसकी निचली भूमि दल – दल तथा झिलनुमा है। बागमती, अधवारा, कमला और तिलजुआ यहाँ की प्रधान नदियाँ है। खरीफ तथा रब्बी यहाँ की मुख्य फसल एवं जाड़, गर्मी और बरसात ऋतुएँ है। चावल मछली, पान, माखन यहाँ के प्रधान भोज्य पदार्थ के साथ ही प्रमुख व्यवसाय भी है। फूलों में दरभंगा का मालदह आम, काफी प्रसिद्ध है। धोती, कुर्त्ता, दुपट्टा और पाग पुरूषों की प्रधान वेश है। शक्ति धर्म की प्राधनता है परन्तु अन्य देवी देवताओं की प्रति भी श्रद्धा का भाव है। मैथिली यहाँ की शक्ति धर्म की प्राधनता है परन्तु अन्य देवी देवताओं कीप्रति भी श्रद्धा का भाव है। मैथिली यहाँ की प्रधान भाषा है। हिन्दी के प्रति भी लोगों में आदर का भाव है। रामायण, महाभारत तथा अन्य क्षेत्रिय धार्मिक संस्कारों पर आधारित विभिन्न काल्पनिक चित्रों का भिन्न – भिन्न रूप एवं रेखाओं में अनपढ़ ग्रगामीण महिलाओं द्वारा एक विशेष शैली (मिथिला लोकचित्र शैली) में स्वतंत्र रूप से पारम्परिक ढंग से निर्मित चित्र यहाँ की चित्र कला की अलग पहचान है। इन चित्रों में प्राकृति रंगों का प्रयोग किया जाता है जो घर के आस पास असानि से सुलभ होते है। इन में अनुपात का आभाव होता है। चित्रों में रेखांकित प्रति विशेष भार को इंगित करते है।

हस्तशिल्प के रूप में पेपर, मस्सीकल, सिक्की, घास से तरह तरह के सुन्दर कलात्मक वस्तुओं का निर्माण पारम्परिक कला संवर्धन और व्यवसाय दोनों ही दृष्टिकोण से वैदिक, शिक्षा के लिए ख्याति उपलब्ध रहा है। मैथिली कोकिल विद्यापतिन संस्कृति साहित्य के साथ ही मैथिली भाषा के महान कवि थे जिन्होंने अपनी श्रृंगारिक एवं भक्ति रस की कविताओं से जहाँ एक और तत्कालीन समाज में फैली कुरीतियों को उजागर कर उसे दूर करने हेतु आम जन को प्रेरित किया।

मिथिला का प्रादेशिक विकास (Development of Mithila Region) प्रदेशों के एकीकृत समूह को एक प्रादेशिक तन्त्र की संज्ञा दी जाती है। प्रादेशिक नियोजन के संदर्भ में ऐसे प्रादेशिक प्राथमिकता की गुणवत्ता पर प्रादेशिक विकास निर्भर करता है।

एक प्रादेशिक तन्त की प्राथमिकता का प्रतीक उसकी आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक प्रगति व पर्यावरण संरक्षण स्थिति अथा परिस्थितिक दक्षता को माना जाता है। दूसरे शब्दों में ये सभी प्रादेशिक विकास, के लक्षण है। एक समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री राजनीतिक शास्त्री व भूगोलविद् सभी विकास की संकल्पना अपने – अपने दृष्टि कोण से करते है। क्योंकि इन सभी की विचारधारा में उनके विषय के प्रासंगिक परिक्षेप का प्रभाव होना

स्वभाविक है। अन्य सभी समाजशास्त्रों की तुलना में भूगोल की विकास की संकल्पना सर्वाधिक विस्तीर्ण अथवा ज्ञापक मानी जाती है क्योंकि यह प्राकृति तथा मानवीय संसाधनों के अद्वितीय संश्लेषण में विश्वास रखती है। भूगोल में विकास की परिधि में आर्थिक विकास, सामाजिक प्रगति राजनीतिक विकास तथा पर्यावरण संतुलन सभी को क्षेत्री परिक्षेत्र में आंका जाता है। इसी तरह मिथिला का विकास का कारण में है।

ग्रामीण विकास कार्यक्रम (Rural Development Programmes)

ग्रामीण युवा स्वरोजगार हेतु प्रशिक्षण (Training of Rural Youth Self Employment system) मिथिला के ग्रामीण युवकों को स्वरोजगार हेतु प्रशिक्षण देना यह कार्यक्रम अब समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का एक अभिन्न अंग है। इस योजना के अन्तगति ग्रामीण युवकों को कुशल श्रमिक तथा प्रौधोगिकी में सम्पन्न किया जाता है।

1. ग्रामीण दस्तकारों के लिए योजना (Scheme for Rural Artisaus) इस योजना के अंतर्गत 2. ग्रामीण दस्कारो के अन्तर्गत औजार उपलब्ध कराना ताकि वे उत्पादन की मात्रा एवं गुणवता में सुधार करके अपनी आय में वृद्धि कर सकें।
2. ग्रामीण क्षेत्रों में महिला एवं बाल विकास (Development of Women and children is Rural Areas Dwara) इस कार्यक्रम का उद्देश्य निर्धन घरों की महिलाओं की आय में वृद्धि करना है।
3. इंदिरा आवास योजना।
4. जवाहर रोजगार योजना।
5. स्वर्ण जयंती ग्राम रोजगार योजना।
6. रोजगार आश्वासन योजना।
7. गंगा कल्याण योजना।
8. राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम।
9. ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम।

मिथिला का पंचायती राज एवं विकेन्द्रीय आयोजना अधिकाश मिथिला का अब तक यह दृढ़ विश्वास है कि गांव के स्तर पर पंचायती राज मिथिला के आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास तथा अधिकारों के विकेन्द्रीय एवं प्रजातंत्र की प्रक्रिया को आम आदमी तक पहुँचाने का शक्ति शाली माध्यम है। इससे लोगों को विकास की प्रक्रिया में भागीदारी बनने का अवसर मिलता है और विकेन्द्रीकृत आयोजन की संभावनाएँ बढ़ती है।

मिथिला के कृषि विकास – लगभग 85% जनजातीय जनसंख्या कृषि कार्य में संलग्न है। परन्तु ये मुख्यतः जनजातीय जनसंख्या कृषि कार्य में संलग्न है। परंतु में मुख्यतः स्थानांतरी तथा कहीं – कहीं जीविकोपार्जी कृषि करते है। इनके खेत छोटे तथा उपकरण पुराने व परमपरागत होते है और इन्हें सिंचाई की उचित सुविधा नहीं मिलती है। अतः कृषि उत्पादन निम्न स्तर की होती है। और इनकी अपनी उदार पूर्ति के लिए भी प्रभावित

नहीं होती है। आदि इन समस्याओं को दूर करने के लिए सरकार ने कई योजनाएँ बनाई है। जिसके सिंचाई की सुविधा उपलब्ध कराने तथा भूमि में सुधार करने एवं मृदा का संरक्षण करने कि व्यवस्था की गई है।

मिथिला में विकास केन्द्र एवं राज्य सरकारों के कार्यक्रम के

1. मैट्रिक के बाद छात्र छात्राओं को छात्रवृति (Scholarship) तथा वृत्ति (Stipend) की व्यवस्था।
2. शिक्षण एवं परीक्षा के शुल्कों में छुट।
3. कृषि विकास के लिए उन्नत बीजो, उर्वरको तथा कृषि उपकरणों की व्यवस्था।
4. कृषि के अतिरिक्त रोजगार उपलब्ध कराने के लिए कुटी उद्योगों का विकास।
5. सहकारीता को प्रोत्साहन।
6. संचार व्यवस्था में सुधार।
7. पशुपालन के लिए प्रोत्साहन।
8. ग्रामीण स्तर पर स्वास्थ्य सेवाएँ।
9. विवादों को निपटाने के लिए कानूनी सहायता की व्यवस्था।

Population - मिथिला के मधुबनी क्षेत्र में लगभग 4.476.044 जनसंख्या निवास करती है। (2011) के अनुसार इसकी Density 1.300/ km^2 Demographics है Literacy 60.9 percent.

यहाँ की मुख्य नदियाँ है कमला, Bhutihi Balan, Bachharaja Balan, मधुबनी की Sex Ratio 925 Female for every 1000 Males है। मिथिला का केन्द्र दरभंगा को माना जाता है।

शिक्षा – मिथिला क्षेत्र के मधुबनी दरभंगा तथा समस्तीपुर और बेगूसराय के छात्र – छात्राओं के लिए यहाँ दरभंगा में L. N. M. U, विश्वविद्यालय है जो अच्छे जो मिथिला के विकास में अपना योगदान निभाता है। इस विश्वविद्यालय में अच्छे अच्छे Teacher है जो मिथिला के विकास में अपना योगदान देते है। तथा यहाँ डॉक्टरी की पढ़ाई होती है।

परिवहन एवं संचार – मिथिला क्षेत्र एक N. H है जो मुजफ्फरपुर, दरभंगा, मधुबनी होते हुए असम को जाती है। तथा एक राज्य से दूसरे राज्य में जाना कम समय में संभव है। यहाँ रेलवे लाईन की व्यवस्था है। लोग कहीं से भी आ जा सकते है।

प्रदूषण मुक्त बनाने का लक्ष्य – दरभंगा, मधुबनी के शहरी क्षेत्रों में प्रदूषण कुछ समय से ज्यादा फैल रहा है लेकिन सरकार और District Magisitret के सहायता तथा विभिन्न कार्यक्रम से इन प्रदूषण को दूर करने की पूरी कोशिश की जा रही है।

Development of Regional Planning- भूगोल में विकास की भौतिक विकास Economic Development, Political Development पर्यावरण संरक्षण के क्षेत्रीय प्रारूप पर आधारित है। इसी कारण भूगोल विद विकास

को प्रादेशिक विकास की संज्ञा देते है। विकास स्तर में क्षेत्रीय असमानता, विषमताओं का गहनता से विश्लेषण भूगोलविदों का सर्वप्रथम उद्देश्य होता है।

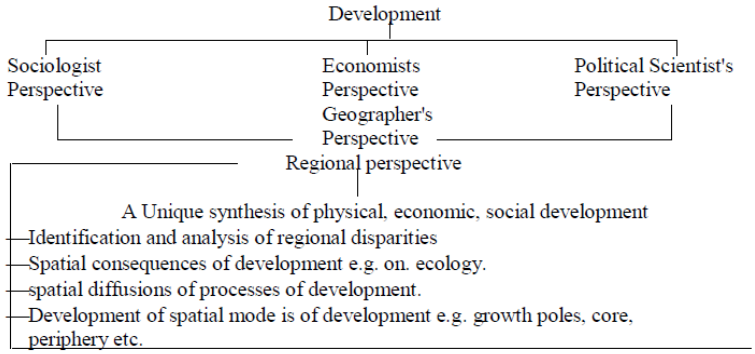

अतः समान्यतः विकास प्रक्रिया का भौगोलिक विश्लेषण विकास स्तर में क्षेत्रीय असमानताओं के विश्लेषण से प्रारंभ होकर विकास प्रक्रिया के क्षेत्रीय विसरण व इसके क्षेत्र विशेष के परिस्थितिक तंत्र पर अच्छे बुरे प्रभाव ध्यान में रखते हुए अन्तिम चरण में विकास प्रक्रिया से संबंधित मॉडल की रचना तक का सफर तय करता है।

Conclusion-(निष्कर्ष) मैं निष्कर्ष के तौर पर यह कहना चाहता हूँ कि मिथला का विकास उत्तर बिहार की उपलब्धि है। मिथिला में दरभंगा और मधुबनी की विकास 1980 के बाद ज्यादा विकास हुई है। आज 2016 में मिथिला का विकास स्वास्थ्य सम्बन्धि अच्छे – अच्छे हॉस्पीटल इत्यादि की व्यवस्था है। और इस क्षेत्र में विकास परियोजना बहुत बड़ी उपलब्धि है और अभी भी मिथिला क्षेत्र में चाहे वे रोजगार हो या स्वास्थ्य शिक्षा हो, सड़क, रेलवे इत्यादि सभी में कार्य वृद्धि हो रही है। और भूगोल विद भी इस पर अपना ध्यान पूरी तरह देते आ रहे है। किसी भी क्षेत्र में विकास को प्रभावित करने वाले मुख्यतः पाँच कारक होते है।

1. क्षेत्र के स्वयं के भौतिक संसाधन भंडार
2. क्षेत्र में तकनीकी प्रगति की स्थिति
3. क्षेत्र की सामाजिक संरचना।
4. क्षेत्र की सामान्य आर्थिक व्यवस्था तथा
5. क्षेत्र की राजनैतिक रूप रेखा।

भूगोलविद् इन पांचों कारकों के क्षेत्रीय प्रारूप व सामायिक प्रारूप में विविधता के विश्लेषण पर अधिक ध्यान देते है। और इन बातों को ध्यान में रखकर मिथिला का विकास होता आ रहा है।

संदर्भ :

1. Cultural Heritage of Mithila. Allahabad Mithila Prakasana.

2. Mithila after the Janakaj "The Proceedings of the Indian History congress
3. The Maithili language movement success and failures language planning
4. Documenting the image in Mithila Art Vigual Asthropology Review Vol. 22, Issue 2, pp. 5-33.
5. Anthropology of Ancient Hindu Kingdoms. A study in civilization perspective.

***

''लौकिंक संस्कृत वाङ्मये काव्यशास्त्रस्य महत्ता माहात्म्यं वा''

प्रो. जनार्दन प्रसाद पाण्डेय *
रामधन **

भूमिका :– प्राचीन समय में मनुष्य आनन्द प्राप्त करने के लिए काव्यों का रसास्वादन करते थे, लेकिन काव्य सुव्यवस्थित ढंग से न लिखे होने के कारण काव्यों को पढ़ने में नीरसता आ जाती थी। धीरे–धीरे का व्यकारों ने काव्यों में अलङ्कार, रस और रीति का प्रयोग कर, उनको सुव्यस्थित ढंग से लिखकर मानव जाति पर कल्याण किया है।

काव्यशास्त्र का परिचयः–काव्यसौन्दर्य की परख करने वाले शास्त्र का नाम 'काव्यशास्त्र' है। काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में इसके लिए मुख्य रूप से 'काव्यालङ्कार' शब्द का प्रयोग होता था। इसीलिए काव्यशास्त्र के आदि युग के सभी जाचार्यो ने अपने ग्रन्थों का नाम काव्यालङ्कार रखा है। भामह का कारिका रूप में लिखा हुआ का व्याशास्त्र का आदि ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नाम से ही प्रसिद्ध है। उद्भट ने भी अपने ग्रन्थ का नाम काव्यानङ्कारसारसंग्रह रखा है। रूद्रट के काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ का नाम भी काव्यालङ्कार है। वामन ने सूत्र रूप में लिखे हुए अपने ग्रन्थ का नाम भी 'काव्यालङ्कारसूत्र' रखा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनकाल में 'काव्यशास्त्र' के लिए 'काव्यालङ्कार' नाम ही अधिक प्रचलित पाया जाता है। इस नाम में आया हुआ अलङ्कार शब्द 'सौन्दर्य' अर्थ को बोधन करने वाला है। वामन ने ''सौन्दर्यम् अलङ्कारः'' सूत्र लिखकर अलङ्कारशब्द को सौन्दर्यपरक प्रतिपादन किया है। अन्य सब आचार्यो ने भी काव्य के सौन्दर्याधायक धर्मों को ही 'अलङ्कार' नाम से व्यवहृत किया–

काव्याशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान्, प्रचक्षते।''[2]

काव्शास्त्र की सर्वप्रथम परिभाषा जिस अन्तर्दृष्टि से की गई उसका सूत्र है–'शब्दार्थौ काव्यम्'' अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य है। इसे विस्तृत रूप से इस प्रकार भी कहा गया है–''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' काव्य को केवल शब्दार्थ सहित कहने से ही उसका विशेष लक्षण प्रतिपादित नहीं हो पाता, क्रमशः कालान्तर में इस सूत्र के साथ कुछ अन्य विशेषण भी जोड़े गये। क्रमशः दोष रहित और अलङ्कार युक्त कहकर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठान की (प्रसिद्धि) की गई जिसके कारण काव्य के 'शब्द ओर अर्थ' कलंकित न हो। इस संसार में कोई भी वस्तु अथवा व्यक्ति दोष मुक्त नहीं

---

* शोध निर्देशक (मणि), राष्ट्रीय संस्कृति संस्थान गंगा नाथ झा परिसर प्रयागराज केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, देलही
** शोध छात्र,एम.ए., एम.एड., नेट जे.आर.एफ पी.एच.डी.

होता, किन्तु गुणों के बाहुल्य के तेज के सामने जिस प्रकार अल्पदोश दिखाई नहीं देते, उसी प्रकार काव्य के शब्दों और अर्थो में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उनमें शोभावर्धक धर्मो अथवा का व्यालङ्कारों का प्रयोग किया जाए, जो काव्य के शब्दार्थमय शरीर में उसकी चेतना के रूप में निहित रहता है तथा जो काव्य की निर्दोशता, सगुणता तथा अलंकृति के समुचित संयोजन द्वारा अभिव्यक्त होकर का व्यरसिकों को चित्त को आह्लादित करता है।

काव्यशास्त्र शब्द का अर्थ :– काव्यशास्त्र का विशय काव्य–वाङ्मय के नानाविध रूपों एवं विक्षओं को सैद्धान्ति विवेचन, व्यवस्था सम्बन्धी निर्देशन तथा मूल्यांकन से सम्बद्ध रहा है। आज काव्य शब्द का प्रयोग छन्द्बोबद्ध रचना के लिए सीमित हो गया है। अनेक विद्वानों द्वारा आदिकाल से ही काव्य को जानने पहचानने का प्रयास किया जाता रहा है और आज भी यह प्रयास उसी गति से जारी है। काव्य के सम्बन्ध में निम्न कथन द्रष्टव्य हैं–

''गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।''
काव्येषु नाटकं रम्यम्।–

ये दोनों उदाहरण उपर्युक्त कथन के प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते है। आज जिस साहित्य शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है–

''कुण्डत्वमायान्ति गुणाः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवजितेषु।
कुर्यादनामदेषु किमङ्मनानां केशेषु कृष्णागरूधूपवास।।

उपर्युक्त पद्य में प्रयुक्त साहित्य शब्द विल्हण के मतानुसार शास्त्रं अर्थ का बोध कराता है।

ग्यारहवीं शताब्दी में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता भोजदेव ने मुख्य रूप से इस शास्त्र के लिए काव्यशास्त्र पद का प्रयोग किया है। परन्तु उनहोंने शास्त्र की विधि प्रतिषेधपरक शास्त्रात् शास्त्रं इस पहली व्युत्पत्ति को लेकर ही 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग माना है। उन्होंने ने लिखा है–

यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तिरेव कारणं। सरस्वती कण्ठाभरण
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते।।2–138

भोजदेव के मत में ही विधि–प्रतिषेध की व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञान के कारण काव्यशास्त्र के छः भेद हो जाते हैं–

1. काव्य 2. शास्त्र, 3. इतिहास 4. काव्यशास्त्र 5. काव्येतिहाए 6. शास्त्रेतिहास।

''काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिासस्तदपि षड्विधम्।। 2

सरस्वतीकण्डाभरण 2–139

काव्यशास्त्र का पुरातन नाम अलंकारशास्त्र है। सम्भवतः यह नाम उस युग की अभिद्या है, जावे काव्य की रमणीयता का आधार माना जाता है। आचार्य वामन ने अलंड्कारों की तुलना आभूषणों से की है। राजशेखरने काव्यशास्त्र के लिए साहित्य विद्या नामक अभिधा का प्रयोग किया है। पंचमी

साहित्यविद्या इति यायावर्यः[3] शब्दार्थ के साहित्य का अभिप्राय बताते हुए दशम शताब्दी में वक्रोक्तिजीक्तिकार आचार्य कुन्तक ने लिखा है–

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिव्यव स्थितिः।। वक्रोक्तिजीविकतम् 1–17

आचार्य कुन्तक ने शब्द और अर्थ के इस 'साहित्य' को अपने काव्य लक्षण में समाविष्ट किया है–

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकतवर्व्यापारशालिनि। वक्रोक्तिजीवितम् 1–17
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।

काव्यशास्त्र को प्राचीन काव्य में प्रायः अलङ्कारशास्त्र कहा जाता था, किनतु आज रस एवं वध्वनि के प्रति विशेष आग्रह के कारण इसका नाम काव्यशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र ही प्रचलित है इसी आधार 11वीं शताब्दी में पर रूय्यक ने अपने ग्रन्थ का नाम साहित्य मीमांसा तथा 14वीं शताब्दी में विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ का नाम साहित्य दर्पण रखा है।

काव्यशास्त्र के उत्वृत्ति विषयक मत :– काव्यशास्त्र की उत्पत्ति विषयक विविध मत है–काव्यशास्त्र का अपर नाम क्रियाकल्पभी है यह नाम अति प्राचीन है। वात्स्यायन के काममसूत्र में गिनायी गई 64 कलाओं में इसका निर्देश प्राप्त होता है। क्रियाकल्प काव्यक्रियाकल्प का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। इसका पूरा नाम 'काव्यक्रियाकलप' अर्थात् काव्याशास्त्र है। केवल 'काव्यशास्त्र' में ही नहीं अपितु 'ललितविस्तार' नामक बौद्ध ग्रन्थों में भी 'क्रियाकल्प शब्द' का प्रयोग किया गया है। टीकाकार जयमङ्गलार्क ने उसका अर्थ 'क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालङ्कार इत्यर्थः' इस प्रकार किया है। रामायण के श्लोक का सम्बद्ध भाग निम्नलिखित प्रकार है–

'क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।।2।।

बालमीकि रामायण, उत्तराकाण्ड 27–7।।

इस प्रकार 'काव्यशास्त्र' के लिए 1. काव्यालङ्कार 2. काव्याशास्त्र 3. अलङ्कारशास्त्र 4. साहित्यशास्त्र 5. क्रियान्कल्प इन पाँचों नामों का प्रयोग प्रायः होता रहा है। भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन, और कुन्तक ने इनमें से 'काव्यालङ्कार' शब्द को अधिक पसन्द किया है। इसीलिए अपने ग्रन्थों के नाम काव्यालङ्कार रखे है। कुन्तक ने अपने ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित' में काव्यालङ्कार को परिभषित किया है–

''लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये। वक्रोक्तिजीवित 1–2
काव्यस्यायमलङ्कार कोऽप्यपूर्वो विधीयते।।''

वेदों एवं वेदाङ्गों में भी काव्यशास्त्र का बीजरूप में विशद् वर्णन है यथा–

'द्वा सुपर्ण सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिभस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वन्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

ऋग्वेद 1–164–20

काव्यशास्त्र के तत्त्व :– काव्य की उपर्युक्त परिभाषा उसके स्वरूप लक्षणों पर आधारित है, जिसे किसी भी देश एवं काल की काव्य कृतियों पर घटित किया जा सकता है। इस परिभाषा के प्रमुख बिन्दु है–इस सबाक प्रयोजन काव्य की वर्ण्य वस्तु का अभिव्यंजन करना है, जैसे काव्य का वर्ण्य विषय चराचर जगत और जीवन की वे सभी वस्तुएँ तथा आत्मसंवेदनाएँ जिसमें रागतत्त्व, कल्पना तत्व और बुद्धितत्त्व का वांछित सामंजस्य समाविष्ट, रहता है, काव्य की विषय–वस्तु बनती है।

काव्य का अभिव्यक्त पक्ष :– इसमें प्रमुख तत्त्व समाहित रहते हैं–शब्द, अर्थ, शब्दशक्ति, काव्यमुख, काव्यालङ्कार, काव्यरीति, वक्रोक्ति तथा निर्दोष काव्य रचना के सभी तत्त्व समाहित रहते है।

काव्य का आत्म तत्त्व :– रस और ध्वनि ही काव्य का आत्म तत्व है, जो शब्दार्थमय शरीर में अन्तर्निहित रहता है। इन्हें देह और देही अर्थात् शरीर और आत्मा के दार्शनिक दृटिकोण से समझा जा सकता है। संस्कृत के रसध्वनिवादी आचार्यो ने काव्य को 'रसात्मकं काव्यं काव्यं तथा ध्वनिरात्मा काव्यस्य कहकर रस तथा ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है। शब्द, अर्थ, शब्दशक्ति, अलङ्कार, गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि काव्य के अविच्छिन अंग अथवा आवश्यक तत्त्व है।

काव्यसौष्णव :– काव्य के जिन तत्त्वों का उल्लेख तीन वर्गों में किया गया है, उन्हें क्रमशः काव्य का भावपक्ष, कलापक्ष और आत्मपक्ष भी कहा जाता है। इनमें भावपक्ष जीवन की संवेदनाओं से जुड़ा हुआ तत्त्व है, जिसे रचनाकार काव्य की विषय वस्तु बनाकर अहं और इदं की अभिव्यक्ति करता है। प्रबन्ध काव्यों में यह पक्ष इतिवृत्तामक बनाकर घटनाचक्र को आगे बढ़ाता है। इस हम रागतत्त्व भी कह सकते हैं। जिसकी परिणति रसदशा में होती है। तत्त्व भावमूलक है इसमें बुद्धितत्त्व का सम्मिश्रण भी वांछनीय है। वस्तुतः काव्य का भावी प्रसाद भावतत्त्व या रागात्मकता पर ही निर्भर है, जिसे हम काव्य सौष्णव की नींव अथवा आधरशिला भी कह सकते है। काव्य का भाषा शिल्प उसकी अभिव्यंजकता का ही पर्याय है, जिसे आचार्यो ने कलापक्ष अथवा भाषातत्त्व भी कहा है। अनेक विद्वानों ने कल्पना तत्त्व को भी काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना है, काव्यशास्त्र में कवि कल्पना के पंख पसार कर ही काव्य जगत में परिभ्रमण करता है। यद्यपि भारतीय कवि प्रतिभा के चमत्कार के रूप में अवश्यमेव निर्दिष्ट किया गया है। निष्कर्षतः ये सभी तत्त्व काव्य के सौष्ठव विधान एवं वर्चस्व विस्तार के ही उपादान है। जिससे काव्य का आत्मतत्त्व रस भी अपनी अस्मिता को अभिमण्डित करता है।

काव्यशास्त की उपयोगिता एवं महत्त्व :– जहाँ तक काव्याशास्त्र की उपयोगिता के बारे में प्रश्न है, वह कवि तथा सामाजिक दोनों के लिए समान रूप से विचारणीय है। एक तरफ काव्यशास्त्र के ज्ञान से शून्य सृष्ट कलाकार की कृति उत्कृष्ट नहीं हो पाती, उसकी कवित्वशक्ति भी जड़ीभूत

एवं कुण्ठित हो जाती है, काव्य के मर्म को समझने के लिए कवि की संस्कृत की यह सूक्ति ध्यान देने योगय प्रतीत होती है–

''कविः करोति काव्यम् स्सं जानाति पण्डितः।
न हि बन्ध्या विजानाति गुर्वीम प्रसवबेदनाम्।।[11]

प्रसववेदना की गहनता को नहीं समझ सकती, उसी प्रकार काव्य–रचना प्रक्रिया के तत्त्व से अनभिज्ञ व्यक्ति भी कवि के श्रम एवं काव्य के मर्म को नहीं समझ सकता। यही कारण है कि भवभूति के साहित्यकार को 'समानधर्मा' कहा है।

सन्दर्भ :

1. आचार्य दण्डी कृत काव्यादर्श।
2. भामह कृत काव्यालङ्कारग्रन्थ।
3. भोजदेव कृत सरस्वतीकण्ठाभरण।
4. राजशेखर कृत काव्यमीमांसा
5. आचार्य कुन्तक कृत वक्रोक्तिकाव्यजीवितम्।
6. संस्कृत साहित्य का इतिहास–आचार्य कपिल देव द्विवेदी
7. वल्देव उपाध्याय कृत संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन।
8. भरत मुनि कृत नाट्यशासत्रं।
9. ऋग्वेद प्रथ्म मण्डल/प्रथम अध्याय।
10. वाल्मीकि कृत रामायण उत्तर काण्ड।

***

मौर्य कालीन ग्राम्य शासन-एक अध्ययन

डॉ. प्रवीण कुमार श्रीवास्तव *

कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से हमें मौर्य कालीन जनपदों के ग्राम–संस्थाओं के सम्बन्ध में बहुत–सी बातें ज्ञात होती हैं। प्रत्येक ग्राम का शासक पृथक्–पृथक् होता था, जिसे ग्रामिक कहते थे। ग्रामिक ग्राम के अन्य निवासियों के साथ मिलकर अपराधियों को दण्ड देता था, और किसी व्यक्ति को ग्राम से बहिष्कृत भी कर सकता था।[1] ग्राम की अपनी सार्वजनिक निधि भी होती थी, जो जुर्माने ग्रामिक द्वारा वसूल किए जाते थे, वे इसी निधि में जमा होते थे।[2] ग्राम की ओर से सार्वजानिक हित के अनेक कार्यों की व्यवस्था की जाती थी, जिनमें सब ग्राम वासियों को हिस्सा बटाना होता था।[3] जो लोग अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य की उपेक्षा करते थे, उन पर जुर्माना किया जाता था।[4] इससे यह सूचित होता है कि ग्राम का अपना एक पृथक् संगठन भी उस युग में विद्यमान था। यह ग्राम्य संस्था न्याय का भी कार्य करती थी। ग्राम सभाओं में बनाये गये नियम साम्राज्य के न्यायालयों में मान्य होते थे। 'अक्षपटल के अध्यक्ष' के कार्यों में एक यह भी था, कि वह ग्राम संघ के धर्म, व्यवहार, चरित्र, संस्थान आदि को निबन्धपुस्तकस्थ (पंजिकृत) करें।[5]

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्य साम्राज्य के ग्रामों में स्वायत्त संस्थाओं की सत्ता थी। इस संस्था को 'ग्राम–संघ' कहते थे, और इसी के धर्म, व्यवहार, चरित्र आदि को अक्षपटलाध्यक्ष द्वारा निबन्धपुस्तकस्थ किया जाता था। इस ग्रामसंघ के सदस्यों को ग्रामवृद्ध कहा जाता था।[6] सम्भवतः ग्राम में निवास करने वाले सब कुलों या परिवारों के मुखियाओं (वृद्धों) द्वारा ही ग्रामसंघ का निर्माण होता था। ये ग्रामवृद्ध जहाँ अपराधियों को दण्ड देते थे, उनसे जुर्माने वसूल करते थे, ग्राम–विषयक सार्वजनिक हित के कार्यों का सम्पादन करते थे, और लोगों के मनोरंजन को व्यवस्था करते थे, वहाँ ग्राम की शोभा को कायम रखना[7] और नाबालिगों को सम्पत्ति का इन्तजाम करने का भी कार्य करते थे। ग्राम में विद्यमान मन्दिरों और अन्य देवस्थानों की सम्पत्ति का प्रबन्ध भी इन्हीं के हाथों में था।[8] ये अपने क्षेत्र में सड़क और पुल आदि बनवाने का भी कार्य करते थे।[9]

इस ग्रामसंघ या ग्रामसंस्था का मुखिया जहाँ ग्रामिक कहलाता था, वहाँ केन्द्रीय सरकार की ओर से भी ग्राम के शासन के लिए एक कर्मचारी नियत किया जाता था, जिसे 'गोप' कहते थे।[10] ग्राम के शासन में गोप की

* अध्यक्ष, सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग जवाहर लाल नेहरू स्मारक पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, महाराजगंज, (उ. प्र.)

वही स्थिति थी, जो नगर के शासन में नागरक की थी। केन्द्रिय सरकार की ओर से गोप के मुख्य कार्य ग्रामों की सीमाओं को निर्धारित करना, जनगणना करना और भूमि का विभाग करना था। केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त गोप की सत्ता के रहते हुए भी ग्रामिक और ग्रामसंघ का ग्राम के शासन में बहुत महत्त्व था।

भारत की इन्हीं ग्रामसंस्थाओं के कारण यहाँ के निवासियों की वास्तविक स्वतंत्रता सदा सुरक्षित रही है। इस देश की सर्वसाधारण जनता का बड़ा भाग सदा से ग्रामों में बसता रहा है। ग्राम के लोग अपने सुख एवं हित की अपने संघ में स्वयं व्यवस्था करते थे, अपने लिए स्वयं नियम बनाते थे, और अपने मनोरंजन का भी स्वयं ही प्रबन्ध करते थे। इस स्थिति में साम्राज्य के अधिपति की निरंकुशता या एकसत्ता का उन पर विशेष असर नहीं होता था।

संदर्भ :

1. ''ग्रामार्थेन ग्रामिकं व्रजन्तं उपवासाः पर्यायेणानुगच्छेयुरनुगच्छन्तः पणार्ध पणिकं योजनं दद्युः। ग्रामिकस्य ग्रामादस्तेनपारदारं निरस्यतश्चतुर्विंशतिपणो दण्डः।'' कौटलीय अर्थशास्त्र, 3/10
2. ''कर्षकस्य ग्रामम्भ्युपेत्याकुर्वतो ग्राम एवात्ययं हरेत्।'' –कौटालीय अर्थशास्त्र, 3/10
3. ''प्रेक्षायामनंशदः स्वस्वजनो न प्रेक्षेत। प्रच्छन्नश्रवणेक्षणे च सर्वहिते च कर्मणि निग्रहेण द्विंगुणमंशं दद्यात्।''– कौटलीय अर्थशास्त्र, 3/10
4. ''सर्व हितमेकस्य बुवतः कुर्युराज्ञाम्। अकरणे द्वादशपणो दण्डः। तं चेत्सम्भूय वा हन्युः, पृथगेषामपराधद्विगुणो दण्डः।''– कौटलीय अर्थशास्त्र, 3/10
5. ''देशग्रामजातिकुलसंघानां धर्मव्यवहार चरित्रसंस्थानं निबन्धपुस्तकस्थं कारयेत्।''

   –कौटलीय अर्थशास्त्र, 2/7
6. कौटलीय अर्थशास्त्र, 2/1
7. ''ग्रामशोभाश्च रक्षा च तेषां प्रियहितं चरेत्।'' – कौटलीय अर्थशास्त्र, 3/10
8. ''बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धयेयुराव्यवहा प्रापणात्। देवद्रव्यं च।''

   –कौटालीय अर्थशास्त्र 2/1
9. ''राजा देशहितान् सेतून् कुर्वतां पथि संक्रमात्।''

   –कौटालीय अर्थशास्त्र, 3/10
10. कौटलीय अर्थशास्त्र, 2/35

***

वैश्विक महामारी कोविड-19 का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव एवं चुनौतियाँ

डॉ. शक्ति सिंह *

कोविड–19 के संक्रमण से बचाव के लिए किए गए लॉकडाउन से जहां एक ओर प्रकृति ने खुलकर सांस ली पर्यावरण प्रदूषण कम हुआ वहीं दूसरी ओर अर्थव्यवस्था की विकास की रफ्तार कम हो गई। पहले से ही मुश्किल झेल रही भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए कोरोना वायरस का हमला एक बड़ी मुसीबत लेकर आया है। इस समय दुनिया के समक्ष दो समस्याएं है प्रथम कोविड 19 के संक्रमण को रोकना द्वितीय अर्थव्यवस्था को विकास के मार्ग पर वापस लाना। कोविड–19 के संक्रमण से बचाव के लिए किए गए लॉकडाउन से जहां सबसे ज्यादा प्रभावित असंगठित क्षेत्र के श्रमिक हुए है। ये श्रमिक जहां रहने एवं खाने के लिए सैंकडों किलोमीटर चलकर अपने घर लौटने को बाध्य हुए। इससे अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न हुई साथ ही कोविड–19 का संक्रमण बढ़ा। शासन ने अर्थव्यवस्था को विकास के मार्ग पर वापस लाने के लिए 20 लाख करोड़ राहत पैकेज की घोषणा की है जो आर्कषक तो लग रहा है लेकिन सफलता इसके सही क्रियान्वयन पर निर्भर करता है। कोविड–19 की शत–प्रतिशत वैक्सीन और दवाओं की अनुसंधान चल रहा है।

कोरोना काल में भारतीय अर्थव्यवस्था का उभरता वैश्विक परिदृश्य

विश्व की 17.5 प्रतिशत जनसंख्या एवं 2.4 प्रतिशत भू–क्षेत्रफल रखने वाले भारत के संदर्भ में पिछले दशक की सबसे बड़ी घटना इसका वैश्विक परिदृश्य में उभरना है। भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व की तीसरी सबसे बड़ी तथा चीन के बाद दूसरी आर्थिक वृद्धि वाली अर्थव्यवस्था हैं। सोने की चिड़ियाँ कहाँ जाने वाला भारत 300 वर्ष तक गुलामी की जंजीरो में जकड़ा रहा तथा स्वतन्त्रता के समय आर्थिक रूप से जर्जर एवं कमजोर था। नियोजित आर्थिक विकास के माध्यम से लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज की स्थापना एवं संरक्षित विकास का उद्देश्य लेकर भारत निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर होता रहा। 1991 के आर्थिक सुधारो, उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की नीति ने भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वरूप एवं दिशा को बदल दिया। उप्पादन तकनीक, विदेशी पूंजी, उद्योगो का निजीकरण, उदार मुद्रा नीति, लायसेंस प्रणाली की समाप्ति, खूला आयात–निर्यात, रूपये की पूर्ण परिवर्तनीयता, इत्यादि ने भारतीय अर्थव्यवस्था को तेजी से विकसित किया। आधारभूत संरचना का विकास, बैंक, बीमा, यातायात, ऊर्जा, संचार, सूचना प्रौद्योगिकी, शोध, अनुसंधान, आविष्कार ने

* असिस्टेंट प्रोफेसर, अर्थ ाास्त्र विभाग, के.डी.पी.जी. कालेज, सेवापुरी, वाराणसी

भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वरूप को परिवर्तित कर दिया। आज जबकि सकल घेरलु उत्पाद, बचत, विनियोग, पूंजी निर्माण, कृषि उत्पादन, औद्योगिक उत्पादन, निर्यात इत्यादि में वृद्धि कर भारत विश्व की तीसरी आर्थिक शक्ति के रूप में उभर रहा था तथा 2019 में 3.2 ट्रिलियन की अर्थव्यवस्था तथा 422 बिलियन डॉलर के विदेशी मुद्रा भंडार के साथ सशक्त हो रहा था कि अचानक वैश्विक महामारी कोविड–19 का देश में फैल जाने से इसका कहर भारतीय अर्थव्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित कर दिया और इससे पूरी जनता में त्राही–त्राही मच उठी और पूरे में सारी व्यवस्था ठप कर लॉक डाउन लगा दिया गया जिससे भारत देश एक विशाल महामंदी की ओर चले गया और आर्थिक स्थिति पर भार बढ़ने लगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव :

वैश्विक महामारी कोविड–19 का कहर पूरे देश में फैल चुका था और व्यापार से लेकर सरकारी/गैरसरकारी सभी तरह के प्रतिष्ठानों पर खोलने पर प्रतिबंध लगा दिया गया था जिससे आर्थिक स्थिति बिगड़ रही थी । इस मद्देनजर रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने अपने वक्तव्यों में कहा था कि " हम बूरे दौर से गुजर रहे है ।" अर्थव्यवस्था को 10 लाख करोड़ रूपए का नुकसान तथा 1.5 करोड़ रोजगार की कमी भारतीय अर्थव्यवस्था को मंदी के गर्त में पंहुचा सकती है । भारत में से 67000 से अधिक संक्रमित तथा 2200 से अधिक मृत्यु हो चुकी है । विश्वस्वास्थ संगठन के अनुसार यदि वैक्सीन नहीं निकलता तो विश्व की 70% जनसँख्या करोना से ग्रसित हो जाएगी । भारत की 75% वर्कफोर्स जो स्वरोजगार एवं कैसुअल वर्कर्स है, उनपर सबसे अधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। 400 मिलियन संगठित एवं अनोपचारिक क्षेत्र में कार्यरत जनसंख्या अत्यधिक प्रभावित हुई है । 14 करोड़ मजदुर पलायन के कारण दयनीय स्थिति में जीविकोपार्जन करने को मजबूर हो रहे है। उनके खाद्यान एवं रोजगार की समस्या भारतीय अर्थव्यवस्था के सामने मुहबाँए खड़ी है । 3.0 लॉकडाउन के पश्चात भारतीय अर्थव्यवस्था को 234 अरब अमेरिकी डॉलर के नुकसान का अनुमान लगाया जा रहा है। जिसमें कोविड–19 के प्रभाव को दो तरह से आंका जा सकता है–

प्रतिकूल प्रभाव :

वैश्विक महामारी कोविड–19 से देश में जो प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है उसमें उद्योग जो हानि में हुए– ऑटोमोबाइल, पर्यटन, एयर–सर्विसेज, टूर ओपेरटर, हॉस्पिटैलिटी, होटल, रेस्टोरेंट, टेक्सटाइल, रियल–एस्टेट, एविएशन, सिनेमा, ओला, उबेर इत्यादि।

अनुकूल प्रभाव :

इस वैश्विक महामारी ने व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर भी अनुकूल प्रभाव डाला है जिसमें ऑनलाइन शौपिंग बिजनस कम्पनी जैसे– अमेजन ,

अलीबाबा , फ्लिप्कार्ट इत्यादि। सोशल मीडिया कम्पनी– फेसबुक, टिकटोक, व्हात्सप्प, इन्स्टाग्राम इत्यादि। जीवन जीने के लिए जरुरी– अनाज, सब्जिया इत्यादिद्य कोरोना केयर–मास्क, सेनेटिजेर, हैण्ड वॉशर , दवाईया इत्यादि। भारत में अभी सात हजार करोड़ की इंडस्ट्री PPE किट्स उत्पादन की विकसित हुई है ।

वैश्विक महामारी से अर्थव्यवस्था का विघटन

इस वैश्विक महामारी ने वैश्विक स्तर पर अभूतपूर्व स्वास्थ्य चुनौतियों को उठाया और अद्वितीय नीतिगत दुविधाएं उत्पन्न की। 2018 के बाद से, वैश्विक उत्पादन में वृद्धि की गति कमजोर पड़ने के कारण व्यापार में तनाव और मंदी आयी, राजनीतिक अस्थिरता, मांग की आपूर्ति कम और औद्योगिक गतिविधियों में कमी जैसे विभिन्न कारकों को पैदा की। कोविड–19 महामारी ने गंभीर मांग और आपूर्ति में विच्छेद पैदा करके मंदी को और ज्यादा बढ़ा दिया।आधिकारिक गतिविधियों और निजी निर्णयों दोनों के कारण आर्थिक गतिविधियों में कमी आई है। महामारी के बाद की आर्थिक संभावनाओं और नीतियों के बारे में अनिश्चितता ने निवेश की गति को रोक दिया है। शिक्षा में व्यवधानों ने मानव पूंजी संचय को कम कर दिया है और वैश्विक मूल्य श्रृंखला और महामारी के मार्ग की व्यवहार्यता के बारे में चिंताओं ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और पर्यटन पर ताला लगा दिया है। जिसमें अप्रैल 2020 का महीना ''ग्लोबल लॉकडाउन' का महीना बन गया, और विश्व आर्थिक गतिविधि एक ठहराव पर आ गई। 2020 की दूसरी तिमाही के दौरान उत्पादन में भारी गिरावट आई। महामारी से प्रेरित सीमा बंद होने और आपूर्ति बाध्ति होने से वस्तुओं और सेवाओं के अंतर्राष्ट्रीय प्रावधन में बाध उत्पन्न हुई। इस महामारी ने वैश्विक ऋण संचय की एक दशक लंबी लहर के साथ जुड़े जोखिमों को बढ़ा दियाहै। बड़े पैमाने पर विवेकाधीन समर्थन, आउटपुट में तेज संकुचन और राजस्व में भारी गिरावट के कारणसरकारी ऋण और घाटे में वृद्धि हुई है। ऋण बोझ बढ़ गया है क्योंकि कॉर्पोरेट्स ने तेजी से कम बिक्रीकी अवधि का सामना किया और संप्रभु लोगों ने बड़े प्रोत्साहन पैकेजों को वित्तपोषित किया है। ऋणका स्तर ऐतिहासिक ऊंचाइयों से वैश्विक अर्थव्यवस्था विशेष रूप से वित्तीय बाजार में कमी से तनाव आ गया।

वर्तमान में 302 ट्रिलियन की भारतीय अर्थव्यवस्था जो 7.5 प्रतिशत औसत वार्षिक विकास दर से बढ रही थी अचानक कोविड–19 महामारी से संकट की स्थिति में पहुँच गयी है । विश्व बैंक, अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष, एशियाई विकास बैंक, मूडीस, आदि संस्थाओं ने भारत की विकास दर की गिरावट का संकट दर्शाया है । कोविड–19 ने पूरी अर्थव्यवस्था उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण, राजस्व, उद्योग, व्यापार, जीवनशैली, यहाँ तक की मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक एवं मानसिक स्थिति को बूरी तरह प्रभावित किया है ।

वास्तव में वैश्विक महामारी कोविड–19 ने उपभोग व मांग में कमी, सप्लाई चेन की समस्या, उत्पादन व रोजगार की कमी, प्रतिव्यक्ति आय मे कमी, व्यापार व्यवसाय पर प्रतिकूल प्रभाव, विदेशी मुद्रा कोष में कमी, मजदूरो के पलायन की समस्या, कोरोना से बचाव, स्वास्थ्य की चुनौती

इत्यादि ऐसी चुनौतिया है जिनसे हमे निपटना होगा । हमे ऐसे कारगर समाधान करने होंगे की इस वैश्विक महामारी से उत्पन्न समस्याओ को दूर कर सके ।कोविड–19 के वैक्सीन के निर्माण, करोना की कारगर दवाई, सोशल डिस्टेन्सिंग, मास्क, सेनेटिजेर, हैण्डवॉश इत्यादि करोना केयर को अपनाना, स्वदेशी को बढावा देना, लघु एवं कुटीर उद्योगों (MSME) को बढावा देना, गाँव में संरचनात्मक विकास एवं रोजगार को बढ़ाना, मनुष्य को सात्विक, मितव्ययी संपोषित जीवन पद्धति को अपनाना, गाँधीवादी आर्थिक मॉडल को अपनाना इत्यादि उपायों के द्वारा अर्थव्यवस्था को गति देना होगी तभी भारतीय अर्थव्यवस्था इस संकट से उभर पाएगी।

संदर्भ :

1. सोलंकी राकेश क़ुमार 2020 आत्मनिर्भर भारत रोजगार और भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव Juni Khyat, vol.-10, Issue-7, No.14, July2020.
2. मिश्र एवं पूरी-भारतीय अर्थव्यवस्था 2018, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई पृ.क्र. 76 से 87
3. *Shankar Acharya and Rakesh Mohan - India's Economy, Performance and Challenges (Delhi 2010) P. 340*
4. *Reserve Bank of India, Handbook of Statistics on the Indian Economy 20*18-19
5. लॉकडाउन बढ़ने से भारतीय अर्थव्यवस्था को कितना होंगा नुक्सान? अमर उजाला पी.टी.आई., दिल्ली, 14 अप्रैल 2020.
6. IMF world economic outlook 2019.
7. *Arun M. Kumar* (*CEO of KPMG*) *– Potential impact of covid-19 on the Indian economy- April, 2020 KPMG in India analysis, 2020.*
8. डॉ कमल भारद्वाज–'कोरोना संकट और विश्व अर्थव्यवस्था' सम्पादकीय मेरीकलम 2 अप्रैल 2020 समाचार पत्र राष्ट्रीय नवाचार
9. World economic outlook report 14th May 2020.
10. *http://indiabudget.nic.in*
11. wdi.worldbank.org
12. data.gov.in
13. khabar.ndtv.com/hindi
14. amarujala.com/india-news/coronavirus-disaster-leaves-deep-scars-on-indian-economy

***

पत्रकारिता के शिखर पुरूष : पंडित दीनदयाल उपाध्याय

डॉ. गीता शाहू *
डॉ. सूर्य प्रकाश पाण्डेय **

20वीं शताब्दी के भारत में जब राष्ट्र स्वाधीनता की खुशबू से महक उठता है तो एक ऐसा महापुरूष जिसने देश में एक नये नेतृत्व को न सिर्फ 'जनसंघ' के रूप में देश के जनमानस के सम्मुख रखा अपितु अपनी पत्रकारिता के कारण अलग पहचान भी स्थाापित किया। पंडित दीनदयाल जी सादा जीवन उच्चर विचार को आदर्श मानकर जीवन यापन करने वाले एक ऐसे महापुरूष थे जिनके व्यक्तित्व में राजनीतिज्ञ, कुशल वक्ता, सामाजिक–आर्थिक चिंतक, लेखक, संगठन शिल्पी एवं प्रखर पत्रकारिता कूट–कूट कर भरी थी। एक ऐसा मनीषी जिसमें एक आदर्श पत्रकारिता के सभी गुण थे इसीलिए उन्हें बड़े ही आदर के साथ राष्ट्र में राष्ट्रीय पत्रकारिता का शिखर पुरूष कहना श्रेयस्कर होगा। तत्कालीन समय में देश में एक ऐसे पत्रकारिता की धारा की महती आवश्यकता थी जिसकी बुनियाद भारतीयता के मूल्यों पर आधारित हो, न कि पाश्चात्य विचारों पर। भारतीय पत्रकारिता की दिशा और दशा पंडित जी की प्रखर लेखनी ने न सिर्फ तय किया अपितु भारत के सांस्कृतिक गौरव को वैचारिक अधिष्ठान के व्यवहारिक धरातल पर उतारने का श्रेष्ठ प्रयास भी किया। गौरवशाली राष्ट्र भारत के आदर्श 'चरैवेति चरैवेति' को अपने जीवन का आदर्श मानने वाले पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपने लेखन से भारत का भारत को, भारतीय दृष्टि से न सिर्फ परिचय कराया अपितु अपनी पत्रकारिता के केन्द्र में सनातन धर्म को निरन्तर प्रचारित करने में अपना जीवन लगाया। यूँ तो पत्रकारिता में मूल्यों को सर्वोपरि माना जाता है क्योंकि बिना नैतिकता और मूल्य से युक्त हुये बिना कोई भी प्रतिष्ठा प्राप्त पत्रकार नहीं बन सकता। यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि पंडित दीनदयाल जी ने नैतिकता और मूल्य से युक्त तथा सभी मूल्यों को अपने जीवन में उतारते हुये एक ऐसे श्रेष्ठ पत्रकार के रुप में प्रतिष्ठा पायी जो शायद कम ही लोगों को प्राप्त होता है।

पंडित जी ने जुलाई 1947 में लखनऊ से 'राष्ट्र धर्म' के प्रकाशन से अपनी पत्रकारिता की विधिवत शुरूआत किया। राष्ट्रीय विचारों के अग्रणी प्रतिनिधि एवं सनातन मूल्यों के संवाहक के रूप में पंडित जी ने मासिक पत्रिका राष्ट्रधर्म के साथ ही साप्ताहिक समाचार पत्र 'पांचजन्यं' एवं

---

* सहायक प्रोफेसर जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
** सहायक प्रोफेसर दर्शन एवं संस्कृति विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

'आर्गेनाइजर' (अंग्रेजी भाषा में) तथा स्वदेश नामक दैनिक समाचार पत्र आरंभ किया। स्वाधीनता संग्राम की ओर देखने से यह प्रमाणित होता है कि अधिकांश नेता पत्रकारिता के भी बड़े नाम थे जिनमें प्रमुख रूप से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पंडित मदन मोहन मालवीय, बाल गंगाधर तिलक, सत्य और अहिंसा रूपी दर्शन के संवाहक महात्मा गांधी डा. भीमराव अम्बेडकर जैसे प्रमुख नाम हैं बाद में भी यदि देखें तो श्रद्धेय अटल बिहारी वाजपेयी जी, आडवाणी जी भी उस परंपरा में खड़े नजर आते हैं। राष्ट्रीय अस्मिता एवं गौरव की अनुभूति इन महापुरूषों ने अपनी लेखनी के द्वारा समय–समय पर करवाया क्योंकि पंडित जी जैसे लोगों के लिए पत्रकारिता धनार्जन अथवा रोजगार का माध्यम न होकर अपितु राष्ट्र बोध के जागरण का माध्यम था।

यह एक सर्वविदित तथ्यक और महत्वपूर्ण बात है कि स्वतंत्रता के पश्चात् एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई जब देश समाजवादी ढांचे के आधार पर आगे बढ़ रहा था, पश्चिम के अंधानुकरण से बड़े स्तर पर प्रभावित दिखायी पड़ रहा था ऐसे में पंडित जी की भारतीयता रूपी दृष्टि ने अपनी लेखनी के माध्यम से भारत के समक्ष उपजी सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक चुनौतियों की हल बनी अपितु भावी भारत के विकास की रूपरेखा खींचने में भी महती भूमिका निभायी।

पंडित जी पत्रकारिता में नैतिकता, शुचिता और उच्च आदर्शों के पक्षधर थे। पत्रकारिता के क्षेत्र में उनका विचार अनुकरणीय है, यह बात जरूर सच है कि पंडित जी के व्यक्तित्व के सांगठनिक कौशल को ही भारत वर्ष में सबके सम्मुख प्रस्तुत किया गया जबकि पंडित जी राजनीति में सक्रिय होने के साथ ही साहित्य से भी व्यापक स्तर से जुड़े थे जिसका प्रमाण हिंदी और अंग्रेजी के उनके लेखों का विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहना था।

दीनदयाल जी न सिर्फ उच्चकोटि के विचारक, कुशल पत्रकार, प्रखर लेखक, परिपक्व राजनीतिज्ञ तथा सफल रणनीतिकार होने के साथ ही भारतीय संस्कृति, अर्थशास्त्र के मर्मज्ञ तथा राजनीति के लौह पुरूष भी थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे संघ की वैचारिकी के भास्वर प्रतीक भी शीघ्र ही बन गये थे यथा गुरू गोलवलकर के भाषणों के संकलन की चाहे बात हो, चाहे उस कालखंड में संघ साहित्य के निर्माण एवं उसके प्रचार प्रसार का माध्यम की बात की जाय सबका आधार पंडित जी की लेखनी ही बनी। संगठन के कार्यों एवं व्यस्तताओं के बावजूद भी उन्होंने संघ के प्रचार एवं प्रसार हेतु साप्ताहिक, मासिक पत्रिकाएँ आरम्भ करने के साथ ही उसे जन–जन तक पहुँचाने हेतु अथक परिश्रम किया। पंडित जी के अनुसार 'अखण्ड भारत देश की भौगोलिक एकता का ही परिचायक नहीं, अपितु के भारतीय दृष्टिकोण का द्योतक है जो अनेकता में

एकता का दर्शन कराता है। अतः हमारे लिए अखंड भारत कोई राजनीतिक नारा नहीं है, बल्कि यह तो हमारे सम्पूर्ण जीवन दर्शन का मूलाधार है।

पंडित जी के सम्पूर्ण साहित्य की ओर देखने पर यह दिखाई पडता है कि 'सम्राट चन्द्रगुप्त' तथा 'जगद्गुरू शंकराचार्य' उनकी साहित्यिक कृतियों के रूप में वर्ष 1946 तथा 1947 में प्रकाशित हुई। बड़े स्तर पर उनके साहित्य विचार प्रधान शैली में सामाजिक, राजनीतिक सांस्कृतिक तथा दार्शनिक निबंधों का संकलन भी दिखता है। राष्ट्र में अपनी लेखनी एवं पत्रकारिता के माध्यम से वे अपने सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक विचारों का सम्प्रेषण करते थे। यह बात निःसन्देह कहने में कोई अतिशंयोक्ति नहीं होगी कि यदि उस कालखण्ड के वैचारिकी को हमें जानना है तो उसके प्रामाणिक स्रोत केवल और केवल पंडित जी द्वारा प्रकाशित 'पांचजन्यग' तथा 'राष्ट्रधर्म' पत्रिकाएँ ही हैं। दीनदयाल जी राष्ट्रवादी पत्रकार होने के साथ ही बड़े चिंतक भी थे। राजनीति उनके लिए राष्ट्रीय एकता तथा अखंडता का साधन है। उनकी यह दृष्टि थी कि हम भारतीय चिन्तन परम्परा का ऐसा विकास करें कि वह अधुनातन विश्व विचार परम्परा का एक सार्थक हिस्सा बन सके और इसके लिए पंडित जी द्वारा लिखित और विवेचित साहित्य बहुत ही थोड़ा है लेकिन उसके निहितार्थ बड़े है जो आज के पत्रकारिता तथा समाज व्यलवस्था के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मुम्बई के अपने प्रसिद्ध भाषण के अंत में उन्होंने कहा, "हमने मानव के समग्र एवं संकलित रूप का थोड़ा विचार किया। इस आधार पर हम भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के साथ राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र, समता और विश्व एकता के आदर्शों को समन्वित रूप में रख सकेंगे। इनके बीच का विरोध नष्ट होकर वे परस्पर पूरक होंगे। मानव अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर सकेगा। इस प्रकार यदि हम देखें तो भाषा के प्रति उनकी सौम्यता, सहजता और जनसामान्य के प्रति भाव उन्हें एक बड़ा पत्रकार बनाता है। जिस प्रकार उन्होंने पत्रकारिता के सिद्धांतों की स्थापना किया, उन सिद्धांतों के आधार पर राष्ट्रवादी विचारों को जन–जन तक पहुँचाया वह अपने आप में अनुकरणीय है। आज जब हम वटवृक्ष की तरह पुष्पित, पल्लावित भारतीय जनता पार्टी को देखते हैं तो उसके साहित्य तथा दर्शन का आधार विचारणीय प्रश्न बन कर उभरता है किंतु उसकी सम्परीक्षा से यह सिद्ध होता है कि उसका आधार पंडित दीन दयाल उपाध्याय की पत्रकारिता तथा उनका साहित्य और उनके सुझाये गए रास्ते हैं। राष्ट्र धर्म, पांचजन्य और स्वदेश के माध्यम से पत्रकारिता के क्षेत्र में दीनदयाल जी ने जो मूल्य और मानदण्ड स्थापित किया, वह आज के पत्रकारों के लिए अनुकरणीय है। पंडित जी श्रेष्ठ संचारक, लेखक, संपादकों के भी संपादक थे इसीलिए उनकी दृष्टि में पत्रकारिता का ध्येय राष्ट्रहित सर्वोपरि होना चाहिए। भारतीय राजनीति में राष्ट्रवादी प्रवाह को तेजी से विस्तारित करने वाले पत्रकारों में दीनदयाल जी का नाम बड़े ही आदर तथा सम्मान के साथ

लिया जाता है क्योंकि भारत की पत्रकारिता जो भारतीय मूल्यों को आदर्श मानती है उसने सदैव अपने प्रयासों से राष्ट्रवाद को ही पोषित, पल्ल्वित करने के दायित्व का पूर्ण निर्वहन किया है। इस प्रकार राष्ट्र को पत्रकारिता के साथ ही पंडित जी ने एकात्म मानव दर्शन तथा अन्तयोदय रूपी एक श्रेष्ठ वैचारिकी भी दिया जो आज कोरोना के कालखंड में भी उपजे समस्त समस्याओं के हल के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है। उनकी लेखनी की अजस्त्र धारा अखंड राष्ट्र की अवधारणा से प्रेरित थी यह अवधारणा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से जन्मी है जिससे सम्बन्धित पंडित जी के विचार वही थे जो भारतीय महापुरुषों यथा विवेकानंद, अरविंद, तिलक, वीर सावरकर जैसे नेताओं की लेखनी एवं सोच में विद्यमान था। पंडित जी कहा करते थे प्राचीन समय से ही सांस्कृतिक एकता ही हमारी राष्ट्रीयता का आधार रही है। देश में रहने वाले लोगों के अंतःकरण में अपनी भूमि के प्रति असीम श्रद्धा की भावना का होना राष्ट्रीयता की पहली आवश्कता है। राष्ट्र के प्रति भक्ति तथा अपने राष्ट्र के जनसमूह के प्रति सहानुभूति की भावना का मूल कारण न तो हमारी यह स्वार्थों की एकता है और न प्रभुत्व न ममत्व की। व्यक्ति की आत्मा के समान ही राष्ट्र में एकात्मकता फूटती है। राष्ट्र की यही आत्मा चिति है। किसी को राष्ट्र की एकता के लिए मूल कारण संस्कृति, सभ्यता, धर्म, भाषा आदि की एकता ही नहीं बल्कि इसके मूल कारण एक चिति के व्यक्त परिणाम हैं। चिति के प्रकाश से ही राष्ट्र का अभ्युदय होता है और चिति के विनाश से राष्ट्र का अद्यःपतन होता है। इस प्रकार यदि हम यह कहें कि आजादी के पश्चात् पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी माँ भारती के ऐसे सच्चे सपूत थे जिन्होंने अपनी पत्रकारिता का आधार राष्ट्रीय हित को न सिर्फ बनाया अपितु वर्तमान दौर के पत्रकारिता के लिए प्रेरक व्यक्तित्वो के रुप में आज भी हमारे बीच उपस्थित है ।

संदर्भ :

1. दीन दयाल उपाध्याय : राष्ट्र जीवन का आधार, पृष्ठ संख्या 76
2. पं. दीन दयाल उपाध्याय, कृतित्व एवं विचार – डा. महेश चन्द्र शर्मा,
3. आर्गनाइजर, 11 दिसम्बतर 1961
4. भारतीय राजनीति का पं. दीनदयाल उपाध्याय का योगदान – डा. इला त्रिपाठी, डा. पी. एन. त्रिपाठी
5. दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्र चिंतन
6. अखंड भारत : साध्य और साधन, राष्ट्र धर्म प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ – 33

***

रायगढ़ रियासत के गौरव - राजा चक्रधर सिंह

डॉ. रणजीत कुमार बारीक *

राजा चक्रधर सिंह

मदनसिंह द्वारा स्थापित रायगढ़ रियायत को कला के क्षेत्र में राष्ट्रीय पहचान देने वाले राजा चक्रधर सिंह का नाम भारत के महत्वपूर्ण शासकों में गिना जाता है। इस महान शासक का जन्म गोंड़ राजवंश में भाद्र कृष्ण पक्ष अश्वनी गणेश चतुर्थी 9 अगस्त 1904 को रियासत के आठवें राजा भूपदेव सिंह के द्वितीय पुत्र के रूप में हुआ। चक्रधर सिंह के दो भाई एवं एक बहन थी। बड़े भाई नटवर सिंह एवं छोटे भाई बलभद्र और एक मात्र बहन सुभद्रा थी। चक्रधर सिंह की प्रारंभिक शिक्षा मोती महल में ही हेडमास्टर श्री दुबे की देख रेख में हुई। दस वर्ष की आयु में, आगे की शिक्षा के लिए इन्हें राजकुमार कालेज भेजा गया। इन्ही दिनों इन्होने अच्छे विद्यार्थी के रूप में अपना नाम रोशन किया । उर्दू, संस्कृत, अंग्रेजी एवं हिन्दी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था।

राजा चक्रधर सिंह की पढ़ाई के साथ साथ घुड़सवारी में भी अच्छी पकड थी। खेल में उन्हे टेनिस में रूचि थी। किंतु विशेष रूचि उन्हें पहलवानी में थी। जिसके कारण उनके दरबार में अनेक पहलवान रहते थे। पढ़ाई पूरी करने के बाद 1923 में चक्रधर सिंह ने प्रशासन समिति के कार्य सीखने के लिए छिंदवाड़ा में ऑननेरी एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर के रूप में कार्य किया। उनके पिता की मृत्यु के बाद 1917 में उनके बड़े भाई नटवर सिंह ने राज्य प्रशासन संभाला। इनके समय प्रशासन व्यवस्था अत्यंत जर्जर हो गयी थी। जिसके कारण ब्रिटिश सरकार ने कोर्ट ऑफ वार्ड्स व्यवस्था के अंतर्गत अधिग्रहित कर लिया। 1924 में नटवर सिंह की अकस्मात मृत्यु होने तथा राजा के निःसंतान होने के कारण 1924 में रायगढ़ रियासत की गद्दी पर चक्रधर सिंह का राज्याभिषेक हुआ। पूर्व शासक के समय छीना गया शासनाधिकार इसे क्रमिक रूप से सन 1927 एवं 1931 में प्राप्त हुआ। फरवरी 1927 में रायगढ़ में आयोजित पब्लिक दरबार में हिज एक्सेलेंन्सी गवर्नर द्वारा इसे रूलिंग चीफ के अधिकार प्रदत्त कर दिये गये। पूर्ण अधिकार प्राप्ति के कुछ वर्षो के पश्चात् लगभग 1936 में राज्यारोहण की सिल्वर जुबली मनायी गयी सिजमें सांस्कृतिक कार्यक्रम तथा प्रतियोगिता आयोजित की गई तथा भव्य समारोह के साथ अनेक निर्माण कार्य हेतु

* सहायक प्राध्यापक (इतिहास), के.एम.टी. शासकीय कन्या महावि., रायगढ़, (छ.ग.)

आधारशिला रखी गयी। 26 फरवरी 1937 को इन्हे गवर्नर जनरल से सनद प्राप्त हुई। इस राजा ने रियासत के विभिन्न विभागों का पुर्नगठन किया एवं अनेक सुधार कार्य किये। प्रशासनिक क्षेत्र के अतिरिक्त कला के क्षेत्र में भी इस राजा ने विशेष रूचि दिखाई। वह स्वंय उच्च कोटि के लेखक एवं संगीतज्ञ थे। संगीत तथा साहित्य पर उन्होने कई श्रेष्ठ ग्रंथ लिखे। चक्रधर सिंह ने नये राज प्रसाद तथा अन्य अनेक भवनों का निर्माण किया। राज्य शासन संभालने के बाद उन्होंने हर क्षेत्र में समुचित ध्यान दिया। उनके दरबार में डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र जैसे सुयोग्य विद्वान दीवान थे। जिन्होनें रियासत में उत्तरदायी शासन लागू करने और जनता की प्रशासन में सहभागिता बनाने का प्रयास किया। नरेश चक्रधर सिंह ने तीन विवाह किए। पहला विवाह 1923 में रायपुर जिले के बिन्द्रावनगढ़ के जमींदार की बहन से हुआ। इससे राजकुमार रवि सिंह, भानूप्रताप सिंह एवं बहन मोहिनी देवी और गंधर्व कुमारी का जन्म हुआ। रानी की मृत्यु के बाद 1929 में चक्रधर सिंह ने सारंगढ़ की राजकुमारी बसंतमाला देवी से दूसरा विवाह किया। इनसे 1932 में सुरेन्द्र सिंह का जन्म हुआ। किंतु दूसरी रानी का भी तुरंत स्वर्गवास होने के कारण उन्होंने कवर्धा रियासत के राजा धर्मराज सिंह की बहन लीकेश्वरी देवी से विवाह किया इससे कोई संतान नहीं हुई जिसके कारण लोकेश्वरी देवी ने सुरेन्द्र सिंह को गोद ले लिया।

नरेश चक्रधर सिंह अपने पिता के अत्यंत प्रिय थे। उन्ही के जन्म के उपलक्ष्य में ही उनके पिता ने 1904 में मोती महल का निर्माण करवाया, जो कि 1910 में पूर्ण हुआ। महल के भीतर एक शिलालेख में अंकित है, – ''अपने प्रिय पुत्र चक्रधर सिह के लिए''। नन्हे महाराज के नाम से पहचाने जाने वाले राजा चक्रधर सिंह सौम्य एवं सुशील स्वभाव के थे। उनके जैसा शीलवान राजा शायद ही कोई दूसरा होगा। राजा चक्रधर सिंह साधारण कद एवं गौर वर्ण के आकर्षक व्यक्तित्व के स्वामी थे। पहनावा में वे धोती कुर्ता एवं खान पान के बेहद शौकीन व्यक्ति थे। उनके दरबार में प्रायः सभी प्रांतों के पाक शास्त्री रहते थे। उनका मिलनसार स्वभाव सभी को प्रभावित करता था।

उनके व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण पहलू उनकी संगीत में रूचि थी। वे एक उत्कृष्ठ तबला वादक थे। जिसकी शिक्षा उन्होंने बचपन से ही आरंभ कर दी थी। खैरागढ़ में वे एक सम्मेलन में, जिसकी अध्यक्षता ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा की गई थी। इसमें चक्रधर सिंह ने नर्तकी के साथ दो घंटे तक तबले पर संगत की जिसकी प्रशंसा सर्वत्र हुई। उन्होंने गणेश उत्सव के दौरान प्रख्यात संगीतज्ञों को रायगढ़ बुलवाया। वे एक अच्छे कलाकार के साथ–साथ एक अच्छे कला के पारखी भी थे। जिसके कारण उन्होंने रियासत के समीपवर्ती क्षेत्रों के उभरते कलाकारों को पहचाना तथा उन्हे राष्ट्रीय स्तर के कलाकार के रूप में मान्यता दिलायी। इनके विषय में कार्तिकराम ने लिखा है कि ''राजा साहब स्वयं एक उत्कृष्ठ कलाकार थे,

उन्होंने हमे असीम स्नेह दिया उनके संरक्षण में कला का विकास हुआ आज कत्थक में मै जो भी हूँ उन्ही का दिया है।'' राजा स्वयं एक अच्छे नर्तक थे। इनके विषय में पंडित लोचन प्रसाद पाण्डे ने लिखा है ''चक्रधर सिंह स्वयं अच्छे नर्तक थे, वे अपने दरबार के कलाकारों को सिखाते भी थे तथा उन्होंने नृत्य के अभिनव शैली को जन्म दिया।''

चक्रधर सिंह ने अपनी प्रतिभा से कत्थक की अभिनव शैली को जन्म दिया, संगीत के शास्त्रीय पक्ष को पुनर्जीवित किया। यही वजह है कि रायगढ़ दरबार ने कत्थक नृत्य में बेहद नाम कमाया। और आज उसे एक घराने के रूप में जाना जाता है। उन्हें लखनऊ के संगीत सम्मेलन में '' संगीत सम्राट की उपाध मिली।''राजा की साहित्यिक अभिरूचि उनके द्वारा लिखित पुस्तकों–''रम्य रास'' रत्नाहार, नर्तन सर्वस्व में परिलक्षित होती है। देश के प्रख्यात साहित्यकार रायगढ़ आए व यहीं गहन रचनायें सभाएं होती थी। भगवतीचरण वर्मा ने लिखा है ''उनकी प्रतिभा देखकर प्रभावित हुये बिना नहीं रहा जा सकता।''

राजा चक्रधर सिंह अच्छे नर्तक भी थे। उनकी द्वितीय रानी बसंत माला देवी की प्रेरणा से उनका नृत्य के प्रति अनुराग बढ़ गया। उन्होंने प्रख्यात नर्तक सीताराम जी से नृत्य की शिक्षा ली थी। लोचन प्रसाद पाण्डेय ने लिखा है –"एक बार मैं दरबार पहुंचा तो राजा स्वंय एक नर्तक को नृत्य की बारीकियां सिखा रहे थे। वह स्वंय नृत्य करके दिखा रहे थे जिससे उनके नृत्य के ज्ञान का पता चल सकता है।''

उन्होंने रियासत में कई निर्माण कार्य करवाए। चक्रधर सिंह ने नये राजप्रसाद तथा अन्य अनेक भवनों का निर्माण कराया। प्रसिद्ध सेठ किरोड़ीमल को रायगढ़ लाने का श्रेय भी उन्ही को जाता है। उन्होंने किरोड़ीमल की इच्छानुसार रियासती क्षेत्र में कई जगह भूमि उपलब्ध करवाई। हालांकि इनमें निर्माण कार्य शुरू होने तक राजा का स्वर्गवास हो चुका था। पर आज रायगढ़ रियासत का भव्य गौरीशंकर मंदिर, महाविद्यालयों के भवन, धर्मशालाओं के निर्माण में अप्रत्यक्ष रूप से राजा का योगदान है। उन्होंने अपने दीवान बलदेव प्रसाद मिश्र के सुझाव पर चक्रधर अनाथालय का निर्माण करवाया जिससे अनेक अनाथ बच्चों का कल्याण हो। 1939 में रियासत में ब्रिटिश सरकार द्वारा वित्तीय प्रतिबंध लगा दिये जाने का कारण उसके बाद रियासत में महत्वपूर्ण सुधार कार्य नहीं हो सका तथा पंजाब के शरणार्थियों के सहायतार्थ राजा ने शरणार्थी सहायता कोष निर्मित किया एवं व्यक्तिगत रूप से प्रजा से धन एकत्र कर 25 हजार रूपये पंडित जवाहर लाल नेहरू को भेजने की घोषणा की थी।

राजा चक्रधर सिंह का प्रशासन के क्षेत्र में भी अमूल्य योगदान रहा है। रियासत में उत्तरदायी शासन लागू करने और जनता की प्रशासन में सहभागीता बढ़ाने के उद्देश्य से उन्होंने 1939 में राज्य में शासन परिषद, प्रजा परिषद, 1945 में राज्य परिषद, 1947 में कार्यकारिणी परिषद का गठन किया।

1932 में उन्होंने रायगढ़ स्टेट में सर्विस रेग्यूलेशन्स पारित कर रियासत के कर्मचारियों की सेवा शर्तों, वेतनमान को नियमित एवं व्यवस्थित किया। शिक्षा, लोक स्वास्थ्य की ओर समुचित ध्यान दिया। 1927 में उन्हें रूलिंग चीफ का अधिकार मिला। 1931 में शासनाधिकार प्राप्त हुआ, 1937 में 5500 रूपये वार्षिक टकोली (कर) के साथ उन्हें नई सनद दी गई। उन्होंने राजस्व प्रशासन को सुव्यवस्थित किया तथा अधिकारियों क्रमशः दीवान, नायब दीवान एवं तहसीलदार को देखरेख करने हेतु निर्देशित किया। जैसे की उसके पुत्र भानुप्रताप उनके बारे में कहते है :– ''प्रजा कल्याण उसके शासन का केन्द्रीय तत्व था।"

इस तरह रायगढ़ रियासत का चक्रधर सिंह का कार्यकाल रियासत का स्वर्ण युग कहा जाये तो कोई अनुचित न होगा। किंतु जैसा कि उदार हृदय वालों का एक दुर्बल पक्ष भी होता है। राजा चक्रधर सिंह इससे अछूते नहीं थे। रियासती आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा ललित कलाओं के विकास तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों में व्यय कर दिया जाता था। इससे रियासत की वित्तीय स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन को सन् 1939 में हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य होना पड़ा और राजा की वित्तीय शक्तियां प्रतिबंधित कर दी गई। प्रतिबंधित स्थितियों के कारण सन् 1939 के बाद रियासत में कोई महत्वपूर्ण सुधार कार्य नहीं हो सका। किन्तु 7 अक्टूबर 1947 को हृदयगति रूक जाने के कारण 42 वर्ष की अल्पायु में चक्रधर सिंह की मृत्यु हो गई।

आज रायगढ़ में राजा चक्रधर सिंह के जन्म दिवस (गणेश चर्तुथी) के उपलक्ष्य में 10 दिन का राष्ट्रीय चक्रधर समाहरोह का आयोजन किया जाता है जिसमें देश के विभिन्न कोनों से राष्ट्रीय स्तर के कलाकार अपनी प्रस्तुति देने आते है और उनके नाम से संगीत क्षेत्र में एक राष्ट्रीय पुरस्कार भी दिया जाता है।

संदर्भ :

1. कार्तिकराम, रायगढ़ में कथक
2. राजकुमार, सुरेन्द्र सिंह जी से साक्षात्कार(राजा चक्रधर सिंह के पुत्र)
3. दरबार ऑफिस रायगढ़ स्टेट फाईल नं. आर 4/46, 1946.
4. रायगढ़ समाचार मासिक, रायगढ़ संस्करण मार्च 1939, पृष्ठ 24–25.
5. मुकुटधर पाण्डेय संस्मरण.
6. अमृत बाजार पत्रिका, कलकत्ता 10 सितंबर 1947.
7. टाईम्स ऑफ इंडिया, बंबई 10 सितंबर 1947.
8. दरबार ऑफिस रायगढ़ स्टेट फाईल नं.पी–1–2/45 11.
9. प्रोसीडिंग्स ऑफ मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स पी.आर. ब्रांच फाईल नं. 8 (97) पी.आर/47.

***

भूमण्डलीकृत दुनियाँ की इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यास की चिन्ताएँ

बलबीर सिंह *

इक्कीसवीं सदी में प्रवेश के साथ भारतीय समाज एक झटके से नये युग मे नहीं बदल गया. लेकिन बहुत से बदलाव इसमें हुये, इन परिवर्तनों को समझने की अनिवार्य शर्त है कि तत्कालीन परिस्थितियाँ क्या थीं । शीतयुद्ध के बाद में शुरू हुये उदारीकरण का प्रभाव भारतीय अर्तव्यवस्था पर पड़ा। भारत में उदारीकरण को लागू करने वाले देश के तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी का कहना था –"देश की समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है जब युवा वर्ग आगे आएगा। आज गांव में तरह–तरह की परेशानियां हैं। गांव की सड़कें उबड़ खाबड़ पड़ी हैं। किसानों को पानी व बिजली की सुविधाएं मुहैया नहीं है। ऐसे में नौजवानों को चाहिए कि वे इन समस्याओं के कारणों का पता लगाएं जिससे कि उनका निराकरण किया जा सके। जो लोग देश को जाति धर्म और भाषा के नाम पर कमजोर करना चाहते हैं नौजवानों को उनसे निपटना चाहिए। नौजवानों को यह देखना चाहिए कि भारतीय समाज में सरकार के पैसे का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है। जिन लोगों में ईमानदारी नहीं है, नौजवानों को उनके साथ सख्ती से पेश आना चाहिए।सरकारी धन का गलत उपयोग न हो ।इन सभी बातों पर नौजवानों को ध्यान देना चाहिए।" हालाँकि यह राजनीतक उद्‌बोधन था पर देश की समस्याओँ पर यथार्थ स्थितियों को उजागर करता था। उदारीकरण की इसी कड़ी में देश में कम्प्यूटर का दौर आरम्भ हुआ जो गणनाओं की व सूचनाओं के जनतान्त्रिकीकरण की तरफ एक बड़ा कदम था। इसने एक बड़े तबके के वर्चस्व को चुनौती देने की सम्भावनाओं के दरवाजे खोले। यह दरवाजे खोलना ही भूमण्डलीकरण की ओर एक कदम बना। श्री राजीव गाँधी से पहले का शासन देश को देश की जनता के रूप में देख रहा था पर उदारवाद की लहर ने देश को युवा देश के रूप में पहचानने की ओर अग्रसर किया उन्हीं के शब्दों में नौजवानों को चाहिए कि वे समस्याओं का पता लगायें. यह अकस्मात नहीं था नई तकनीक को लाने के लिये जितना युवा उत्सुक हो सकता था उतना समस्याओँ से घिरा देश नहीं। उदारीकरण के इस उद्‌बोधन ने देश की राजनीति को नौजवानों की तरफ मोड़ दिया। नौजवानों को लेकर राजीवोत्तर भारत में विमर्श के केन्द्र में ला दिया। एक तरफ समाजवादी विश्वनाथ प्रसाद सिंह व मण्डल कमीशन ने नौजवानों के भीतर पिछड़े वर्ग के नौजवानों को लाने की आवश्यक शर्त लागू की वहीं आडवानी और

* लेखक, शोधार्थी, हिन्दी विभाग, आगरा कॉलेज आगरा

नागपुर केन्द्र ने नौजवानों में धर्म के राजनीतिकरण की ऊर्जा की पहचान की।

'किसी रचनाकार की चिन्ता का मुख्य विषय जीवन का यथार्थ है व जीवन का यथार्थ बहुआयामी होता है। रचनाकाल में रचनाकार की चेतना के ऊपरी स्तर व भीतरी अन्तर्दृष्टि में द्वन्द्व होता है। अन्तर्दृष्टि की विजय में यथार्थवाद की विजय निहित होती है।'[1] उन्नसवीं सदी का उपन्यास यथार्थवाद की विजय का साहित्य है. तत्कालीन रचनाकारों ने यथार्थ का यथासम्भव चित्रण किया है। ममता कालिया का 'दौड़' उपन्यास उपभोक्तावाद, भूमंडलीकरण और उत्तर–आधुनिक समय का दर्दनाक आख्यान है। इस उपन्यास के युवा पात्र पवन स्टैला और सघन सिर्फ उपन्यास के ही नहीं बल्कि समकालीन समय के आधुनिक चरित्र हैं। ये वो चरित्र हैं जो आज के मनुष्य की महानगरीय दौडभाग का आधुनिक जीवन जीते मध्यमवर्गीय और उच्च मध्यमवर्गीय परिवारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। रेखा, राकेश, पवन, सघन इस एकही परिवार के सदस्यों के इर्द–गिर्द घुमती कहानी आज के हर परिवार की कहानी बन गयी है। बच्चों के बेहतर भविष्य के लिए मॉ–बाप मिलकर सारी सुविधाएँ समेटते हैं, उन्हें महॅगी और ऊॅची शिक्षा देकर स्वप्निल दुनिया का दरवाजा दिखाते हैं, फलस्वरूप बच्चे इस बदलते परिवेश में सरसाते हुए इतने आगे निकल जाते हैं कि उन्हें मॉ–बाप के उन बेशकीमती क्षणों को याद करने का वक्त ही नहीं मिलता। पवन और सघन मध्यमवर्गीय परिवार के बच्चे हैं। उनका लालन–पालन एसे घर में हुआ है जहॉ भारतीय संस्कारों के बीज बोये गये हैं। इलाहाबाद शहर होकर भी औदयोगिक शहरों से पिछडा शहर माना जाता है। ममता कालिया का 'दौड' आज के मनुष्य की कहानी है जो बाजार के दबाव–समूह, उनके परोक्ष–अपरोक्ष मारक तनाव, आक्रमण और निर्ममता तथा अंधी दौड़ में नष्ट होते मनुष्य के आसन्न खतरे में पडे मनुष्यत्व को उजागर करती है। यह रचना मनुष्य की पारंपारिक संबंधों की परंपरा और वर्तमान की जटिलताओं के मध्य विकराल होते अंतराल की सूक्ष्म पडताल करती है। जिस कथित आर्थिक उदारीकरण ने बाजार और बाजारवादी व्यवस्था को ताकत दी है, अपने पारंपारिक नाते–रिश्ते को अनुदार, मतलबी और अर्थ–केंद्रित बना दिया है उसने मानवीय मूल्यों को भी बदल दिया है।

शमोएल अहमद का उपन्यास 'महामारी' राजनीति के नये स्वर को पकडता है। इस उपन्यास का पात्र शिरवानी समाज विरोधी ताकतों से लड़ने का निश्चयकरता है व ढानचू की मौत होने पर उसके नाम पर एक संस्था बनाता है। नेता के भाषण का अंश इस प्रकार है–'आज़ादी की जंग से तीन बातें पैदा हुई, धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र व सामाजिक न्याय। गांधी जी की अगुवाई में तीनों बातें उभर का सामने आई। आज की राजनीति ने धर्मनिरपेक्षता पर कड़ा प्रहार किया है। यह हमला अगर जारी रहा तो भाईयों, देश में अराजकता फैल जायेगी–––––– भीड़ खामोश है। नारे

लगाती। बीच बीच में ताली बजा देती है। मसीहा की कड़क आवाज़ माईक पर मुसलसल उभर रही है।' वर्तमान भारत में मौजूदा राजनीति का एक प्रबल स्वर धर्मनिरपेक्षता और लोकतन्त्र को बोना करता उनका क्षय करता आगे बढ़ रहा है, सत्ता पर काबिज हो रहा है।

भारतीय अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार कृषि और किसान है। किसानों की उन्नति से ही देश की उन्नति संभव है। किसान पूरे देश का अन्नदाता है। वैश्वीकरण के दौर में उसकी भी स्थिति में सुधार होगा ऐसा लगा था। लेकिन आज के बाजारवादी दौर में वह हाशिए पर चला गया है। उसकी फ़सल सामाजिक समस्या बन गयी है। उसे अपनी फ़सल का उचित मूल्य नहीं मिल रहा है। कर्ज की समस्या से वह घिरा हुआ है। खाद, बिजली और पानी की समस्याएँ उसे परेशान कर रही हैं। उसका कई आयामों पर शोषण हो रहा है। आजादी के पहले शोषकों को किसान समझ सकता था। लेकिन आज उसका चालाकी से शोषण किया जा रहा है। इससे शोषकों को पहचानना भी मुश्किल हुआ है। आजादी के इतने साल बीत जाने पर भी किसानों को न्याय नहीं मिल पा रहा है। वह समस्याओं के मकड़ जाल में घिरा हुआ है। कभी प्राकृतिक आपदाएं तो कभी सरकारी नीतियों से वह परेशान हो रहा है। उसकी फ़सल को उचित मूल्य न मिलना भी आज एक गंभीर समस्या हो चुकी है। अच्छे बीजों की उपलब्धता और वितरण की असमानता की समस्या ने भी किसानों का जीना मुश्किल किया है। किसानों के लिए सारे हालात ऐसे हैं कि "जिंदा कैसे रहा जाए ?" इस स्थिति में वह फांसी के फंदे को अपनाकर आत्महत्या कर रहा है। अब तक तीन लाख से अधिक किसानों ने आत्महत्याएं की हैं। किसान आत्महत्या आज चिंता का विषय बना है और हिन्दी उपन्यास ने इस चिन्ता को अपने भातर स्पेस दिया है।

'भारत एक कृषि प्रधान देश है' यह उक्ति इतनी ज्यादा चलन में आ गयी की खेती, किसान और उससे जुड़े लोग सरकार की नीतियों में कहीं जगह नहीं पा सके। किसानों के संबंध में सरकार की घोषणाएँ या तो फाइलों में बंद हो जाती हैं या बिचौलियों तक ही सिमट कर रह जाती हैं। किसानों के संबंध में सरकार की योजनाएं वैसे भी कारगर नहीं रही हैं फिर भी जो योजनाएं बनाई गई उसका क्रियान्वयन सही ढंग से नहीं हो पाया। परिणामस्वरूप खेती की नई–नई विधियों की जानकारी के आभाव में एवं दिन–प्रतिदिन खाद एवं बिजली के मूल्यों में बढ़ोत्तरी होने के कारण किसान खेती से लागत का मूल्य भी नहीं निकाल पाता हैं। आज किसानों के समक्ष अशिक्षा, गरीबी, भुखमरी एवं आत्महत्या जैसी अनेक समस्याएँ मुँह बाये खड़ी हैं। देश की लगभग आधी फीसदी से ज्यादा आबादी सरकार और समाज दोनों के यहाँ हशिएँ पर है। अगर साहित्य की बात करें तो स्वतंत्रता के बाद किसान जीवन की समस्याओं को लेकर उस लेखन के कलेवर का अभाव है जो प्रेमचंद के यहाँ दिखता है। प्रेमचंद के बाद अनेक रचनाकारों

ने किसानों की समस्याओं को लेकर उपन्यास लिखे हैं, उनमें समकालीन कथाकार शिवमूर्ति के उपन्यास 'आख़िरी छलांग', संजीव का 'फांस' तथा पंकज सुबीर का उपन्यास 'अकाल में उत्सव' उल्लेखनीय हैं।

शिवमूर्ति का 'आख़िरी छलांग' किसान जीवन पर केन्द्रित उपन्यास है। जो प्रेमचंद की परंपरा की ही एक कड़ी दिखती है। 'आख़िरी छलांग' उपन्यास का कथानक परस्पर उलझी हुई किसान जीवन की अनेक समस्याओं का जंजाल है। कथानक का आधार पूर्वी उत्तर प्रदेश का ग्रामांचल है। इसका नायक पहलवान एक किसान है। उसके सामने विरासत में मिली तथा नयी विकास नीतियों के कारण निर्मित अनेक समस्याएँ हैं। वह अपनी सायानी बेटी के लिए दो साल से वर खोज रहा है , बेटे की इंजीनियरिंग की फीस का जुगाड़ नहीं हो रहा है, तीन साल से गन्ने का बकाया नहीं मिल रहा है, सोसायटी से खाद के लिए लिया गया कर्ज चुकता नहीं हुआ है। हर दूसरे महीने में ट्यूबवेल के बिल की तलवार सिर पर लटक जाती है। ऐसी कई समस्याओं को पहलवान किसान के माध्यम से कथाकार ने अपने उपन्यास में उठाया है। शिवमूर्ति ग्रामीण रचनाकार हैं। उन्होंने किसानों की समस्याओं को समझा तथा उनकी समस्याओं को महसूस किया है। पहलवान महसूस करता है कि जैसे नहर के पेट भीतर सिल्ट भर जाती है उसी तरह किसान की तकदीर में भी साल दर साल सिल्ट भरती जा रही है। अपनी किसान जीवन की समस्याओं से तंग आकर वह इस व्यवस्था से प्रश्न करता है कि "सरे हालत तो मर जाने के हैं। जिंदा कैसे रहा जाए।"[2] ज़मीदार के ज़माने में किसानों का शोषण किया जाता था, उसको जेठ की धुप में मुर्गा बनाया जाता था, कोड़े से पिटवाया जाता था। वह जमीदारों का जमाना था। किन्तु आज इतने दिन बाद भी किसान की जिंदगी में बहुत कुछ नहीं बदला। उसका शोषण हो रहा है। पैसे वसूलने के लिए कानून का सिर्फ किसानों, मजदूरों के लिए इस्तमाल हो रहा है। किसानों के नये सिरे से होने वाले शोषण को अब तो पहचानना भी मुश्किल हो रहा है। इन परिस्थितियों के कारण किसानों के मन में घिरा अँधेरा बाहर के अँधेरे से भी ज्यादा घना हो रहा है। इससे तंग आकर किसान पहलवान कहता है कि "किसान के घर में जन्म लेकर न पहले कोई सुखी रहा है न आगे कोई रहेगा। इन्हीं परिस्थितियों में जिंदगी की नाव खेना है।"[3] किसानों की समस्याओं को अभिव्यक्त करते हुए शिवमूर्ति जी ने इतिहास और वर्त्तमान को सामने रखा है। उपन्यास मुख्य रूप से किसान जीवन की पेचीदगियों के प्रति सजग करता है। इसमे किसान जीवन से जुड़ें सांस्कृतिक और धार्मिक संदर्भ भी मिलते हैं। इसका आकार भले ही लघु हो लेकिन यह उपन्यास किसान जीवन की समस्याओं को व्यापकता के साथ प्रस्तुत करता है। यह केवल अवध की धरती पर ही नहीं बल्कि समूचे भारत में चेतना लाना चाहता है।

कथाकार संजीव ने अपने उपन्यास 'फांस' में किसान जीवन की विभिन्न समस्याओं को उकेरा है। उन्होंने किसानों की मूलभूत समस्या खाद, पानी, बीज, बिजली की समस्या, प्राकृतिक समस्या, फसल का उचित मूल्य न मिलने की समस्या, कर्ज की समस्या तथा आत्महत्या के कारणों को बड़े ही बेबाकी के साथ अपने उपन्यास में दिखाया है। उपन्यासकार ने कर्ज की समस्या को अपने उपन्यास में इस तरह व्यक्त किया है– "अगले महीने बैंक का २५ हजार का कर्ज अदा करना है। आज गुढ़ी पाडवा है–मराठी नववर्ष। ..... "फर्स्ट क्लास डिनर है आई। ".... "ये जो भात है न आई, इसमें स्टार्च है, इसका माड न फेंको तो चावल की सारी ताकत बची रहती है, फिर मावा ! मेवा है मेवा ! ताकत ही ताकत ! मजबूती ही मजबूती !"..... "इसके सामने नासिक का किसमिश फेल, रत्नगिरि का हापुस फेल और कलमी के साग में आयरन ही आयरन। और स्वाद ? ..... शुभा सामने आकर खड़ी हो गयीं तो झेप गया पूरा परिवार ! शुभा ने तरस खाती जुबान से कहा दृ"आज नववर्ष है। आज तो कुछ कायदे की चीज बना लेती ! चलो मैं देती पूरण पोली !" नहीं वहिणी कोई तो दिन आएगा, हम भी पूरण पोली और ढेर सारा पकवान बनाएँगे। आज रहने दो। "[4]

"मगर क्यों ?"

'वो सुनील काका ने कहा है न कि जब तक कर्ज न उतार लो....।

"समझी। अरे तुम मियां दृ बीवी ! तुम्हें तपस्या करनी हो, शौक से करो, मगर मुलगियों को तो बख्श दो। "[5]

भारत का किसान जीवन भर ब्याज भरता रहता है तथा अपना कर्ज पुत्र को विरासत में दे देता है। किसानों का दोहन अनवरत जरी रहे इस हेतु अंग्रेजों ने मालगुजारी जैसे तमाम अधिनियमों को क़ानूनी तौर पर वैधता प्रदान की। सरकार की आर्थिक नीतियाँ, भू–राजस्व की नई प्रणाली और प्रशासनिक व न्यायिक व्यवस्था ने किसानों की कमर तोड़ दी। प्रेमचंद के यहाँ जो कर्ज की समस्या थी प्रायः वही समस्या आज भी मौजूद है लेकिन उसका स्वरूप बदल गया है। पहले जमींदार, साहूकारों के माध्यम से उनका शोषण होता था आज सरकारी दफ्तरों और बैंको के माध्यम से।

सबका पेट भरने और ढकने वाले देश के लाखों किसानों और उनके परिवारों को जिनकी हत्या या आत्महत्या को रोक नहीं पा रहे हैं। 'फांस' संजीव द्वारा किसान आत्महत्या पर केन्द्रित अनेक वर्षों के शोध का परिणाम है। फांस खतरे की चिंगारी भी है और आत्महत्या के विरुद्ध दृढ़ आत्मबल प्रदान करने वाली चेतना भी।

किसान जीवन को ही केंद्र में रखकर पंकज सुबीर ने 'अकाल में उत्सव' उपन्यास की रचना की है। इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन और विशेषतरू किसानों की जिंदगी पर बहुत करीने से रोशनी डाली गई है। किसान की सारी आर्थिक गतिविधियाँ कैसे उसकी छोटी जोत की फसल के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं और किन उम्मीदों के सहारे वे अपने आप को

जीवित रखते हैं, यह उपन्यास का कथानक है। 'रामप्रसाद' के माध्यम से पंकज सुबीर बताते हैं कि आम किसान आज भी मौसम की मेहरबानी पर किस हद तक निर्भर है। मौसम के उतार– चढाव के साथ ही किसानों की उम्मीदों का ग्राफ भी ऊपर–निचे होता रहता है। किसान इन उतार–चढ़ाव के बीच अपने आप को कोसता रहता है। मैंने नहीं जाना जेठ की लू कैसी होती है और माघ की वर्षा कैसी होती है। इस देह को चीर कर देखो, इसमें कितना प्राण रह गया है, कितना जख्मों से चूर, कितना ठोकरों से कुचला हुआ। उससे पूछो, कभी तूने विश्राम के दर्शन किये, कभी तू छांह में बैठा। उस पर यह अपमान और वह अब भी जीता है, कायर, लोभी, अधम। उसका सारा विश्वास जो अगाध होकर स्थूल और अँधा हो गया था, मानो टूक–टूक उड़ गया है। 'अकाल में उत्सव' उपन्यास को समझने के लिए रामप्रसाद की देह को चिर कर देखना होगा कि उसकी लालसाएं क्या हैं, कि उसके संघर्ष क्या हैं, कि वह अपनी जीवन–यात्रा के आखिरी पड़ाव पर किन अनुभवों और विश्वासों के साथ उनका हो जाता है। रामप्रसाद एक छोटा आदमी है, किसान है, उसकी लालसा भी छोटी है।

'अकाल में उत्सव' में किसान जीवन की छोटी– छोटी समस्याओं को भी कथाकार ने जगह दी है। किसानों की मूलभूत समस्या के.सी.सी. समस्या, प्राकृतिक समस्या तथा सरकारी मुआवजा जैसी समस्याओं को कथाकार ने बड़े ही गहराई के साथ चित्रित किया है। किसानों की फसल नष्ट होने पर मुआवजा न मिलने की समस्या को सुबीर जी ने अपने उपन्यास में बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है – "लेकिन सर किसान तो सरकार के ही भरोसे है न ? अगर सरकार उसको मदद नहीं करेगी तो कौन करेगा ? खेतों में खड़ी फ़सल अगर बरबाद हो गई, तो किसान क्या करे, क्या मर जाए ?" आगे सरकारी अफसरों के माध्यम से किसानों के प्रति सरकार का घिनौना चेहरा भी इस उपन्यास में प्रस्तुत होता दिखाई पड़ता है–"तो मर जाए ? सरकार के भरोसे बैठा है क्या ? दुनिया में सब अपने–अपने भरोसे बैठे हैं। आपको किसने कहा है खेती करो ? मत करो अगर नुकसान का इतना ही डर है तो। जब कहा ही जाता है कि खेती तो मौसम के भरोसे खेला जाने वाला जुआ है, तो क्यों खेलते हो इस जुए को ? किसी ने कहा है क्या आपसे ? मत करो खेती कोई दूसरा काम करो।"

'अकाल में उत्सव' में निरंतर समृद्धशील, सुविधासंपन्न, अत्याधुनिक हो रहे सभ्य मानवीय समाज में पशुओं से बदतर हताशा से भरा जीवन जीने को विवश किसान और मजदूरों के लिए बार–बार उठने वाले सवाल को प्रखरता से उठाया गया है। वह हमें हमारे बदबूदार गिरेबानों में झांकने को विवश करता है। यही रचना की ताकत है कि जब हम मूल मुद्दों से आँख मूंद लेते हैं तो वह अपने शंखनाद द्वारा हमें सजग कराती है।

किसान संघर्ष की गाथा को ये उपन्यास किसान के जीवन की विभिन्न समस्याओं को रेखांकित करते नजर आते हैं। वर्त्तमान में उनकी

सबसे बड़ी समस्या आत्महत्या की समस्या है जिसे उपन्यास में बड़े ही मार्मिक ढंग से दिखाया गया है बिज्जू की आत्महत्या को फांस में इस प्रकार व्यक्त किया गया है "आत्महत्या का कारण ....?" "जन्मने और मरने के अलग–अलग कारण नहीं हुआ करते। वही फसल का नष्ट होना, वही ऋण, वही भावुकता....। "[6]

इस प्रकार कह सकते हैं कि 21 वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान आत्महत्या का जो रूप दिखाई पड़ता है वह वास्तव में उसका एक प्रतिरुप मात्र है। असल जिंदगी किसानों की इससे भी बदतर दिखाई पड़ती है, परन्तु उपन्यासों में उनके जीवन की कुछ झलक दिखाई पड़ जाती है जो संवेदनाओं को झकझोरकर किसान जीवन पर सोचने के लिए मजबूर करती है। किसान आत्महत्या को उकसाने वाली पृष्ठभूमि को सामने लाने का महत्वपूर्ण कार्य ये उपन्यास करते हैं। उपन्यासों में खेती की समस्या, कर्ज, दहेज़, बाजारवाद, सरकारी नीतियाँ, महगाई, शोषण आदि किसान जीवन से जुडी समस्याओं का चित्रण हुआ है। 21 वीं सदी के उपन्यासकारों ने केवल यथार्थ को अभिव्यक्ति नहीं दी, बल्कि आशावाद को भी प्रकट किया है। किसानों को आत्महत्या की ओर ले जाने वाली स्थितिओं के विरोध में लड़ने के लिए ये उपन्यास सामाजिक संगठन पर बल देते हैं। इनमें किसान जीवन को सुधारने के लिए अनेक अंतरराष्ट्रीय संदर्भ भी दिए हैं। किसानों को अपने ऊपर मडराते खतरे की आहट भी इन उपन्यासों में मिलती है। कुल मिलाकर भारतीय किसानों की आज की दशा और आत्महत्या के संदर्भ इन उपन्यासों में चित्रित हुए हैं।[7] किसानों की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार तत्व और किसान आत्महत्याओं की जमीनी सच्चाई नई सदी के इन उपन्यासों में यथार्थ रूप में प्रकट हुई है।

मिथिलेश्वर ने 'सुरंग में सुबह' उपन्यास में संकेतित किया है। इस उपन्यास का नायक पराजय स्वीकार न करके समाज व्यवस्था के लिए निरन्तर संघर्ष करता है। इस उपन्यास का सारांश विजय के कथन में निहित है–'कौन हमारा विरोध कर रहा है और कौन समर्थन, इससे अधिक महत्त्व हमारे लिए अपने मार्ग का विकास और विस्तार है।'[8] चुनाव प्रक्रिया के दौरान लोकतन्त्र का स्वरूप समझ में आ जाता है कि लोकतन्त्र में विकृतियों, अराजकताओं व पतनशीलता को खुल कर खुलने का अवसर मिलता है। तिरबेनी अपने पुत्र की नौकरी के लिए राव मानवेन्द्र बाबू के पास जाता है तब नौकरी की हां होने पर पिता पुत्र को सुखद अनुभूति होती है– 'जनार्दन के पिता ने सोच रखा था कि राव मानवेन्द्र बाबू को सारी बात याद करवानी पड़ेगी। पर बेटे के साथ उसे आते देखकर उन्हें सब कुछ स्मरण आ गया।'[9] जब वही नेता की हत्या हो जाने के बाद जनार्दन शून्य हो जाता है। जनार्दन का मूल मंत्र था कि लोकतंत्र को अपनी भूमिका में ईमानदार होना ही होता है। मिथिलेश्वर ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि नयी पीढ़ी समाज को नया रूप देने के लिए आगे बढ़ रही है।

इक्कीसवीं सदी के उपन्यास का विश्लेषण देते हुए डॉ पुष्पपाल सिंह लिखते हैं कि 21वीं शती का परिवेश वस्तुतः दुर्घर्ष है.... जिसका पराभव न किया जा सके, जिसे वश में न किया जा सके, उग्र , प्रबल ये सभी अर्थ 21वीं शती और उसके परिवेश को परिभाषित करते हैं. इस शती के पहले दशक से वैश्वीकरण की आँधी जितने उग्र और प्रबल रूप में आई है उसको वश में करना कठिन है.[10] उसका परिदृश्य बहुआयामी है जीवन की सभी महत्वपूर्ण चिन्तायें इस उपन्यास ने की है।

संदर्भ :

---

[1] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989 पृष्ठ 134।

[2] शमोएल अहमद, 'महामारी' शैवाल प्रकाशन, गोरखपुर, 2006, पृष्ठ 106

[3] शिवमूर्ति, आख़री छलांग, उपन्यास, पृष्ठ सं.– 79

[4] शिवमूर्ति, आख़री छलांग, उपन्यास, पृष्ठ सं.– 83

[5] पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, उपन्यास, पृष्ठ सं.–170

[6] संजीव, फांस, पृष्ठ सं.–150

[7] वीर भारत तलवार – किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद रू 1918–1922

[8] मिथिलेश्वर, 'सुरंग में सुबह', भारतीय ज्ञानपीठ, 2003, पृष्ठ 35

[9] मिथिलेश्वर, 'सुरंग में सुबह', भारतीय ज्ञानपीठ, 2003, पृष्ठ 35

[10] डॉ.पुष्पपाल सिंह, 21वीं शती का हिन्दी उपन्यास, पृ. 11

***

उस्ताद अलाउद्दीन खा द्वारा विविध वाद्यों की वादन शैली का विस्तार एवं संशोधन

सुमन यादव *
प्रो. पं. प्रेम कुमार मल्लिक **

भारतीय वाद्य संगीत की परम्परा में यदि हम उस्ताद अलाउद्दीन खाँ साहब के पूर्ववर्ती काल का अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि उस काल में वीणा, सुरसिंगार, सुरबहार, रबाब सरोद, सितार, इसराज, वायलिन इत्यादि वाद्यों का प्रचलन था। वीणा के अतिरिक्त अन्य किसी वाद्य में आलाप जोडअलाप ठोंक झाला आदि सम्पूर्ण अंगों का वादन सम्भव नहीं था। सभी की अपनी सीमिततायें थीं। कालक्रम में विद्वतजनों द्वारा अनेक प्रयास भी किये गये। इस क्रम में बाबा उस्ताद अलाउद्दीन खाँ का प्रयास विशेष उल्लेखनीय रहा। बाबा ने विविध वाद्य यन्त्रों (रबाब, सुर सिंगार, सुरबहार, सितार, वायलिन, शहनाई, क्लेरियोनेट तबला, पखावज) इत्यादि को बजाने की श्रेष्ठता व गायन विधि के अद्भुत ज्ञान भण्डार को सरोद वाद्य में ढालकर उत्कृष्टता प्रदान कर समृद्धशील बनाया।

उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने अपनी विशिष्ट वादन शैली हेतु केवल सरोद वाद्य की आकृति में ही संशोधन नहीं किया बल्कि ध्वनि को प्रभावशाली व गूँज को बढ़ाने के लिए कुछ नवीन तारों का इजाफा भी किया।

पहले के सरोद का तुम्बा कुछ लम्बाई लिये हुए होता था। खाँ साहब के द्वारा निर्मित सरोद के तुम्बे की आकृति कुछ गोलाई लिए हुए है इससे वाद्य की टोलन क्वालिटी में काफी सुधार हुआ।

डा0 प्रभा जैन लिखती हैं–

''भारतीय तंतु वाद्य की समस्त तकनीक वायलिन वाद्य पर प्रयुक्त कर आपने इस वाद्य का वादन शैली को समृद्धशाली बनाया।''

आप द्वारा प्रतिपादित इस शैली में बीन व रबाब दोनों ही अंगों का सम्मिश्रण था।

भारतीय वाद्यों में सितार एक ऐसा वाद्य है जिसे उस्ताद अलाउद्दीन खाँ साहब ने कभी नहीं बजाया। उन्होंने हाफिज खाँ, नासिर अली व कल्लू खाँ जैसे वादकों से शिक्षा भी ली थी। सितार वाद्य की समस्त तकनीकियों से आप पूर्णतया परिचित थे जिसके परिणामस्वरूप आपकी शिष्य परम्परा में पं0 रविशंकर, पं0 निखिल बनर्जी व पं0 इन्द्रनील भट्टाचार्य समान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सितार वादक हुए। प्रारम्भिक काल की सितार

* शोध छात्रा, संगीत एवं कला प्रदर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
** शोध निर्देशक, संगीत एवं कला प्रदर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

वाद्य वादन परम्परा की सीमितताओं का उल्लेख करते हुए पं0 रविशंकर अपनी पुस्तक डल उनेपब उल सपमि में लिखते हैं–

'I Remember clearly that even into the late 1930 Sitar playing was restricted to a very limited dimension and the players kept to their favourite specialized areas of music there were some who used a small sitar for the authentic' sitar by and played only medium slow masitkhani gate with simple tones. There were others who played only medium fast Razakhani gets still others who used a rather large sitar and played it more or less in the way one plays the surbhan.

परन्तु उस्ताद अलाउद्दीन खाँ से प्राप्त शिक्षा के परिणाम स्वरूप ही पं0 रविशंकर ने अपने सितार में संशोधन कर सितार वाद्य की वादन शैली को समस्त विशिष्टतायें व क्रमबद्धता प्रदान कर विस्तृत व सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया तथा उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा कर एक विशाल शिष्य परम्परा बनायी।

1. नल तरंग (पाइप तरंग) की वादन विधि

यह नवीन वाद्य उस्ताद अलाउद्दीन खाँ साहब ने निर्मित किया है। यह वाद्य बन्दूक की नलियों को स्वर के अनुरूप आकार में व्यवस्थित करके बनाया गया है। इस वाद्य के वादन के लिए लोहे की दो छोटी छड़ों को दाहिने और बायें हाथ में पकड़ कर बन्दूक की नलियों पर आघात किया जाता है, जिससे स्वर उत्पन्न होते हैं। इसमें स्वर पास–पास होने से द्रुत गति में वादन करना भी आसान ही है तथा इस वाद्य में कृन्तन घसीट जमजमा आदि तकनीक भी आसानी से सम्भव है। यह वाद्य जाइलाफोन के ही समान है।

2. सितार बेंजो की वादन विधि –

इस वाद्य को अलाउद्दीन खाँ साहब ने सितार में कुछ संशोधन करके बनाया है परन्तु इसकी वादन शैली सितार से कुछ भिन्न है तथा इसकी ध्वनि भी बिल्कुल अलग है। इस वाद्य को सरोद के समान जवा (नारियल के खोपड़ी का तिकोन टुकड़ा) से बजाते हैं। इस वाद्य को मैहर बैण्ड के वादन के लिए बनाया गया था। इसका उद्देश्य था कि मैहर बैण्ड में सभी वाद्यों के बजाने पर सितार की आवाज हल्की पड़ जाती थी इसलिए सितार में तुम्बे के ऊपर चमड़ा मढ़कर इस वाद्य को निर्मित किया गया है। चमड़े के प्रयोग से इस वाद्य की ध्वनि काफी जोरदार आती है। बाये हाथ का संचालन बिल्कुल सितार की तरह ही पर्दों पर तर्जनी एवं मध्यमा अंगुलियों को रखकर किया जाता है।

2. सारंगा की वादन विधि –

जिस प्रकार पाश्चात्य आर्केस्ट्रा में आधार स्वर या बेस स्वर देने के लिए चेलो (बायोलिन की तरह ही बड़े स्वरूप वाला गज से बजने वाली वाद्य) का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार उस्ताद अलाउद्दीन खाँ साहब

ने सारंगी के आकार प्रकार की तरह एक बड़े स्वरूप व आकार का वाद्य बनाया। इस वाद्य को बनाने का उद्देश्य था कि मैहर वाद्यवृन्द में उसी वाद्य से अधार स्वर को कायम रखा जाय और इसीलिए इसका नाम सारंगा रखा गया होगा। इस वाद्य को भी एक बड़े आकार के गज द्वारा ही बजाया जाता है।

4. चन्द्रसारंग की वादन विधि –

यह वाद्य सारंगी, सरोद एवं वायलिन तीनों वाद्यों की कुछ विशेषताओं को लेकर बनाया गया है। इस वाद्य का वादन सारंगी के समान दाहिने हाथ में गज को पकड़कर और बायें हाथ से वायोलिन के समान तारों पर अंगुली को रखकर वादन किया जाता है।

मैहर वाद्यवृन्द –

हिन्दुस्तानी संगीत में 'वाद्यवृन्द' की परम्परा प्राचीनकाल से विद्यमान है। कर्नाटकी संगीत में इसे वाद्य कचहरी तथा अंग्रेजी में आर्केस्ट्रा (Orchestra) कहा जाता है।

प्राचीनकाल में वाद्यवृन्द की प्रथा नाट्यों तक ही सीमित थी क्योंकि वाद्यवन्द रस निष्पति में सहायक होते थे। 19वीं शताब्दी में वाद्यवृन्द के रंगमंच पर भी कार्यक्रम प्रारम्भ हो गये थे तथा इसकी प्रथम प्रस्तुतिकरण का श्रेय 1859 में क्षेत्र मोहन गोस्वामी को जाता है। वाद्यवृन्द की स्वतंत्र प्रणाली प्रारम्भ करने में नवाब रामपुर महाराज बड़ौदा के नाम उल्लेखनीय है। इसी परम्परा में प्रसिद्ध संगीत मनीषी व महान साधक उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने सन् 1918 में मैहर वाद्यवृन्द का निर्माण किया। यह वाद्यवृन्द बाबा ने छोटे–छोटे अनाथ बच्चों जिनकी उम्र 8 से 16 वर्ष के मध्य थी, को लेकर बनाया था। यह वाद्यवृन्द 'मैहर बैण्ड' व 'मैहर स्ट्रिंग (Maihar String Band) के नाम से भी जाना जाता है। बाबा द्वारा निर्मित 'मैहर वाद्यवृन्द' संगीत जगत को उनकी अनूठी देन है जो कि पूर्णरूप से शास्त्रीय है। पं0 रविशंकर जी का कथन था कि वास्तव में शास्त्रीय संगीत के आधार पर आर्केस्ट्रा को एक नई दिशा मेरे गुरू उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने ही दी थी।

निष्कर्ष –

उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने संगीत जगत में विशेष योगदान दिया है जिस तरह उस्ताद अलाउद्दीन खाँ जी ने अनेक विद्वानों से संगीत की शिक्षा प्राप्त कर सभी तरह के वाद्य यन्त्रों को बजाते हुए अपनी संगीतिक समझ को विकसित करके अनेक वाद्य यन्त्रों को बनाया एवं एक नवीन वादन शैली का विकास किया तथा वाद्यवृन्द की रचना कर भारतीय शास्त्रीय संगीत को एक और शैली के रूप में उस्ताद अलाउद्दीन खाँ जी ने दुनिया के समक्ष प्रस्तुत किया। संगीत जगत सदैव उस्ताद अलाउद्दीन खाँ का ऋणी रहेगा।

संदर्भ :

1. My music my life Pt. Ravi Shankar, pg. 56
2. भारतीय संगीत के उन्नायक उस्ताद अलाउद्दीन खाँ–जैन डा0 प्रभा
3. मैहन घराने की संगीत परम्परा, डा0 वर्मा संजय कुमार
4. हिन्दुस्तानी संगीत में तंतुवाद्य, श्री भानु कुमार जैन, पृ0 62
5. रविशंकर के आर्केस्ट्रा सम्पादक लक्ष्मी नारायण गर्ग, पृ0 2
6. भारतीय संगीत के उन्ननायक उस्ताद अलाउद्दीन खाँ, डा0 प्रभा जैन, पृ0 91
7. संगीत कला विहार जीवन विशेषांक, मई 2013
8. संगीत कला विहार, सितम्बर 2013
9. संगीत कला विहार, 2014

***

''स्त्री शिक्षा के सन्दर्भ में आयोगा एवं राष्ट्रीय शिक्षा नीति के सुझावों का विश्लेषणात्मक अध्ययन''

डॉ. धर्मेन्द्र प्रताप सिंह *

किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के गुणात्मक विकास में शिक्षा की महती आवश्यकता एवं भूमिका होती है। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र किसी का भी विकास नहीं हो सकता है। स्त्री को पुरूषों की तुलना में शिक्षा का अपेक्षाकृत अधिक महत्व और आवश्यकता होती है क्योंकि बालक की शिक्षा का आरम्भ घर पर ही उसकी माँ से होता है और माँ ही बालक की प्राथमिक शिक्षिका होती है अतः माँ का शिक्षित होना अनिवार्य है। **महात्मा गाँधी** ने स्त्री शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि, ''यदि आप एक पुरूष को शिक्षा देते हैं तो एक व्यक्ति को शिक्षित करते हैं, किन्तु यदि आप एक स्त्री को शिक्षा प्रदान करते हैं तो सम्पूर्ण परिवार को शिक्षित करते हैं।'' परिवार बालक की पहली शिक्षासंस्था है और उसमें माता का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि वह बालक की गुरू, मार्गदर्शिका तथा जीवन निर्मात्री के रूप में होती है। एक अशिक्षित माँ अपने बालक के सर्वांगीण विकास में अधिक सहायता नही कर सकती जबकि एक शिक्षित माँ अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से समझती है।

देश में नागरिकता का आदर्श विकसित हो सके, समाज को ऐसे व्यक्ति प्राप्त हो सके जिनमें लोककल्याण की भावना दृढ़ हो, समाज को समुन्नत मानवता आधार के रूप में प्राप्त हो सके, इसलिए हमें स्त्री को शिक्षित करके उसके दृष्टिकोण को विस्तृत, हृदय को प्रशस्त तथा कर्मपक्ष को उन्नत बनाकर उसके जीवन स्तर को ऊँचा उठाना होगा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त देश में स्त्री शिक्षा के प्रसार एवं विकास के लिए प्रयास शुरू किए गए क्योंकि स्त्री शिक्षा की प्रगति के बिना शिक्षा की प्रगति सम्भव नहीं थी और न ही देश प्रगति के पथ पर सही तरीके से अग्रसर हो सकता था।

1948 – 49 में डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में गठित विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने स्त्री शिक्षा के विकास के लिए विभिन्न सुझाव दिये जिनमें मुख्य सुझाव निम्न थे –

- ❖ स्त्रियों के लिए शिक्षा के अधिक अवसर उपलब्ध कराये जाएं।
- ❖ स्त्रियों की शिक्षा के पाठ्यक्रम में गृह प्रबन्ध, गृह अर्थशास्त्र और पोषण की शिक्षा को स्थान देना चाहिए।
- ❖ बालिकाओं के लिए शैक्षिक एवं व्यवासायिक निर्देशन की उचित व्यवस्था की जाए।

---

* विभागाध्यक्ष, बी. एड्. विभाग, प्रताप बहादुर पी. जी. कालेज प्रतापगढ़ सिटी, प्रतापगढ़

❖ नये महाविद्यालय सहशिक्षा संस्थाओं के रूप में खोले जाने चाहिए।

सन् 1952–53 में गठित मुदालियर आयोग ने स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में विभिन्न महत्वपूर्ण संस्तुतियाँ प्रस्तुत की जो निम्नवत् है :–

❖ बालक और बालिकओं को दी जाने वाली शिक्षा में किसी प्रकार का विभेद न किया जाए।

❖ बालिकाओं के लिए पाठ्यक्रम में गृह विज्ञान शिल्पों एवं गृह उद्योगों को स्थान दिया जाए।

❖ छात्राओं और शिक्षिकाओं की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहशिक्षा और मिश्रित विद्यालयों में सुनिश्चित दशाएँ निर्धारित की जानी चाहिए।

शिक्षा के सभी पहलुओं की जाँच करने और समुचित सुझाव देने के लिए गठित कोठारी आयोग (1964–66) ने स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये :–

❖ 6 से 14 आयु वर्ग के सभी बालक – बालिकाओं के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

❖ उच्च प्राथमिक स्तर पर जहाँ आवश्यकता और यदि सम्भव हो तो बालिकाओं के लिए पृथक विद्यालय खोले जाने चाहिए।

❖ 11 से 14 आयु वर्ग की बालिकाओं के लिए अंशकालीन शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

❖ बालिकाओं के लिए अलग से माध्यमिक विद्यालय स्थापित किये जाने चाहिए।

❖ बालिकाओं के लिए अलग से व्यावसायिक शिक्षा एवं महिला महाविद्यालय की व्यवस्था की जाए।

❖ बालिकाओं के लिए विशेष छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

❖ माध्यमिक स्तर पर बालिकाओं के लिए छात्रावास और रियायती दर पर यातायात की व्यवस्था की जानी चाहिए।

❖ अशिक्षित प्रौढ़ महिलाओं की शिक्षा की व्यवस्था की जाए तथा उनके लिए अलग से प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र खोले जाए।

❖ एक अथवा दो विश्वविद्यालयों में स्त्रीशिक्षा से सम्बन्धित 'अनुसंधान यूनिटों' का गठन किया जाना चाहिए।

❖ लड़कियों के लिए कला, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, मानवशास्त्र आदि विषयों के अध्ययन का चुनाव करने की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।

कोठारी आयोग की संस्तुतियों के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 तैयार की गयी और सभी राज्यों में क्रियान्वित करने हेतु घोषित की गयी जिसमें स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित बिन्दुओं पर विशेष बल दिया गया था:–

❖ शिक्षण संस्थाओं में बालक एवं बालिकाओं के बीच अन्तर को कम किया जायेगा।

- ❖ बालिकाओं की शिक्षा का तीव्र गति से प्रसार करने के लिए समुचित व्यवस्था की जाएगी।
- ❖ विद्यालय में शिक्षिकाओं की नियुक्ति को विशेष प्रोत्साहन दिया जाएगा।

स्त्री शिक्षा के विकस के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में निम्नलिखित प्रावधान किए गए :–

- ❖ महिलाओं की स्थिति में आधारभूत परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा का उपयोग किया जायेगा।
- ❖ स्त्री निरक्षरता तथा प्रारम्भिक शिक्षा तक महिलाओं की पहुँच के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के कार्य को प्राथमिकता दी जाएगी।
- ❖ महिलाओं के लिए तकनीकी शिक्षा के उपयुक्त औपचारिक तथा अनौपचारिक कार्यक्रम बनाये जायेंगे।
- ❖ मध्यमिक शिक्षा में लड़कियों के नामांकन विशेषकर विज्ञान, वाणिज्य तथा व्यावसायिक वर्गों पर जोर दिया जायेगा।
- ❖ स्कूल स्तर तक के अध्यापकों की नियुक्ति में महिलाओं को प्राथमिकता दी जाएगी।
- ❖ कॉमन कोर पाठ्यक्रम में महिलाओं की नवीन स्थिति पर जोर दिया जायेगा।
- ❖ अध्यापकों, प्रशिक्षकों, प्रशासकों तथा योजनाकारो को महिलाओं से सम्बन्धित मुद्दों के प्रति संवेदनशील बनाया जायेगा।
- ❖ अलसंख्यक वर्गो की महिलाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जायेगा।
- ❖ महिलाओं से सम्बन्धित अध्ययन विषयों के विभिन्न पाठ्यचर्याओं के भाग के रूप में प्रोत्साहन दिया जायेगा।
- ❖ शिक्षण संस्थाओं को महिला विकास के सक्रिय कार्यक्रम शुरू करने के लिए प्रेरित किया जायेगा।
- ❖ शैक्षिक विषमताओं को दूर किया जाएगा तथा महिलाओं को शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर सुलभ कराए जायेंगे। ?
- ❖ स्त्री – पुरूषों की शिक्षा में भेद नहीं किया जाएगा, लिंग मूलक अन्तर को समाप्त किया जायेगा।
- ❖ महिलाओं की शिक्षा के विकास हेतु प्रारम्भ से ही प्रयत्न किए जायेंगे।
- ❖ महिलाओं को व्यवसायिक एवं तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने के लिए विशेष सुविधा दी जायेगी।
- ❖ बालिकाओं के लिए अलग से स्कूल व महाविद्यालय खोलने की व्यवस्था की जायेगी।
- ❖ बलिकाओं के लिए अधिक छात्रवृत्तियों की व्यवस्था करने और शिक्षकों की नियुक्ति में महिलाओं को वरीयता देने की योजना प्रस्तुत की गई।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के क्रियान्वयन तथा महिलाओं की शैक्षिक स्थिति को मजबूत बनाने तथा सुधार करने के लिए विभिन्न कार्यक्रम

संचालित किये गये जिनमें महिला समाख्या कार्यक्रम (1989), कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय (2004) आदि प्रमुख है। इनके कार्यक्रमों के द्वारा बालिकाओं एवं किशोरियों को शिक्षा की ओर आकर्षित किया जा रहा है।

किन्तु इन सभी प्रावधानों के बावजूद आज भी देश में महिला साक्षरता दर मात्र 65 प्रतिशत के आस–पास है। इसका तात्पर्य केवल योजनाओं के निर्माण एवं क्रियान्वयन से ही कार्य नही हो सकता है बल्कि आवश्यकता है स्वस्थ मानसिकता, व्यापक सोच एवं परिवर्तनशील चिन्तन की क्योंकि जब तक मानसिक परिवर्तन नहीं होगा, तब तक सामाजिक एवं शैक्षिक परिवर्तन सम्भव नहीं है। ''पढ़ी लिखी माता, घर की भाग्य विधाता'' जैसा राधाकृष्णन आयोग का नारा परिवर्तित मनोवृत्ति से ही सम्भव हो सकता है।

संदर्भ :

1. **सिंह, कर्ण –** शिक्षा में नूतन आयाम, खीरी लखीमपुर गोविन्द्र प्रकाशन।
2. गुप्ता एस0पी0 एवं अलका गुप्ता (2005) – आधुनिक गोविन्द भारतीय शिक्षा की समास्याएं, इलाहाबाद शारदा पुस्तक भवन।
3. लाल, रमन बिहारी, (2006) – भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं, मेरठ, रस्तोगी पब्लिकेशन।
4. भटनागर ए0बी0 मीनाक्षी भटनागर (2006) – भारत में शैक्षिक प्रणाली का विकास, मेरठ आर0लाल बुक डिपो।
5. पाण्डेय बी0बी0 एवं ए0के0 पाण्डेय (2004) – भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं सामाजिक समस्याएं, गोरखपुर बसुन्धरा, प्रकाशन।
6. कुरूक्षेत्र जुलाई (2008) – नई दिल्ली, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय ।
7. योजना अप्रैल (2007) – नई दिल्ली, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय।
8. भारत – 2008 – नई दिल्ली, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार।

***

वर्तमान शिक्षा प्रणाली की प्रमुख समस्याओं का अनुशीलन

शिखा मिश्रा *
डॉ. गयानन्द उपाध्याय **

भारतीय शिक्षा प्रणाली इसकी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक संरचनाओं के अनुरूप व्यवस्थित नहीं हुई थी। यह अंग्रेजी शासन पद्धति की आवश्यकताओं एवं उनके अनुरूप आचार-व्यवहार की मनोवृत्ति विकसित करने वाली शिक्षा प्रणाली के रूप में प्रारम्भ हुई थी। स्वाधीनता के बाद भी इस विचारधारा का पोषण होता रहा तथा संसाधनों के अभाव, नीतियों की कमी एवं शासन तंत्र की उपेक्षा के कारण उसी शिक्षा व्यवस्था को अनवरत आगे अग्रसारित किया गया जिसके कारण यह भारतीय एवं भारतीयता की विचारधारा से दूर ही रही। इसका परिणाम यह हुआ कि देश की शिक्षा प्रणाली देश के आम जनमानस के साथ पूर्णतया नहीं जुड़ पायी। अंग्रेजी माध्यम एवं अंग्रेजी भाषा लोगों के मन, मस्तिष्क को इतना प्रभावित की जिससे वे भारतीय भाषा हिन्दी एवं मातृभाषाओं के अध्ययन को उपेक्षित करने लगे। इससे उनमें मौलिक चिन्तन एवं पूर्ण अभिव्यक्ति की कमी आने लगी। इसके साथ ही साथ विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक, भाषायी, विद्यालयी स्तर एवं अनेक चुनौतियों के कारण वर्तमान शिक्षा प्रणाली संकटग्रस्त एवं उपेक्षित प्रतीत होती है। वर्तमान में उच्च अध्ययन एवं तकनीकि ज्ञान हेतु प्रतिभाओं का पलायन होता है, लोगों को भारतीय शिक्षा एवं ज्ञान पर सन्देह रहता है। यहाँ से उच्च बौद्धित स्तर वाले प्रतिभाशाली विद्यार्थियों का विदेशों में पलायन हो जाता है जिससे उनका योगदान देश की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रगति में नहीं हो पाता है। वर्तमान की अनेक चुनौतियाँ शिक्षा प्रणाली के मार्ग में बाधक बनी हुई हैं। वर्तमान शिक्षा की विभिन्न समस्याओं का अनुशीलन प्रस्तुत शोध प्रपत्र में किया गया है।

---

* शोधार्थिनी शिक्षाशास्त्र विभाग, राजा श्री कृष्णदत्त पी. जी. कालेज, जौनपुर, उ. प्र.
** एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, राजा श्री कृष्णदत्त पी. जी. कालेज, जौनपुर, उ. प्र.

वर्तमान भारतीय शिक्षा की समस्याएँ :

वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली उचित नीति एवं नियति दोनों का शिकार हुई है। शिक्षा में किये जा रहे विभिन्न प्रयास अनमने एवं अनैच्छिक रूप से किये जाने के कारण वे अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पा रहे इसके अतिरिक्त शिक्षा की आन्तरिक एवं बाह्य कमियाँ इस मार्ग में विशेष बाधा उत्पन्न कर रही हैं। वर्तमान भारतीय शिक्षा की समस्याएँ निम्नवत हैं–

1. उचित शिक्षा नीति का अभाव : शिक्षा नीति वस्तुतः सम्पूर्ण राष्ट्र की शिक्षा प्रणाली तथा उसमें लाने वाले परिवर्तन की सूचक होती है। इसलिए एक अच्छी राष्ट्रीय शिक्षा नीति में निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए–

- राष्ट्रीय शिक्षा नीति का आधार नागरिकों की मातृभाषा तथा राष्ट्र भाषा होना चाहिए।
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति का सम्बन्ध आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से होना चाहिए।
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति अपने आप में व्यावहारिक व कार्यपरक होनी चाहिए।
- राष्ट्रीय शिक्षानीति विकासात्मक, सृजनात्मक तथा उत्पादक होनी चाहिए।
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति राष्ट्रीय एकता व सौहार्द को सुदृढ़ करने में समर्थ होनी चाहिए।
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति मानवीय तथा भौतिक संसाधनों का विकास करने में समर्थ होनी चाहिए।
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति छात्रों में व्यापक, वैश्विक व वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने में समर्थ होनी चाहिए।
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति भौगोलिक, सामाजिक या आर्थिक आधार पर विद्यमान शैक्षिक विषमताओं को दूर करने वाली होनी चाहिए।

2. शिक्षा में समन्वयात्मक नियन्त्रण की कमी : शिक्षा एक समन्वयात्मक प्रक्रिया है इसलिए शैक्षिक नियंत्रण में भी समन्वय की

आवश्यकता होती है। शिक्षा व्यक्ति, समाज, राज्य एवं राष्ट्र की सर्वोत्कृष्टता का परिचायक होती है अतः इस पर इनका नियंत्रण आवश्यक होता है। शिक्षा पर नियंत्रण से आशय शिक्षा की विभिन्न प्रक्रियाओं के लिये इससे सम्बन्धित पक्षों को अपने अभिमत एवं सुझाव का अधिकार दिया जाना अपेक्षित होता है। शिक्षा नीति एवं इसके विभिन्न पक्षों के लिये राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति एवं शिक्षा से जुड़े छात्र, अभिभावक, प्रशासक, शिक्षक एवं नीति निर्माताओं को मिलकर इसके लिये नियोजन किया जाना चाहिए किन्तु वर्तमान में यह अधिनायकवादी स्थिति में है। शिक्षा की कोई भी व्यवस्था छात्रों, अभिभावकों पर जबरन डाल दी जाती है उन्हें जिन विषयों एवं बिन्दुओं पर कोई रूचि नहीं होती उसे भी उन्हें पढ़ने और अनुपालन करने के लिये बाध्य किया जाता है जिससे उनकी रूचि दिन ब दिन कम होती चली जाती है। परिणाम स्वरूप देश की छात्र संख्या का एक बड़ा भाग ड्राप आउट का शिकार हो जाता है।

3. शैक्षिक अवसरों में समानता की समस्या : स्वाधीनता के पश्चात् विभिन्न प्रयासों के बावजूद भी इन्हें सामान्य शिक्षा की स्थिति में नहीं लाया जा सका है जिसके अनेक कारण हैं। इनमें मुख्य कारण निम्नवत हैं–

(क) शिक्षा संस्थाओं की अनुपलब्धता : जिन स्थानों पर कोई भी प्राथमिक, माध्यमिक अथवा उच्च शिक्षा संस्था नहीं है वहाँ के बच्चे शिक्षा प्राप्ति के वे अवसर प्राप्त नहीं कर पाते जो शिक्षा संस्थाओं से युक्त बस्तियों में रहने वाले बच्चे प्राप्त कर लेते हैं। जब बच्चों के लिए सरलतासे तय करने योग्य दूरी पर शिक्षा संस्था की व्यवस्था नहीं होती है तो बच्चों का शिक्षा प्राप्त करना कठिन हो जाता है। यहाँ यह भी इंगित करना उचित ही होगा कि देश के विभिन्न जनपदों में हो रहे शैक्षिक विकास में पर्याप्त अन्तर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

(ख) निर्धनता : निर्धनता शैक्षिक अवसरों में विषमता का एक महत्वपूर्ण कारक है। हमारे देश की जनसंख्या का अधिसंख्य भाग

गरीबी व निर्धनता से त्रस्त है, जबकि एक छोटा सा भाग आर्थिक रूप से साधन सम्पन्न है। निर्धन परिवारों के बच्चों को शिक्षा प्राप्ति के वे अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते जो समृद्ध परिवारों के बच्चों को हो जाते हैं। शिक्षा शुल्क, पठन–पाठन सामग्री, विद्यालयी गणवेश, पौष्टिक आहार आदि की कमी के कारण निर्धन बालक या तो विद्यालय पहुँच ही नहीं पाते हैं और यदि पहुँच भी जाते हैं तो उनमें से अधिकांश शिक्षा बिना पूरी किये ही विद्यालय छोड़ देते हैं। कुछ शिक्षा स्तर पर तो स्थिति और भी अधिक खराब हो जाती है।

(ग) शिक्षा की गुणवत्ता में अन्तर : शैक्षिक विषमता के लिए विभिन्न स्कूलों, कालिजों तथा विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता में विद्यमान अन्तर भी उत्तरदयी है। जैसे ग्रामीण क्षेत्र में स्थित अल्पसाधन युक्त स्कूल के छात्र को उपलब्ध शिक्षा तथा नगरीय क्षेत्र में स्थित साधन–सम्पन्न विद्यालय के छात्र को उपलब्ध शिक्षा की गुणवत्ता कभी भी समतुल्य नहीं हो सकती। यही कारण है कि जनपरीक्षा में प्राप्त अंकों के आधार पर योग्यता की तुलना करना कदापि तर्कसंगत नहीं हो सकता।

(घ) परिवार का वातावरण : परिवार के वातावरण का अन्तर शिक्षा प्राप्ति के अवसरों में विषमता उत्पन्न करता है। अशिक्षित माता–पिता के बच्चे अथवा ग्रामीण परिवेश में रहने वाले माता–पिता के बच्चे शिक्षा प्राप्ति के अवसर नहीं प्राप्त कर पाते हैं जो शिक्षित माता–पिता अथवा शहरी परिवार अथवा समृद्ध परिवार के बच्चे प्राप्त कर लेते हैं। अनपढ़ माता–पिता के बच्चों को शिक्षा प्राप्ति के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन/सहयोग नहीं मिल पाता है।

(ड.) यौन भेद : भारतीय परिवेश में लड़के तथा लड़कियों की शिक्षा के बीच एक भारी अन्तर पाया जाता है। परम्परागत भारतीय समाज में अभी भी लड़कियों की शिक्षा को हेय दृष्टि से देखा जाता है। लड़कियों की शिक्षा के प्रति इस नकारात्मक दृष्टिकोण के कारण लड़के तथा लड़कियों को शिक्षा प्राप्ति के समान अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते हैं।

(च) सामाजिक स्थिति : समाज के प्रगतिशील तथा पिछड़े वर्गो के मध्य शैक्षिक विकास में अन्तर पाया जाता है। विभिन्न प्रकार की सामाजिक विसंगतियों के कारण अनुसूचित जातियाँ, जनजातियाँ तथा अन्य पिछड़े वर्ग के बालक–बालिकाओं को शिक्षा प्राप्ति के अवसर नहीं मिल पाते हैं जो समाज की तथाकथित अगड़ी जातियों के बच्चों को मिल जाते हैं।

(छ) शारीरिक दोष : विकलांग तथा विभिनन प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक कमियों से युक्त बालक–बालिकायें भी अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं के कारण शिक्षा प्राप्ति के अवसरों में समानता नहीं प्राप्त कर पाते हैं। पर्याप्त जोर देने के बावजूद भी अन्धे, लूले, लंगड़े, बहरे, गूँगे तथा मंदबुद्धि के बच्चों के लिए शिक्षा की उचित व्यवस्था प्रायः नहीं हो पाती है। ये बच्चे समाज के ऊपर बोझ के रूप में बने रहने को विवश हैं जबकि इन्हें उचित शिक्षा व प्रशिक्षण देकर समाज की मुख्य धारा में लाया जा सकता है।

4. पब्लिक स्कूलों की निरन्तर बढ़ती संख्या और इनके प्रभावी नियंत्रण में कमी : पब्लिक स्कूलों की स्थापना समाज के सभी वर्गो की शिक्षा के साथ–साथ सरकार द्वारा प्रत्येक स्थान पर शिक्षण संस्थाओं की व्यवस्था में कमी को देखते हुए एक सामाजिक योगदान के रूप में की गयी थी जिसका उद्देश्य सरकार के सहयोग, समाज के उत्थान एवं शिक्षा की सर्वसुलभता को लेकर था किन्तु धीरे–धीरे पब्लिक स्कूल उच्च आय वर्ग के बालक–बालिकाओं के शिक्षा के केन्द्र बन गये तथा ये शैक्षिक स्तर पर अभिजात्य वर्ग एवं निम्न वर्ग का एक स्तरीकृत स्वरूप बनाने लगे। पब्लिक स्कूलों में यद्यपि भौतिक एवं मानवीय संसाधनों की उपलब्धता अधिक होती है किन्तु ये इसके बदले में एक मोटा शुल्क वसूल करते हैं जो जनसामान्य के लिये दुर्लभ होता है।

5. शैक्षिक मानकों में ह्रास : वर्तमान शैक्षिक प्रणाली में शैक्षिक मानकों में सतत् ह्रास की समस्या एक विशेष चुनौती के रूप में

उभरी है। शिक्षा के प्रत्येक स्तर एवं शिक्षक–शिक्षार्थी, प्रशासक एवं प्रबन्धन हर स्तर पर शैक्षिक मानकों में कमी दिखायी पड़ती है।

6. भाषा समस्या : देश के लिए एक पाठ्यचर्या, समान इच्छा नीति एवं समान शिक्षा व्यवस्था के लिए भाषा सम्बन्धी चुनौतियों से निपटने के लिए विभिन्न आयोग एवं समितियों के सुझाव के आधार त्रिभाषा सूत्र को अपनाया गया जिसके अनुसार तीन भाषाएँ राजभाषा हिन्दी, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी तथा मातृभाषा या राज्यभाषा को मान्यता प्रदान की गयी किन्तु अनेक राज्यों में मातृभाषा एवं राज्य भाषा के अलग होने तथा हिन्दी के ज्ञान के अभाव में इसका निरन्तर विरोध होता रहा। इसका दुष्परिणाम सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए समान पाठ्यचर्या, एक समान शिक्षण पद्धति एवं लोगों में एकीकरण की भावना विकसित करने की चुनौती विद्यमान है।

7. छात्र आन्दोलन एवं अनुशासनहीनता की समस्या : वर्तमान में यह एक चुनौतीपूर्ण समस्या बन गयी है विद्यार्थियों में निरन्तर गैर अनुशासनिक कार्य एवं आन्दोलन, मारपीट, घेराव, हडताल, तोड़फोड, उद्दण्डता, आगजनी एवं अशान्ति की गतिविधियाँ की जाती हैं जिसके कारण समाज के शैक्षिक व्यवस्था से जुड़े लोग अत्यन्त चिन्तित हैं। छात्रों द्वारा यह अनेक रूपों में सम्पादित की जाती है वे कक्षाकक्षा, विद्यालय परिसर एवं विद्यालय के बाहर ऐसे कृत्य करते हैं जिसके कारण अशान्ति एवं भय का वातावरण उत्पन्न होता है।

8. परीक्षा एवं मूल्यांकन की समस्या : परीक्षा एवं मूल्यांकन विद्यार्थियों योग्यता एवं क्षमता का निर्धारक माना जाता है इसी के आधार पर उन्हें किसी भी कार्य के लिये योग्य मान लिया जाता है। परीक्षा प्रणाली एवं मूल्यांकन व्यवस्था को शुचितापूर्ण एवं पारदर्शी बनाने हेतु विभिन्न आयोगों एवं समितियों ने सुझाव प्रदान किये तथा वर्तमान परीक्षा प्रणाली को उपयोगी नहीं माना गया। वर्तमान परीक्षा प्रणाली आज भी पुरानी पद्धति एवं व्यक्तिनिष्ठ तरीके से सम्पादित की जाती है जिसमें विद्यार्थियों के ज्ञान का एकपक्षीय मूल्यांकन होता है।

9. शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन में कमी :शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन से विद्यार्थियों की समझ एवं क्षमता की बचत होती है तथा वे विभिन्न परिस्थितियों के साथ सरलता से समन्वय स्थापित करने में सक्षम हो जाते हैं किन्तु वर्तमान में विद्यार्थियों के शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन में सतत् अभाव दृष्टिगत होता है।

10. शैक्षिक प्रशासन एवं नियोजन की समस्या : वर्तमान में शैक्षिक प्रशासन सम्बन्धी अनेक समस्याएँ दृष्टिगत होती हैं जिनमें प्रमुख समस्याएँ निम्नवत हैं–

1. शिक्षा पर नियंत्रण की समस्या।
2. भौतिक एवं मानवीय संसाधनों की कमी।
3. लालफीताशाही का तेजी से बढ़ता प्रभाव।
4. केन्द्रीय, राज्य एवं स्थानीय संस्थाओं में परस्पर समन्वय की कमी।
5. शैक्षिक संस्थाओं में जनसहयोग एवं जनभागीदारी की कमी।
6. कार्मिक वर्ग की पर्याप्त संख्या न होना।
7. जनसंख्या वृद्धि के अनुरूप शैक्षिक संस्थाओं की गुणवत्तापूर्ण व्यवस्था न हो पाना।
8. दोषपूर्ण शैक्षिक नियोजन की समस्या।
9. शैक्षिक प्रशासकों में उत्तरदयित्व एवं जबाबदेहिता की भावना की कमी।

11. शिक्षित बेरोजगारी की समस्या : शिक्षित बेरोजगारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के लिए एक चुनौतीपूर्ण समस्या है आज देश में लगभग 4 करोड़ शिक्षित बेरोजगारों की लम्बी फौज है जो विभिन्न नौकरियों एवं व्यवसायों के लिए योग्यता धारित करते हैं किन्तु इनके लिए अवसर न उपलब्ध हो पाने से वे लम्बे समय तक इसके लिये प्रयास करते हैं और अन्त में अपनी योग्यता से निम्न कार्य करने पर मजबूर होते हैं इसका प्रभाव उनकी मनोवृत्ति पर पड़ती है और वे कुण्ठा, निराशा व अवसाद की भावना से ग्रस्त हो जाते हैं।

निष्कर्ष :

इस प्रकार वर्तमान शिक्षा प्रणाली अनेक चुनौतियों एवं समस्याओं से ग्रस्त है इसमें शैक्षिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था से जुड़े विभिन्न पक्षों की सक्रियता द्वारा इसका निदान किया जाना सम्भव हो सकता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली की इन्हीं कमियों एवं विसंगतियों के दूर करने हेतु नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का क्रियान्वयन किया है जिसके द्वारा सन् 2022 तक पूरे देश में एकीकृत समन्वित एवं विद्यार्थियों की आवश्यकता, उपयोगिता एवं सक्षमता आधारित शिक्षा प्रणाली के विकास एवं क्रियान्वयन का लक्ष्य रखा गया है जिसके द्वारा शिक्षा के स्वरूप, उसकी पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियों, शिक्षक एवं शिक्षार्थियों की स्थिति तथा सामाजिक व सामुदायिक पक्षों को जोड़कर एक उन्नत शैक्षिक व्यवस्था स्थापित किये जाने का लक्ष्य रखा गया है।

सन्दर्भ :

1. गुप्ता, एस0पी0 एवं गुप्ता, अलका (2012–13) : भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएँ, शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज.
2. चौबे, सरयू प्रसाद (2002) : भारतीय शिक्षा की चुनौतियाँ : नीति एवं परिप्रेक्ष्य, आलोक प्रकाशन, लखनऊ.
3. सारस्वत, मालती एवं गौतम, एस0एल0 (2008) : भारत में शैक्षिक प्रणाली का विकास, आलोक प्रकाशन, लखनऊ.
4. लाल, रमन बिहारी (2014–15) : शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय आधार, आर0 लाल बुक डिपो, मेरठ।
5. मिश्रा, के0एस0 एवं उपाध्याय, प्रतिभा (1996) : शिक्षा में उदीयमान चुनौतियाँ, लोकहित प्रकाशन, प्रयागराज.
6. पाठक, पी0डी0 (2004) भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्याएँ, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
7. भारतीय आधुनिक शिक्षा, जनवरी 2002 (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद)

***

''माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों के व्यावसायिक अभिवृत्ति का तुलनात्मक अध्ययन''

सन्तोष कुमार *

शिक्षा की विभिन्न योजनाओं का सफलता पूर्वक क्रियान्वित करना शिक्षकों के व्यक्तिगत व्यवहार, शिक्षण अधिगम प्रक्रियाओं व व्यावसायिक अभिवृत्ति पर निर्भर करता है। परिश्रमी व सृजनशील, प्रतिबद्ध शिक्षकों ने शिक्षा प्रणाली में व्याप्त असन्तोष, नगण्य लाभों के बावजूद अपने–अपने व्यावसायिक दायित्वों को समर्पण के साथ सफलता पूर्वक पूर्ण किया है। दूसरी तरफ काफी संख्या में कुछ ऐसे व्यक्ति भी शिक्षक बन जाते हैं, जिनमें शिक्षण अभिक्षमता एवं अभिवृत्ति की कमी होती है। ऐसे शिक्षकों के कारण ही हमारे शिक्षा तंत्र पर अंगुली उठती है।

प्रस्तुत शोध पत्र के सन्दर्भ के अध्ययन करने पर यह बात उभरकर सामने आयी कि माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं में व्यावसायिक अभिवृत्ति में अन्तर नहीं होता हैं, क्योंकि दोनों प्रकार की संस्थाओं में कार्यरत शिक्षक एवं शिक्षिकाओं की विद्यालय में बितायी गयी समयावधि, छात्र–छात्राओं के प्रति जवाबदेही, संस्था के जवाबदेही, प्रशिक्षण, पाठ्य सहगामी क्रियाएं समान रूप से लागू होती हैं, दोनों संस्थाओं के शिक्षकों के लिए शैक्षिक योग्यता समान होती हैं। अतः व्यावसायिक अभिवृत्ति में अन्तर नहीं पाया गया। यद्यपि अनुदानित विद्यालय के शिक्षकों की आर्थिक समृद्धि अच्छी होने से स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों की तुलना में व्यावसायिक अभिवृत्ति आंशिक रूप से अच्छी देखने को मिली।

मानव जीवन में शिक्षा वह ज्योति है जिसके माध्यम से व्यक्ति की सामाजिक आर्थिक, मानसिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक गुणों की उत्पत्ति होती है। शिक्षा के माध्यम से समाज का सर्वांगीण विकास किया जा सकता है। वर्तमान समय में व्यक्ति के जीवन में शिक्षा एक महत्वपूर्ण शाखा है। जिस तरह संसार में जीव–जन्तु तथा पशु–पक्षी बिना भोजन, जल, हवा के बिना प्राणहीन हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार शिक्षा के बिना व्यक्ति इस काल में अस्तित्वहीन हो जायेगा। अर्थात शिक्षा मानव जीवन के लिए अति आवश्यक है, शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति अपने कर्तव्य एवं अधिकारों के विषय में जान सकता है। वर्तमान समय में समाज में शिक्षाहीन व्यक्ति दबे कुचले व्यक्तियों का जगह–जगह पर शोषण हो रहा है। इसी समाज में शिक्षित व्यक्ति सिर्फ अपने आप को शोषण से बचाता ही नही बल्कि समाज में अन्य वर्गों को भी इससे बचाता है या जागरुक बनाता है। इसलिए तकनीकी युग

* (शोध छात्र), शिक्षाशास्त्र (कला वर्ग), हण्डिया पी. जी. कालेज हण्डिया प्रयागराज

में समाज के हर एक मनुष्यों को शिक्षित रहने से देश और समाज का सर्वांगीण विकास होता है। आर्थिक दृष्टि से जो विकसित देश हैं वहां की ज्यादा से ज्यादा जनसंख्या पूर्ण शिक्षित होती है। मनुष्य जब शिक्षित होते हैं तो सामाजिक परिवर्तन होने लगता है। बालक जन्म से ही असहाय और दूसरों पर आश्रित रहता है उसके व्यावहारिक परिवर्तन का कार्य अधिगम करता है अधिगम तब होता है जब उसे शिक्षित किया जाय अर्थात उस बालक को शिक्षा दी जाय।

शिक्षा मानव जीवन की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। शिक्षा के द्वारा ही मानव जीवन को सरल एवं सजीव बनाया जा सकता है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक विकास सम्भव हो पाता है। शिक्षा सामाजिक चेतना का दर्पण होता है जिससे ज्ञान, चिन्तन, योग्यता आदि जैसे गुणों का विकास होता है। यह सब तभी सम्भव हो सकता है जब हमारी शिक्षा व्यवस्था ठीक हो, क्योंकि शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से ही समाज और राष्ट्र का विकास होता है। शिक्षा की इस व्यवस्था में माध्यमिक शिक्षा का सुदृढ़ होना अति आवश्यक है क्योंकि इसी स्तर से ही छात्र अपना मार्ग व क्षेत्र को निर्धारित करते हैं कि हमें किस व्यवसाय अथवा क्षेत्र को चयन करना है? यह तभी होगा जब इस स्तर पर योग्य शिक्षक हो। भारतीय समाज में यह कहा जाता है कि शिक्षकों के व्यक्तित्व से उसकी सामाजिक व सांस्कृतिक स्तर का अनुमान लगता है।

सामाजिक व्यक्ति अपनी सांस्कृतिक विरासत को शिक्षा के माध्यम से बचाता हैं, और अपनी संस्कृति तथा सभ्यता को आगे बढ़ाता है। भौतिक जीवन में जो बालक शिक्षा ग्रहण करने से वंचित रह जाते हैं, ऐसे बालको का शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, आर्थिक, सामाजिक विकास नही हो पाता है। शिक्षा के माध्यम से ही समाज को समृद्ध बनाया जा सकता हैं।

आवश्यकता एवं महत्व :

शिक्षा जीवन की अनिवार्यता है यह जीवन को सरल एवं सजीव बनाती हैं, जिससे व्यक्ति कें जीवन में शारीरिक, मानसिक व अध्यात्मिक रूप से ऊर्जा उत्पन्न करती है। शिक्षा द्वारा ही पूर्णता गुणवत्ता को प्रदर्शित करती है। शिक्षा में मूल आधारित चिन्तन की आकांक्षा स्वास्थ्य सामाजिक चेतना है। ज्ञान, कौशल, चिन्तन एवं योग्यता आदि गुणों से निहित जीवन दर्शन शिक्षा पर निर्भर है। प्रत्येक राष्ट्र या समाज में शिक्षकों के स्तर ही उसकी बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि का पता लगाया जा सकता है। जिस अन्तर तक अध्यापक अपनी गरिमा को राष्ट्र उसी स्तर पर स्थापित होता है। सृजनशील शिक्षक ही समाज व राष्ट्र का आईना है।

ब्राउन ने लिखा है कि– "समस्त बातों को ध्यान में रखकर मैं इस परिणाम पर पहुचा हू कि अध्यापक शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण अंग होता है। पाठ्यक्रम विद्यालय संगठन और पाठ्यसामग्री यद्यपि अध्यापक के महत्वपूर्ण

अंग है परन्तु वे सभी तब तक निष्प्राण रहते हैं जब तक कि अध्यापक के सजीव व्यक्तित्व द्वारा उसमें प्राण प्रतिष्ठा नहीं कर दी जाती है"।

वैदिक काल में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ज्ञानार्जन करना था किन्तु वर्तमान समय में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ज्ञान प्राप्ति के साथ ही व्यवसाय भी प्राप्त करना है। बहुत से व्यवसाय है परन्तु व्यवसाय के लिए व्यक्ति की रुचि, योग्यता एवं क्षमता उसके अनुरुप होनी चाहिए शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापक का कार्य निष्पादन सर्वाधिक निवेश है। शिक्षा से सम्बन्धित योजनाओं का सफलता पूर्वक क्रियान्ववित करना शिक्षकों के व्यक्तिगत व्यवहार शिक्षा अधिगम प्रक्रियाओं व व्यवसायिक अभिवृत्ति पर निर्भर करता है। पूर्णतः प्रतिबद्ध, परिश्रमी व सृजनशील शिक्षकों ने शिक्षा प्रणाली में व्याप्त असन्तोष नगण्य लाभों के बावजूद अपने अपने व्यावसायिक दायित्वों को समर्पण के साथ सफलता पूर्वक पूर्ण किया है। दूसरी तरफ काफी संख्या में ऐसे व्यक्ति भी अध्यापक बन जाते हैं जिनमें शिक्षण अभिक्षमता एवं अभिवृत्ति की कमी होती है। ऐसे शिक्षकों के कारण हमारे शिक्षा तंत्र पर अंगुली उठती है। हमारे शिक्षक शिक्षा कार्यक्रम में शिक्षकों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण, प्रभावी वाक पटुता, शारीरिक दक्षता, लेखन क्षमता, जिज्ञासा, प्रत्यात्मक स्पष्टता, ज्ञानार्जन के प्रति प्रेम, निरन्तर शिक्षण प्रवीणता सुधारने की अभिप्रेरणा, कुशल मानवीय मूल्य व शैक्षिक सहायक सामग्री निर्माण करने की इच्छा आदि का विकास करने में असफल रहते है। इन सभी विषयों, विषादों एवं जिज्ञासाओं में सम्बन्धित प्रकरण पर अध्ययन करने के लिए मुझे प्रेरित किया।

शोध के उद्देश्य :

1. माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों के व्यावसायिक अभिवृत्ति का अध्ययन करना।
2. माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षिकाओं के व्यावसायिक अभिवृत्ति का अध्ययन करना।

शोध परिकल्पना :

1. माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों के व्यावसायिक अभिवृत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
2. माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षिकाओं की व्यावसायिक अभिवृत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं हैं।

शोध विधि :

प्रस्तुत शोध अध्ययन के लिए प्रयागराज जनपद के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों का चयन किया गया। इन विद्यालयों के शिक्षकों–शिक्षिकाओं को बराबर भाग में बांट कर सर्वेक्षण विधि से अध्ययन किया गया। प्रदत्तों का संकलन विद्यालय स्तर पर जा कर एकत्रित किया

गया है। प्रदत्तों के विश्लेषण हेतु मध्यमान, मानक विचलन तथा क्रांतिक अनुपात (CR) का प्रयोग किया गया है।

शोध उपरकरण के रुप Umme Kulsum द्वारा निर्मित प्रश्नावली का प्रयोग किया गया है।

प्रदत्तों का संकलन :

प्रस्तुत अध्ययन के लिए जनसंख्या मे से शिक्षको का प्रतिनिध्यात्माक समूह का चयन किया गया। विद्यालयों एवं शिक्षकों का चयन प्रयागराज जनपद मे किया गया हैं, इसके लिए 60 विद्यालयों के 600 शिक्षकों का सर्वेक्षण एवं साक्षात्कार किया गया, इसमें इसकी रुपरेखा निम्न प्रकार से हैं–

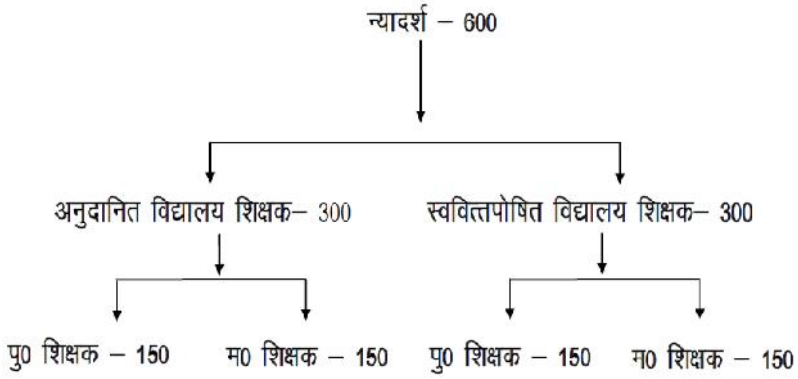

आंकड़ों का विश्लेषण :

प्रस्तुत अध्ययन में निर्धारत किये गये उद्देश्यों के सन्दर्भ में विश्लेषण तथा व्याख्या की गयी है जिसमें प्रत्येक उद्देश्य के अध्ययन को पूर्ण करने के लिए अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों–शिक्षिकाओं को आधार बनाया गया है इसी के अनुरुप शून्य परिकल्पनाओं का परीक्षण किया गया हैं। जिसका आधार 0.05 सार्थकता स्तर रखी गयी है जिसके आधार पर इसे स्वीकृत या अस्वीकृत किया जा सकता है।

प्रथम उद्देश्य से सम्बन्धित विश्लेषण व व्याख्या

प्रस्तुत अध्ययन पूर्ण करने के क्रम में प्रथम उद्देश्य निर्धारित किया गया था कि– ''माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों के व्यावसायिक अभिवृत्ति का अध्ययन करना''। इस उद्देश्य के अध्ययन को पूर्ण करने के लिए शून्य परिकल्पना बनायी गयी थी कि– ''माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों के व्यावसायिक अभिवृत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं है''। व्यावसायिक अभिवृत्ति से सम्बन्धित निम्नलिखित आंकडों द्वारा इसे प्रदर्शित किया जा सकता हैं।

तालिका संख्या–1

तुलनात्मक समूह	वर्ग	संख्या	माध्य	मानक विचलन	मानक त्रुटि	सी०आर० मूल्य
अनुदानित विद्यालय	शिक्षक	150	280.43	11.21	1.27	1.47
स्ववित्तपोषित विद्यालय	शिक्षक	150	280.46	11.22		

उपरोक्त विश्लेषण के लिए शून्य परिकल्पना ली गयी थी कि "माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों के व्यावसायिक अभिवृत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं है"। जिसके आधार पर प्राप्त तालिका का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि अनुदानित विद्यालयों के शिक्षकों का माध्य 280.43 व मानक विचलन 11.21 और स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों का माध्य 280.46 एवं मानक विचलन 11.22 हैं जिनमें मानक त्रुटि 1.27 और सी० आर० मूल्य 1.47 हैं। जो DF (298) के 0.05 सार्थकता स्तर पर 1.98 से कम हैं, इस आधार पर बनायी गयी शून्य परिकल्पना स्वीकृत हो होती है।

अध्ययन के पश्चात आकड़ों से प्राप्त परिणाम इस तरफ संकेत करते हैं कि शिक्षण व्यवसाय में अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों से प्रश्नावली अंकित करवाते समय चर्चा के दौरान यह बात सामने आयी कि अनुदानित विद्यालय में कार्यरत शिक्षकों की व्यावसायिक अभिवृत्ति के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रहा। वहीं दूसरी ओर स्ववित्तपोषित विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों में व्यावसायिक अभिवृत्ति के प्रति कमी दिखाई पड़ी और अपने रोजगार के प्रति असुरक्षा की भावना के कारण व्यावसायिक अभिवृत्ति को प्रभावित कर रही है। लेकिन इस स्तर तक प्रभावित नहीं करती हैं कि परिणाम को प्रभावित कर सके।

द्वितीय उद्देश्य से सम्बन्धित विश्लेषण व व्याख्या :

प्रस्तुत अध्ययन पूर्ण करने के क्रम में द्वितीय उद्देश्य निर्धारित किया गया था कि– ''माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षिकाओं के व्यावसायिक अभिवृत्ति का अध्ययन करना''। इस उद्देश्य के अध्ययन को पूर्ण करने के लिए शून्य परिकल्पना बनायी गयी थी कि– ''माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षिकाओं की व्यावसायिक अभिवृत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं हैं''। व्यावसायिक अभिवृत्ति से सम्बन्धित निम्नलिखित आंकडों द्वारा इसे प्रदर्शित किया जा सकता हैं।

तालिका संख्या–2

तुलनात्मक समूह	वर्ग	संख्या	माध्य	मानक विचलन	मानक त्रुटि	सी. आर. मूल्य
अनुदानित विद्यालय	शिक्षिका	150	282.33	10.89	1.26	1.46
स्ववित्तपोषित विद्यालय	शिक्षिका	150	282.35	10.90		

उपरोक्त विश्लेषण तालिका के अध्ययन के लिए बनायी गयी शून्य परिकल्पना थी कि "माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षिकाओं के व्यावसायिक अभिवृत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं है"। जिसके आधार पर तालिका का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि अनुदानित विद्यालयों के शिक्षिकाओं का माध्य 282.33 और मानक विचलन 10.89 है और स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षिकाओं का माध्य 282.35 एवं मानक विचलन 10.90 है जिनमें मानक त्रुटि 1.26 और सी० आर० मूल्य 1.46 जो DF (298) के 0.05 सार्थकता स्तर पर 1.98 से कम है, जिससे बनायी गयी शून्य परिकल्पना स्वीकृति होती है।

अध्ययन के पश्चात आकड़ों से प्राप्त परिणाम इस ओर इंगित करते हैं कि शिक्षण व्यवसाय में अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों की शिक्षिकाओं से प्रश्नावली भरवाते समय बातचीत के माध्यम से यह पता चला कि अनुदानित विद्यालयों में कार्यरत शिक्षिकाओं में व्यवसाय के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रहा और स्ववित्तपोषित विद्यालयों में कार्यरत शिक्षिकाओं का व्यावसायिक अभिवृत्ति के प्रति दृष्टिकोण सकारात्मक रहा, परन्तु अपने रोजगार के प्रति असुरक्षा एवं कम वेतन की भावना भी कहीं न कहीं व्यावसायिक अभिवृत्ति को प्रभावित कर रही हैं। लेकिन इस स्तर तक नही प्रभावित करती कि परिणाम को प्रभावित करे।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत शोध पत्र से प्राप्त आकड़ों का विश्लेषण एवं व्याख्या करने पर हम कह सकते हैं कि माध्यमिक स्तर के अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षक एवं शिक्षिकाओं में व्यावसायिक अभिवृत्ति के प्रति कोई अन्तर नहीं हैं। अनुदानित विद्यालय में कार्यरत शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का वेतनमान समयावधि और छात्र छात्राओं के प्रति उनकी जवाबदेही और स्ववित्तपोषित विद्यालयों में कार्यरत शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का विद्यालय में बितायी गयी समयावधि, कम वेतनमान, छात्र–छात्राओं के प्रति जवाबदेही समान रूप से दोनों स्तर के विद्यालयों की शिक्षक एवं शिक्षिकाओं पर लागू होता है और दोनों प्रकार के संस्थाओं की शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का उत्तरदायित्व एवं कार्य एक समान होता है और उसे पूरा करना अपेक्षित माना गया है। अतः दोनों स्तर की शिक्षक एवं शिक्षिकाओं की बितायी गयी

समयावधि, छात्र–छात्राओं के प्रति उत्तरदायित्व, वित्त प्रदायी संस्थाओं के आदेशों को मानना समान रूप से दोनों स्तर पर लागू होता है। इस तरह दोनों प्रकार के विद्यालयों के शिक्षक एवं शिक्षिकाओं की व्यावसायिक अभिवृत्ति में अन्तर नहीं पाया जाता है, परन्तु अनुदानित विद्यालयों में कार्यरत शिक्षक एवं शिक्षिकाओं की वेतनमान की अपेक्षा स्ववित्तपोषित विद्यालयों में कार्यरत शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का कम वेतनमान व्यावसायिक अभिवृत्ति को प्रभावित करता है। लेकिन इस स्तर तक प्रभावित नहीं करती हैं कि परिणाम को बदल सके। यह एक ऐसा पहलू है जो कहीं ना कहीं अध्ययन के दौरान प्रश्नावली को भरवाते समय बातचीत के दौरान प्रमुख रूप से उभर कर सामने आयी।

शैक्षिक निहितार्थ :

अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षक एवं शिक्षिकाओं की विद्यालय में बितायी गयी समयावधि, छात्र–छात्राओं के प्रति जवाबदेही, संस्था के उत्थान के प्रति जवाबदेही, पाठ्य सहगामी क्रियाओं में भागीदारी आदि समान रूप से लागू होती है। अतः दोनों प्रकार की संस्थाओं में शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं को अपना उत्तरदायित्व एवं कार्य पूर्ण करना अपेक्षित माना गया है। तथापि अनुदानित विद्यालयों के शिक्षकों स्ववित्तपोषित विद्यालयों के शिक्षकों की अपेक्षा आर्थिक रूप से समृद्ध होने के कारण व्यावसायिक अभिवृत्ति पर आंशिक रूप से अन्तर देखा जा सकता हैं। यहां यह भी महत्वपूर्ण है कि शासन तंत्र, प्रबंध तंत्र द्वारा व्यावसायिक अभिवृत्ति को पुष्ट करने के लिए अनेकानेक प्रकार के प्रशिक्षण, कार्यशाला, सेमिनार आयोजित किए जाने चाहिए जिससे वह व्यावसायिक अभिवृत्ति को पुष्ट करते हुए अपने उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक निर्वाह कर सकें।

सन्दर्भ :

1. गुप्ता डॉ0 एस0 पी0–(2018) अनुसंधान संदर्शिका सम्प्रव्यय, कार्य विधि एवं प्रविधि, शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज।
2. सारस्वत डॉ0 मालती–(2007) शिक्षा मनोविज्ञान की रुपरेखा, आलोक प्रकाशन, लखनऊ।
3. भट्टाचार्या डॉ0 जी0 सी0–(2007–08) अध्यापक शिक्षा, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
4. अस्थाना विपिन एवं श्रीवास्तव विजया–(2012–13) शैक्षिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी, अग्रवाल पब्लिकेसन्स, आगरा।
5. गुप्ता डॉ0 एस0 पी0–(2003) सांख्यिकीय विधियाँ, शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज।
6. राय पारसनाथ–(2018) अनुसंधान परिचय, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

***

पर्यावरण सुरक्षा और सन्तुलित विकास : एक अध्ययन

दिनेश कुमार *

पर्यावरण और विकास के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यक्तियों द्वारा किए जा रहे असीमित विकास ने पर्यावरण की सुरक्षा के लिए एक संकट पैदा कर दिया है। आज वैश्विक स्तर पर पर्यावरण की सुरक्षा करना पत्येक व्यक्ति तथा राज्य का कर्तव्य बन गया है। प्राकृतिक संसाधनों का असीमित दोहन तथा बर्बादी, औद्योगिकरण, नगरीकरण, कीटनाशक दवाइयों का प्रयोग तथा कुछ सामाजिक – आर्थिक समस्याएं जैसे गरीबी, जनसंख्या बृद्धि, अशिक्षा आदि कारकों की पर्यावरण को प्रदूषित करने में महत्वपूर्ण भूमिका है। पर्यावरण संकट ने मानवता को इस बात के लिए सोचने पर विवश कर दिया है कि विकास के लिए ऐसे साधनों और तकनीकों को अपनाया जाय, जो न केवल पर्यावरण को प्रदूषित करने से रोके, बल्कि पर्यावरण को सुन्दर और स्वच्छ बनाने का कार्य करे।

सत्रहवीं सदीं की औद्योगिक क्रान्ति ने मानव जीवन की दिशा ही बदल दी। विज्ञान के उपयोग से नए अविष्कार होने लगे लेकिन इन्हीं उपलब्धियों के बीच जो सबसे घातक काम शुरू हुआ, वह था – प्रकृति के साथ खिलवाड़। औद्यागिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप विकास के लिए प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का जो सिलसिला शुरू हुआ, वह आज तक जारी है। यही कारण है कि आज हम प्रकृति के कोप का शिकार बनते जा रहे हैं। पूरी दुनिया इस वक्त हर तरह के प्रदूषण की मार झेल रही है। ऐसे में आज सबसे बड़ी जरूरत इस बात की है कि हम वर्तमान में अपना जीवन सुन्दर बनाए और भविष्य के लिए भी एक सक्षम जीवन बनाने का गम्भीरता के साथ प्रयास करें।

आज हम सब अनिश्चिता के दौर में तो रहते ही है, यह कोई नहीं जानता कि भविष्य में सर्वश्रेष्ठ जीवन यापन के लिए आप किसे मूल्यवान समझेंगे। आप विकल्प चुनने की स्वतंत्रता के दौर में जब तक केवल अपने आराम के बारे में सोचेगें तो पर्यावरण आपकी सूची में बहुत नीचे होगा क्योंकि आपके पास वैकल्पिक साधनों की भरमार होगी। यह भी देखा जाता है कि पर्यावरणीय क्षरण के दुष्प्रभाव उन लोगों पर अधिक हावी हो जाते हैं, जिनके पास बुनियादी सुविधाएं भी न के बराबर है। पर्यावरण जोखिमों पर गौर करें तो कमतर मानव विकास सूचकांक वाले देशों में घरेलू पर्यावरण प्रदूषित ही रहना है, क्योंकि वहां पर स्वच्छ पानी की समस्याएं होती है, स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव होता है, वायु और ध्वनि प्रदूषण काफी

* शोध छात्र-राजनीति विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

होता है। सामुदायिक व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे अधिक प्रभाव वायु प्रदूषण का पड़ता है।

पर्यावरण प्रदूषण एवं पारिस्थितिकी असन्तुलन आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव दुर्दशा का द्योतक है। जिसके कारण मानव अस्तित्व भी खतरे में पड़ता जा रहा है। इस खतरे में मानवताविहीन विज्ञान की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। विश्व पर्यावरण की समस्या का केन्द्र बिन्दु नगर हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, 1960 में संसार की एक तिहाई आबादी शहरों में रहती थी। 1999 में 47 प्रतिशत लोग शहरों में रहते थे जबकि 2030 तक 61 प्रतिशत लोगों के शहरों में रहने की सम्भावना है।

पर्यावरण के मुद्दे पर विकसित देश तथा विकसशील देशों का अलग–अलग रूख है। विकासशील देशो का तर्क है विकसित देशें ने असीमित विकास किया तथा प्राकृतिक संसाधनों का भरपूर दोहन किया, जिससे आज विश्व स्तर पर पर्यावरण की समस्या गम्भीर हो गयी। विकसित देशों का कहना है कि विकासशील देखों में गरीबी, अशिक्षा, जनसंख्या विस्फोट के कारण पर्यावरण की समस्या उत्पन्न हुई है। देखा जाय तो एशिया तथा अफ्रीका के राज्यों में जनसंख्या बृद्धि की समस्या एक प्रमुख चुनौती बन गयी है। यद्यपि एशिया के दो प्रमुख बड़े देशों चीन और भारत में पिछले दशकों में जनसंख्या वृद्धि दर अधिक थी लेकिन वर्तमान में दोनों देशो की जनसंख्या वृद्धि दर घट गयी है। जबकि विकासित देशों में जनसख्या वृद्धि दर न्यूनतम है। वहां पर विकासशील देशों की अपेक्षा प्राकृतिक संसाधनों को लेकर अधिक संघर्ष नहीं है।

1950–60 के दशक तक मानव में यह विश्वास था कि वह असीमित विकास कर सकता है, लेकिन विकास असीमित नहीं हो सकता। इस प्रकार का विकास मानव सभ्यता को विनाश की तरफ ले जा रहा है। वर्तमान समय में प्रकृति के संसाधानों का हम इतना अंधाधुंध प्रयोग करने जा रहै है कि हमें आगामी पीढ़ियों की चिन्ता ही नहीं है। भौतिकवाद की इस अंधाधुंध होंड़ में मानव ने प्राकृतिक सम्पदा का दोहन कर अजेय प्रकृति को अगँठा दिखाने जैसी हरकत का प्रयत्न किया है। नतीजा न आज हमारे पास स्वच्छ जल, न साँस लेने हेतु शुद्ध वायु है। यही नहीं आज तो सम्पूर्ण पर्यावरण पर खतरे के बादल मडराने लगे हैं। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यू.एन.ई.पी.) की शोध रिपार्ट के अनुसार दक्षिण एशिया के आसमान प्रदूषण के कारण भूरे रंग की धुंध मे छा गया है। धुंध की इस परत के कारण भारत में सूर्य की किरणें कम पहँच पा रही है। निःसन्देह इससे प्रकृति का क्रम ही बिगड़ जायेगा, साथ ही कृषि, मानव स्वास्थ्य आदि पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। बड़े–बड़े महानगरों के गन्दें नाले और सीवर नदियों के जल में आकर मिला दिए जाते है। इससे जल प्रदूषित होता है तथा पानी के अन्दर जो पारिस्थितिकी तन्त्र है, वह नष्ट हो रहा है। जल

प्रदूषित होने के कारण भयानक बीमारियां पैदा हो रही है, जिससे लोगों का जीवन ही खतरे में पड़ गया है।

आज बढ़ते हुए जीवाश्म ईधन, रासायनिक पदार्थों, परमाणु रिएक्टर्स का बढ़ता उपयोग, जंगलों की अंधाधुंध कटाई, प्रकृति का असीमित दोहन आदि ने केवल वातावरण को प्रदूषित किया है। जमीन पर बढ़ता दबाव, रसायनों का अधिक उपयोग, वनोन्मूलन और अधिक मरूस्थल में वृद्धि के कारण विश्व के अनेक हिस्सों की जमीन की उपजाऊ क्षमता कम हुई है। इसी के सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपनी रिपोर्ट में कहा–'इसमें कोई संदेह की गुंजाइश नहीं है कि प्राकृतिक संसाधनों में कमी और परिस्थितिकी दबाव भविष्य में मानव और देशों के वास्तविक खतरे हैं।

विकास के लिए आवश्यक है कि समाज में ऊँच–नींच का भेदभाव खत्म हो, समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध हो, सबको समान अवसर उपलब्ध हो, जब तक ऐसा नही हो होता तब तक आर्थिक विकास सम्भव नही हो सकता। विश्व बैंक के अनुसार विकास का अर्थ है– व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूर्ण किया जाय। प्राकृतिक संसाधनों का न्यायपूर्ण वितरण हो। 1950–60 के दशक तक मानव में यह मान्यता प्रचलित थी कि आर्थिक विकास के लिए वह प्राकृतिक संसाधनों का असीमित दोहन कर सकता है। लेकिन इस प्रक्रिया को हम विकास नही कह सकते। प्राकृतिक संसाधनों का दोहन असीमित नहीं हो सकता है। पृथ्वी, जल, वायु एक दूसरे से सम्बद्ध हैं इनमें एक पर असर होने के कारण पूरा परिस्थितिकी तन्त्र प्रभावित होता है।

विकासशील देशों में पर्यावरण को प्रदूषित करने के कारण –

1. जल और भूमि की कमी।
2. प्रदूषण (वायु, जल, भूमि, खनिज)।
3. जंगल और जंगली जीवन की क्षति।
4. जनसंख्या और गरीबी।
5. आवास समस्या।
6. बढ़ता औद्योगिकरण।
7. पर्यावरण के प्रति जागरूकता की कमी आदि।

पर्यावरण की सुरक्षा हेतु वैश्विक स्तर पर किए गए प्रयास –

1972 में स्टाकहोम में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन –

असीमित आर्थिक विकास एवं प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ को इस बात के लिए विवश कर दिया कि पर्यावरण से जुड़ी समस्याओं को सामूहिक रूप से विश्वहित में सुलझाया जाय। इसके परिणामस्वरूप सन् 1972 में पर्यावरण पर पहला अर्न्तराष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन स्टाकहोम (स्वीडन) में हुआ। इस सम्मेलन में 119 देशों ने पहली बार 'एक ही पृथ्वी का सिद्धान्त' स्वीकार किया था। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र पर्यावण कार्यक्रम (U.N.E.P.) का जन्म हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य

बिन्दु है– मानव को ऐसे पर्यावरण में, जिसमें वह सुखी व मर्यादापूर्ण जीवन जी सके तथा स्वतंत्रता, समानता और रहन–सहन की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध हो, जीने का मूलभूत अधिकार है और साथ ही उनका वर्तमान तथा भावी पीढ़ी के लिए स्वच्छ और सुरक्षित पर्यावरण को उपलब्ध कराने का महत्वपूर्ण दायित्व है। पृथ्वी के संसाधनों को पुर्ननिर्मित किए जा सकने वाली उत्पादन क्षमता को बनाए रखना चाहिए और जहाँ तक व्यवहारिक हो उसे पुर्नस्थापित किया जाना चाहिए।

एजेण्डा–21 संयुक्त राष्ट्र, सरकारों और प्रमुख समूहों द्वारा प्रत्येक क्षेत्र में वैश्विक, राष्ट्रीय और स्थानीय स्तर पर 21वीं शताब्दी के लिए एक व्यापक योजना है, जो पर्यावरण पर मानव के प्रभाव पर अधारित हैं। इसके माध्यम से सभी राष्ट्रों से निवेदन किया गया कि वह प्राकृतिक संतुलन को बनाएं रखे, पर्यावरण के प्रदूषण को रोकें तथा सतत विकास का रास्ता अपनाएं। एजेण्डा–21 के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ ने व्यक्ति की मलभूत आवश्यकताओं पर ध्यान केन्द्रित किया। इनमें स्वच्छता अभियान, स्वच्छ जल की व्यवस्था, (पीने के लिए) खाद्य पदार्थों की उपलब्धता, प्राकृतिक संसाधनों को बढ़ाना तथा उनका उचित प्रयोग, वायुमण्डल की रक्षा, जंगलों को कटने से बचाना, मिट्टी के कटाव को रोकना, वायु तथा जल प्रदूषण का नियन्त्रण, निर्णय–निर्माण में अर्थव्यवस्था तथा पर्यावरण को मिश्रित करना आदि पर बल दिया गया।

संयुक्त राष्ट्र पृथ्वी शिखर सम्मेलन–1997 : 1992 में रियो–डी–जेनेरों में सम्पन्न हुए पृथ्वी शिखर सम्मेलन में लिए गये निर्णयों की प्रगति का मूलयांकन करते हुए एक पांच दिवसीय संयुक्त राष्ट्र पृथ्वी शिखर सम्मेलन (1997) न्यूमार्क में सम्पन्न हुआ। विश्व में निरन्तर कम हो रहे बनों, नष्ट हो रही प्रजातियों तथा घटते हुए मत्स्य संग्रह के प्रति अधिकांश देशों ने सम्मेलन में चिन्ता व्यक्त की। विकासशील राष्ट्रों ने इस बात पर बल दिया कि पर्यावरण अनुकूल प्रद्योगिकी को बढ़ावा देने के लिए उन्हें विकसित राष्ट्रों से वांछनीय वित्तीय सहायता उपलब्ध नहीं करायी जा रही है।

क्योटो सम्मेलन–1997 :

पृथ्वी को बढ़ते तापमान से बचाने के लिए दिसम्बर 1997 में जापान के क्योटो शहर में ग्लोबल वार्मिंग सम्मेलन सम्पन्न हुआ। 'विश्व पर्यावरण सम्मेलन तथा ग्रीन हाऊस सम्मेलन' नाम से चर्तित इस सम्मेलन में वातावरण को गर्म करने वाली गैसों के उत्सर्जन को नियन्त्रित करने पर यद्यपि सभी राष्ट्र सहमत थे, किन्तु इसकी सीमा का निर्धारण विवाद का ही मुद्दा बना रहा।

जेहान्सवर्ग में सतत विकास से सम्बन्धित विश्व शिखर सम्लेन –

यह शिखर सम्मेलन जो पृथ्वी से सम्बद्ध शिखर सम्मेलन के दस वर्ष बाद हुआ, से अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को इस बात का मूल्यांकन करने का

अवसर मिला कि क्या एजेण्डा–21 में उल्लिखित लक्ष्यों को प्राप्ति कर लिया गया है।

जलवायु पर परिवर्तन कोपनहेगेन सम्मेलन–2009

प्रदूषणकारी गैसों के उत्सर्जन पर अंकुश के लिए एक सर्वसम्मत समझौते पर पहुँचने का प्रयास किया गया। विकसित और विकासशील देशों के बीच स्पष्ट विभाजन देखा गया।

जलवायु परिवर्तन पर लीमा (2014) और पेरिस (2015) सम्मेलन –

सम्मेलन के अन्तर्गत जलवायु परिवर्तन पर ऐतिहासिक समझौते को 196 देशों ने अपनी स्वीकृति दी। समझौते के अन्तर्गत धरती के बढ़ने तापमान को दो डिग्री सेल्सियस से नीचे रखने का लक्ष्य रखा गया। इस दिशा में विकसित देश 2020 से 2025 तक विकाशील देशों को प्रतिवर्ष 100 अरब डॉलर की आर्थिक मदद देंगे।

जलवायु परिवर्तन पर बान (जर्मनी) सम्मेलन (2017)–

जलवायु परिवर्तन को नियन्त्रित करने के वैश्विक समझौते को लागू करने के उद्देश्य से जर्मनी के बान शहर में सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस सम्मेलन में हरित इमारतों को स्थापित करने और इको–गतिशीलता (eco-mobility) में तेजी लाने का निर्णय किया गया। जलवायु वार्ताओं में स्थानीय लोगों की राय को अहमियत देने का निर्णय किया गया। ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन के मुद्दे पर विचार–विमर्श किया गया।

भारत में 1972 से ही पर्यावरण के क्षेत्र में योजनाबद्ध तरीके से कार्य प्रारम्भ हुआ। देश में पर्यावरण के बारे में विचार करने के लिए नेशलन कमेटी फॉर इनवायरनमेन्टल प्लानिंग एण्ड कोआडिनेशन, (NCEPC) का निर्माण हुआ और साथ ही औद्योगिक प्रदूषण से बचाव के लिए केन्द्रीय तथा राज्य स्तरीय प्रदूषण नियन्त्रण मण्डलों का गठन किया गया। 1980 में ही स्वतन्त्र रूप से पर्यावरण विभाग की स्थापना की गयी। इसी को कालान्तर में एन.सी.ई.पी. (National comitte on environmental planning) के रूप मे परिपत कर दिया गया, जिसकी प्राथमिकताएं निम्नवत थी।

1. औद्योगिक प्रदूषण का नियन्त्रण।
2. लुप्तप्राय हो रही विविध प्रजायितों का संरक्षण।
3. पीने के स्वच्छ पानी की उपलब्धता और न्यूनतम सफाई व्यवस्था।
4. देश के प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण तथा उनका उचित प्रबन्धन।

इस प्रकार स्वीकार किया गया कि जीवन की गुणवत्ता का ठोस अधार पर्यावरण की गुणवत्ता ही हो सकती हैं। अतः शुद्ध पानी, स्वच्छ भोजन, शुद्ध वायु, साफ–सुथरा आवास और बिना किसी प्रदूषण के वातावरण एक आवश्यक घटक है लेकिन जीवन जीने के लिए मानसिक रूप से स्वस्थ होना तथा प्रकृति से विरासत में मिले विभिन्न पदार्थों का ठीक से उपभोग करना भी उनका ही आवश्यक है। जहाँ एक ओर पर्यावरण के बिगड़ती हुई स्थिति से निपटने के लिए विश्व का ध्यान आकर्षित करने का

प्रयास हो रहा है तो दूसरी और प्रकृति और मानव की आत्म–निर्भरता के प्रति जागरूकता बढ़ रही है–

सन्दर्भ :

1. फड़िया, बी. एल. और कुलदीप : 'अन्तर्राष्ट्रीय एजेण्डे पर पर्यावरणीय मुद्दे' अर्न्तराष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन, आगरा (2017)
2. सिंह, शिव भानु : 'पारिस्थितिकी दर्शन' समाज दर्शन का सर्वेक्षण, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद (2010)
3. Chawla,Pradeep : 'पर्यावरण की समस्या और समाधान' https://www.gkexams.com
4. Kumari,Arti: 'World Environment Day' https://amarujala.com
5. https://www.drishtiias.com
6. https://www.mslu.ac.in
7. https://jansatta.com

***

विनोबा भावे के शैक्षिक विचारों की वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता : एक आलोचनात्मक अध्ययन

*विवेक कुमार सिंह**
डॉ. छत्रसाल सिंह **

प्रस्तुत अध्ययन में विनोबा के शैक्षिक विचारों की वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। उनके दार्शनिक, सामाजिक, सांस्कृति धार्मिक तथा राजनीतिक विचारों को सन्दर्भ के रूप में ही ग्रहण किया जायेगा। इसकी विस्तृत समालोचना इस अध्ययन में अपेक्षित नहीं है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन का उददेश्य है–

1 अध्ययन पद्धतियों के सम्बन्ध में विनोबा भावे के विचारों की प्रासंगिकता का अध्ययन।
2 विद्यालय के सम्बन्ध में विनोबा भावे के विचारों की प्रासंगिकता का अध्ययन।
3 स्वतंत्रता और अनुशासन के सम्बन्ध में विनोबा के विचारों की प्रासंगिकता का विश्लेषण।
4 मूल्यांकन पद्धति के सम्बन्ध में विनोबा के विचारों की प्रासंगिकता का अध्ययन।
5 विनोबा भावे के शैक्षिक विचारों की व्यावहारिकता एवं प्रासंगिकता का विश्लेषण।

अध्ययन की सीमाएं

आचार्य विनोबा भावे के वाड्मय विचारों को जानने के लिए विनोबा वाड्मय खण्ड 1 से 21 तक में उल्लिखित साहित्य को आधार बनाया जाएगा। विनोबा के विचारों की समीक्षा में जिन लेखकों की रचनाएं उपलब्ध हैं उनका भी उपयोग किया जाएगा।

सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण

विनोबा भावे के सामाजिक सांस्कृतिक, दार्शनिक विचारों पर शोधकर्ताओं की दृष्टि गयी है। उनके शैक्षिक दर्शन और विचारों पर दो अध्ययन विशेष रूप से उल्लेखनीय है–

अध्ययन के विस्तृत क्षेत्र एवं इसकी उपयोगिता की जानकारी हेतु सम्बन्धित साहित्य की समीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। अतः शाधकर्ता ने अपने अध्ययन को गहराई देने हेतु निम्नलिखित शोधकार्यों की समीक्षा की हैः–

** शोध छात्र, जे.एल.एन. मेमो.पी.जी. कालेज, बाराबंकी (उ.प्र.)
* एसो. प्रो., शिक्षाशास्त्र विभाग, जे.एल.एन. मेमो.पी.जी. कालेज, बाराबंकी (उ.प्र.)

1. कालेलकर, के0 (1971) ने विनोबा पर एक किताब 'विनोबा : व्यक्तित्व और विचार' लिखी। इसमें उन्होंने विनोबा जी के जीवन के विभिन्न पहलुओं को सम्मिलित किया है। उनके जीवन दर्शन स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के रूप में कार्य, सामाजिक कार्यों, राजनैतिक सोंच आदि को इस किताब में सम्मिलित किया गया है। संक्षेप में उनके शैक्षिक विचारों का भी वर्णन किया गया है।
2. गांधी, एम0 के0 (1945), ने सम्पूर्ण गांधी वाड्मय के 14वें वाल्यूम में प्रस्तुत एक पत्र के माध्यम से कहा कि एक महाराष्ट्रीय विनोबा भावे ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया। उन्होंने लिखा कि विनोबा सच्चे रूप से सर्वोदय विचारों को मानने वाले औश्र ग्रम स्वराज्य के विचार को वास्तविकता प्रदान करने वाहे रहे। इन विचारों का शिक्षा में विशेष महत्व है।
3. चौबे एस0पी0 (1998), ने भारत के महान शिक्षाशास्त्री नामक एक किताब लिखी, जिसमें उन्होंने विनोबा भावे को भारत के महान शिक्षाशास्त्रियों में स्थान दिया है इसमें उनके शैक्षिक विचारों के अलावा, उनकी सर्वोदय फिलासफी का संक्षेप में वर्णन किया गया है।
4. पाण्डेय, आर0एस0 (1999) ने संसार के महान शिक्षाशास्त्री नामक एक किताब लिखी, जिसमें उन्होंने विनोबा भावे की गांधी जी से वार्ता का दृष्टांन्त दिया है। उन्होंने विनोबा भावे के शैक्षिक विचारों की उपयोगिता का संक्षेप में वर्णन किया है।

अध्ययन पद्धति

विनोबा के शैक्षिक विचारों की प्रासंगिकता का अध्ययन करने के लिए विश्लेषणात्मक पद्धति का उपयोग किया जायेगा।

अध्ययन के परिणाम

- विनोबा भावे शिक्षक को विद्यार्थी का सर्वोत्तम सलाहकार मानते हैं। अतः शिक्षकों से आशा करते हैं कि वे विद्यार्थी को वही सलाह दें जो उचित एवं उपयुक्त है।
- विनोबा भावे तटस्थता या निष्पक्षता को शिक्षक का एक महत्वपूर्ण गुण मानते हैं। निर्णय लेने एवं कार्य करने की शैली में इसे अत्यन्त आवश्यक मानते हैं।
- विनोबा प्रत्येक व्यक्ति में कर्मयोग की भावना को आवश्यक मानते हैं। विद्यार्थियों में तो इस भावना के विकास को सबसे आवश्यक मानते हैं।
- विनोबा भावे विद्यार्थी को चिंतन स्वातंत्र की भावना से परिपूर्ण होना आवश्यक मानते हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रद्धा के साथ स्वातंत्र चिंतन अत्यन्त आवश्यक है।
- उनके अनुसार विद्यार्थियों में आत्म नियंत्रण की भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है स्वतंत्रता का अधिकार वही अपने हाथ में रख सकेगा जो अपने ऊपर काबू रख सकेगा।

- विनोबा के अनुसार जीवन में वही व्यक्ति सफल होता है, जो निष्ठावान होता है। अतः विद्यार्थियों को अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठावान होना चाहिए।
- विनोबा सेवा परायणता को ज्ञान प्राप्ति का स्रोत मानते हैं, उनके अनुसार बिना सेवा के ज्ञान प्राप्ति नहीं हो सकता अतः विद्यार्थी को निरन्तर सेवा परायण होना चाहिए।
- विनोबा जी विद्यार्थी में विश्व नागरिकत्व की भावना। गुण को अन्यत्र महत्वपूर्ण/आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार विद्यार्थी को संकीर्ण नहीं होना चाहिए उसे स्वयं को विश्व का नागरिक मानना चाहिए।
- विनोबा भावे शिल्प को पाठ्यचर्या में महत्वपूर्ण प्रमुख स्थान देने की वकालत करते है। उनका मानना है कि शिल्प के माध्यम से लोगों को आत्म निर्भर बनाया जा सकता है। साथ ही उनमें शरीरिक विकास के साथ सामाजिक भावना का भी विकास किया जा सकता है।
- विनोबा भावे उन विषयों को पाठ्यचर्या का अंग बनाने की वकालत करते हैं जिनसे सोचने की क्षमता का विकास तथा समुचित मानसिक विकास हो सके।
- विनोबा भावे का मानना है प्राचीन इतिहास में मानवीय जीवन के मूल्य अद्धरित है, अतः इतिहास को पाठ्यचर्या में सम्मिलित किया जाना चाहिए।
- चित्रकला भावनाओं के विकास एवं अभिव्यक्ति का साधन है, अतः विनोबा जी ने इसे पाठ्यचर्या में समुचित स्थान देने की वकालत भी है।
- विनोबा जी मात्रभाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में पाठ्यचर्या में सम्मिलित करने की पुरजोर वकालत करते है। उनका मानना है कि मातृभाषा मनुष्य के हृदय की भाषा है तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति इसी के द्वारा सम्भव है।
- उनके अनुसार यह पद्धति उद्योग/शिक्षा द्वारा ज्ञान प्रदान करती है। तथा इस पद्धति को प्रमुख शिक्षण पद्धति के रूप में स्थान दिया जाना चाहिए।
- यह पाँच पद्धतियों का सम्मिलित रूप है। विनोबा भावे द्वारा उद्धरित इस पद्धति पंचक में निम्नलिखित विधियों का वर्णन किया गया है।
- उनके अनुसार छात्रालय अथवा शिक्षकों के घर को शिक्षा की बुनियाद मानकर उस पर शिक्षण की इमारत रचने वाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। इसमें जीवन क्रम के अनुसार पाठ्यक्रम को अलग–अलग रखा गया है।
- वे प्रत्येक गांव में ऐसे ग्रामीण स्कूल चलाने की वकालत करते है। जिसमें विद्यार्थियों को दो वर्गों पठनवर्ग और श्रवण वर्ग में बाटकर सुबह के समय एक घण्टे पठन–पाठन किया जाये।

- उन्होंने ऐसे विद्यालय की कल्पना की है। जिसमें आनन्द के लिए शिक्षा प्रदान की जाये या आनन्द प्रदान करने वाली शिक्षा प्रदान की जाये।
- उनके अनुसार आम जनता की तालीम देहाती ढ़ंग से होनी चाहिए जिससे देहात की उन्नति हो जो लोग शहरों में रहते हैं उनकी दृष्टि भी ग्रामोन्मुखी रहे।
- ऐसी संस्था जो तालीम के नाम के बदले रोजी का काम करे।
- विनोबा भावे के अनुसार आदर्शपाठशाला वह है जो औद्योगिक विज्ञान, आहार विज्ञान, मल विज्ञान, खादी विद्या आदि सम्बन्धी ज्ञान प्रदान कर सके।
- उच्च शिक्षा हेतु उन्होंने आदर्श विद्यपीठ की कल्पना की। उनके अनुसार आदर्श विद्यपीठ वह है जहाँ से विद्यार्थी स्वावलम्बन हासिल कर सकें अर्थात रोजी–रोटी कमा सके।
- उन्होंने ऐसे ग्रामीण विश्वविद्यालय की कल्पना हमारे सम्मुख रखी जिसमें प्रयोग किये जा सके तथा प्रयोगों के परिणामों को रोजी–रोटी प्रदान करने के साधन के रूप में प्रयोग किया जा सके।
- विनोबा भावे प्रेम और सहानुभूति पर आधारित अनुशासन की वकालत करते हैं। और एक सीमा तक दण्ड सहित अनुशासन का सुझाव देते हैं।
- विनोबा भावे के अनुसार अंकों के प्रतिशत पर आधारित नहीं होनी चाहिए। वे क्रिया एवं दक्षता आधारित मूल्यांकन पद्धति की वकालत करते है।

शैक्षिक निहितार्थ

- आचार्य विनोबा भावे की दृष्टि में आज के शिक्षण का सम्बन्ध केवल दो शक्तियों के साथ आता हे। जब कि इनसे अधिक महत्व की कई शक्तियाँ बुद्वि में है। वर्तमान शिक्षा में इनके विकास पर ध्यान दिया जाना चाहिए।
- विनोबा भावे ने स्त्री शिक्षण को पुरूषों से अधिक महत्व दिया है, उन्होंने कहा है कि पहले पाँच साल की शिक्षा स्त्रियाँ ही दे पायेंगी, वह पुरूष का काम नहीं है। इस विचार को प्राथमिक शिक्षा में लागू किया जाना चाहिए। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित भी है।
- आचार्य विनोबा भावे की अभिनव समाज व्यवस्था के विचार को समाजशास्त्र में सम्मिलित करना चाहिए जिससे विद्यार्थियों में, अहिंसा सहयाग एवं सात्विक भ्रातभाव का सन्निवेश हो सके।
- आचार्य विनोबा भावे की शिक्षण पद्वति शिक्षक–शिक्षा के पाठ्य क्रम कि उनकी पद्वति पंचक अत्यन्त महत्व की है।

भावी अध्ययन हेतु सुझाव

- प्रस्तुत अध्ययन विनोबा भावे के शैक्षिक विचारों की प्रासंगिकता से सम्बन्धित है, भावी अध्ययन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक विचारों पर आधारित हो सकता है।
- प्रस्तुत अध्ययन तुलनात्मक नहीं है, विनोबा भावे के शैक्षिक विचारों का इनके सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विचारों से तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।
- विनोबा भावे के विभिन्न विचारों का अन्य शैक्षिक विचारकों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।
- विनोबा भावे के शैक्षिक विचारों की वैधता की जाँच के लिए पुनः अध्ययन किया जा सकता है।

सन्दर्भ :

1. विनोबा भावे – शिक्षा, स्त्री शाक्ति खण्ड 17, पृष्ठ–25
2. विनोबा भावे – शिक्षा, स्त्री शाक्ति खण्ड 17, पृष्ठ–78
3. विनोबा भावे – शिक्षा, स्त्री शाक्ति खण्ड 17, पृष्ठ–83
4. विनोबा भावे – शिक्षा, स्त्री शाक्ति खण्ड 17,पृष्ठ–65
5. विनोबा भावे – शिक्षा, स्त्री शाक्ति खण्ड 17, पृष्ठ–72
6. विनोबा भावे – शिक्षा, स्त्री शाक्ति खण्ड 17, पृष्ठ–78
7. विनोबा भावे – शिक्षा, स्त्री शाक्ति खण्ड 17, पृष्ठ–35
8. विनोबा भावे – शिक्षा, स्त्री शाक्ति खण्ड 17, पृष्ठ–33
9. विनोबा भावे – शिक्षा, स्त्री शाक्ति खण्ड 17, पृष्ठ–27
10. मजूमदार धीरेन्द्र – ग्राम स्वराज्य क्यों? : सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी, मई, 1980
11. विनोबा भावे – सर्वोदय की ओर : सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1954
12. विनोबा भावे – स्वायत्त लोकसत्ता, सर्वादय समाज सम्मेलन, चाडिल में विनोबा जी का प्रथम दिन का भाषण 07.03.53 गांधी निधि, राजघाट, दिल्ली से प्राप्त
13. विनोबा भावे – हमारी शिक्षा प्रणाली कैसी हो : जयपुर गांधी स्मारक निधि, 1953

***

चौथा सप्तक के कवि : काव्य दृष्टि एवं विचारधारा

डॉ. करुणा गुप्ता *

'तीसरा सप्तक के प्रकाशन के साथ नई कविता का एक वृत्त पूरा हो जाता है। उस नई कविता का जिसने खास किस्म की सौंदर्याभिरुचि का विकास करने के साथ समकालीन सामाजिक संघर्ष और कवि के आत्मसंघर्ष के बीच सामंजस्य खोजने की चेष्टाकी।'1तीसरा सप्तक नई कविता के प्रतिमानीकरण की संपूर्ण संभावनाओं को लेकर काव्य जगत में अवतरित हुआ तथा नई कविता की प्रवृत्तियों का साहित्य में निश्चित निर्धारण हुआ। नई कविता तारसप्तक के प्रकाशन के पश्चात आरंभ हुई उस प्रयोगवादी काव्यधारा का विकास है जिसकी सीमाएं तीसरा सप्तक के प्रकाशन के साथ प्रतिष्ठित हुईं।

एक लंबे अंतराल के बाद सन् 1979 में 'चौथा सप्तक' प्रकाशित हुआ। इस संकलन में संपादक अज्ञेय ने अवधेश कुमार, राजकुमार कुंभज, स्वदेश भारती, नंदकिशोर आचार्य, सुमन राजे, श्रीराम वर्मा, तथा राजेंद्र किशोर को संकलित किया। अज्ञेय ने भूमिका में लिखा 'तीसरा सप्तक' के बाद मुझे ऐसा जान पड़ा कि वे नई प्रवृत्तियां काव्य प्रेमी समाज में पूरी तरह स्वीकृति पा गई हैं। ऐसी स्थिति में उनके लिए और आंदोलन अथवा वकालत की कोई आवश्यकता नहीं रही।' संपादक के वक्तव्य से स्पष्ट है कि कविता में परिवर्तन के बीज परिलक्षित होने लगे थे तथा तारसप्तक से आरंभ हुई प्रवृतियां प्रतिष्ठित हो चुकी थीं।

चौथा सप्तक के लिए सैकड़ों कवियों में से सात कवियों का चुनाव करना संपादक के लिए कठिन कार्य तो रहा ही है पर उससे भी कठिनतर उनकी रचनाओं का चुनाव करना वस्तुतः 'यह एक संपादक की काव्य दृष्टि, साहित्यिक रुचि और साहित्यिक विवेक का प्रतिफलन है।'2 रचनाओं का चुनाव इसलिए भी कठिन हो गया है क्योंकि संवेदन का अंतर भी संभवतः बढ़ने लगा है।' 3 संवेदन के अंतर की वजह से ही, संपादक ने यह स्वीकार किया है कि आज जो कविता लिखी जा रही है, उसे अगर एक मुकदमे के रूप में प्रस्तुत करना है तो उसका वकील उसी में से निकालना चाहिए– आज जो लिख रहा है उसका सच्चा वकील आज का लिखने वाला ही होना चाहिए।' 4

अन्य सप्तकों की भांति चौथा सप्तक के कवियों ने भी कविता के पूर्व अपना वक्तव्य दिया है। अवधेश कुमार चौथा सप्तक के पहले कवि हैं। जिनकी काव्य संरचना और सृजन प्रक्रिया संबंधी चिंतन पर अज्ञेय का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यद्यपि प्रभाव के बावजूद इनकी पहचान

---

* एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी), आर्य कन्या महाविद्यालय हापुड़

अलग बनी हुई है। अवधेश साहित्य में रुचि रखने के अलावा फिल्म, चित्रकला, शिल्प और रंगमंच में भी रुचि रखते हैं। काव्य प्रक्रिया का इनका ढंग थोड़ा भिन्न है। इसलिए कविता लिखना इनके लिए अत्यंत सहज है। अवधेश का मानना है कि सभी अभिव्यक्त रूपों में परस्पर सामंजस्य के साथ यदि उनकी एक पूर्ण आंतरिक इकाई किसी एक व्यक्ति में बन जाती है, तो उसे कुछ कहने के अवसर स्वतः ही मिलते रहते हैं। इसलिए कविता लिखना अब तक मेरे लिए बड़ा सहज रहा है।' 5 कविता को अवधेश जीवन मानते हैं। अपने वक्तव्य में वे कहते हैं,' 'मेरी कविता एक साथ बहुत सारी चीजों से प्रभावित है, और एक संपूर्ण शब्द में वह जीवन है। शायद जीवन के प्रति मेरा गहरा लगाव व आस्था ही है जिसे मैं अपनी कविता के माध्यम से व्यक्त करता हूं।'... प्रकृति, समय एवं व्यक्ति अवधेश को अत्यंत गहरे स्तर पर प्रभावित करते हैं। अवधेश कविता की आधुनिकता एवं स्थानीयता के सामंजस्य पर बल देते हैं, 'अपनी कविता का आधुनिक होना भी मैं उतना ही महत्वपूर्ण मानता हूं, जितना उसका भारतीय होना, उसकी संवेदनशीलता के आयाम भी बहुत मुखर, सचेत और सामयिक होने चाहिए ताकि उसकी निरंतरता और स्थानीयता एक साथ बनी रहे,' कविता को समाज एवं ललित कलाओं से जोड़ना चाहते हैं, आगे इसी बात पर बल देते हुए कहते हैं कि ,'वह एक– एक व्यक्ति से होती हुई पूरे समाज से जुड़े और कई शिल्प रूपों और माध्यमों को अपनाएं, क्योंकि ऐसा है कि शब्द में संवेदना के विकास या अवरोध को एक क्रम में लक्ष्य कर पाना कठिन होता है, जबकि पेंटिंग, मूर्तिकला, स्थापत्य और फिल्म जैसे माध्यमों में उसकी चाक्षुष उपस्थिति रहती है।' 6

अपनी रचना को वे पेंटिंग की तरह रंगों और उनकी रंगतों जैसी शाब्दिक संरचना तथा फिल्म की तरह सवाक् एवं गतिशील बनाना चाहते हैं। अवधेश साहित्य को अपेक्षाकृत गंभीर एवं अनुशासित मानते हैं, जबकि अन्य विधाओं को साहित्य की तुलना में अगंभीर मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि,' साहित्य शब्द के जड़ हो जाने, मर जाने की जगह है, इसलिए साहित्य में आने से पहले उसे साहित्य से बाहर जीवन में इधर–उधर जिम्मेदाराना ढंग से आवारागर्दी कर लेनी चाहिए ताकि न केवल वह अर्थवान हो सके, बल्कि उसके पास अर्थ के ऐसे सामाजिक और सांस्कृतिक आयाम भी हों जो दो भिन्न मानसिकता, स्थान और समय में रहने वाले आदमियों के बीच के अपरिचय को समाप्त कर सकें।'7 अंततः अपने वक्तव्य का समापन करते हुए अवधेश कुमार कविता को जीवन में एक ऐसे परिवर्तन का आधार मानते हैं, जिसके लिए हम सब अपनी– अपनी तरह से प्रयत्नशील हैं।

'चौथा सप्तक' के दूसरे कवि हैं 'राजकुमार कुंभज' मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। पूंजीवाद वर्ग की मक्कारी एवं चालाकी के प्रति सख्त आक्रोश उनके वक्तव्य में विद्यमान है। वे नहीं चाहते कि किसी गरीब की जबान कभी किसी जेब में बंद हो। एक निष्कपट कवि की मूल चिंता के बारे में लिखते हैं कि 'वह खतरों और हादसों के बीच भी, मनुष्य और जीवन, दोनों को

बेहतर बनाने की जरूरत याद रखता है।' 8 साहित्यकार राजनीति से लगे यह राजकुमार को गंवारा नहीं है। वह यह भी मानते हैं कि 'राजनीति के सार्वजनिक आतंक से बच पाना व्यवहार में संभव नहीं है। इसलिए एक ईमानदार कवि की राजनीति का स्वभाव स्वाभाविक तौर पर विरोध पक्ष की राजनीति की तरफ रहना अस्वाभाविक नहीं है।' 9 साथ ही यदि कविता राजनीतिक खेमे से बाहर हो तो वह नए विचारों को जन्म दे सकती है। राजकुमार ने कवि को मूलतः प्रगतिशील स्वीकार किया है। किंतु साथ ही वे मानते हैं कि प्रगतिशीलता के नाम पर झूठ को ऊंचाई प्रदान करना फासिस्ट मनोवृति है।' 10

कविता क्या है इसे स्पष्ट करते हुए राजकुमार अपने वक्तव्य में लिखते हैं,– 'तीसरे मनुष्य की तकलीफ, कष्ट, दुख और मुसीबत को अभिव्यक्ति देना और इस तीसरे मनुष्य को दूसरे तथा पहले मनुष्य के ऊपर लाना ही उसका (कविता का) असली कर्म है.... कविता एक व्यक्तिगत साजिश है, वह सार्वजनिक कार्यवाही नहीं हो सकती, लेकिन इसके बावजूद तमाम कवि इस प्रक्रिया में सम्मिलित रहते हैं।.... कविता मनुष्य की हैसियत और हालत का ताजा से ताजा रचनात्मक अहसास है।.... वह संघर्ष में ठहरी हुई कोमलता है, जंगल में चिड़िया है, नंगे सिर, नंगे पांव का जख्म है, घनघोर अंधकार में रोशनी का एक जर्रा है.... दरअसल तानाशाह के कान में रेंगती जूं है।... इस संसार में जब तक मनुष्य रहेगा तब तक कविता जीवित रहेगी, क्योंकि कविता का मूल विषय मनुष्य है। कविता मनुष्य द्वारा मनुष्य के लिए मनुष्य का विवेचन है। कविता की इतनी लंबी– चौड़ी व्याख्या करने के बावजूद राजकुमार यह मानते हैं कि 'कविता में कविता क्या है, इसका कोई ठीक–ठाक उत्तर संभव नहीं, क्योंकि मनुष्य में मनुष्य क्या है, इसका भी तो उत्तर उपलब्ध नहीं।'11

चौथा सप्तक के तीसरे कवि हैं 'स्वदेश भारती'। भारती को उन कविताओं के प्रति गहरा आक्रोश है जो 'फलसफों के तंग दायरों में बंद किसी खास राजनैतिक चिंतन या प्रचार से प्रभावित होकर दिमागी कसरत से तथाकथित क्रांति लाने की खातिर गरीबों, सर्वहारा वर्ग या किसी अन्य वर्ग पर सपाट बयानी अंदाज में कविता जैसा कुछ जब लिखा जाता है।'12 कविता के लिए प्रेम, प्रकृति एवं मानव के प्रति आस्था तथा दुख आवश्यक है। कविता क्या है? स्वदेश जी ने भी इसे अपने ढंग से परिभाषित किया है। 'कविता ह्रदय की प्रार्थना है, जिसमें युग, समय, प्रकृति मानव जीवन की घटनाएं, संघर्ष, आशाएं, निराशाएं स्वतः ध्वनित होती हैं।'13 स्वदेश कविता को आत्मा के सौंदर्य की सच्चाई मानते हैं। भारती जिस कविता में सहज कलात्मकता नहीं, छंद नहीं, भाषा की ठीक–ठाक गठन और सौंदर्य नहीं, व्यक्तित्व नहीं उसे कविता नहीं मानते।

'चौथा सप्तक' के चौथे कवि 'नंदकिशोर आचार्य' लिखते हैं– 'मेरे लिए कविता, प्रत्येक कलारूप सर्वप्रथम सत्य को जानने की एक विशिष्ट प्रक्रिया है।.... एक ऐसी दोहरी प्रक्रिया है जिसमें कहने वाला व सुनने वाला दोनों मिलकर जानने वाला होते हैं। इस तरह कविता आत्मश्रवण भी है, और आत्मनिवेदन भी इस बहस को आगे बढ़ाते हुए नंदकिशोर लिखते हैं,' शब्द की

सीमा और सत्य की व्याप्ति के बीच का तनाव ही तो कविता का तनाव है और हर बार यह तनाव शब्द की सीमा को तोड़कर उसका अर्थ विस्तार करता है। नंदकिशोर कविता में लय के महत्व पर बल देते हैं। वे मानते हैं कि,'लय कविता में शब्द के माध्यम से काल प्रवाह की अनुभूति है।'14 वस्तुतः अनुभूत सत्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति ही कविता है।

सुमन राजे चौथा सप्तक की पांचवी कवयित्री के रूप में सामने आती हैं। सुमन जी के ने कविता को एक ऐसी प्रक्रिया माना है ,'जो मन को भर्ती है जिंदगी को निचोड़ती है, जिंदगी को भर्ती है मन को निचोड़ती है, दोनों को भर्ती है दोनों को निचोड़ती है।' 15 सुमन कविता की पीड़ा को सर्जनात्मक पीड़ा से सम्बद्ध सार्थक पीड़ा मानती हैं। सुमन भाषा की तलाश को कोई पृथक समस्या नहीं मानतीं,–' कविता अपनी भाषा में स्वयं प्रकट होती है, उसे ना तो गुब्बारे की तरह फुलाना होता है, ना खपच्चियां लगाकर सीधा करना होता है, और न ही रीढ़ तोड़ कर मुलायम करने की प्रक्रिया आवश्यक है। जब जीवन की पकड़ सीधी– सच्ची है तो भाषा की पकड़ उल्टी नहीं हो सकती।' 16 सुमन का वक्तव्य उनकी कविता संबंधी धारणाएं है सुचिंतित, संतुलित और स्पष्ट हैं, न कहीं अहम का कांटा, न मौलिकता की छद्म मुद्रा। कोई मानसिक गांठ नहीं है, इसलिए चीख–पुकार और आक्रोश के बीच भी उन्होंने अपने सामर्थ्य एवं सीमा का यथोचित मान रखा है।

चौथा सप्तक के छठे कवि श्रीराम वर्मा ने अपने वक्तव्य में कविता, काव्य भाषा, शब्द, लय, छंद की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। साथ ही मध्यकालीन कविता को मूल्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना है। वर्मा जी के अनुसार कविता,' चक्षुश्रवा एवं दृक्वाक्पदीय' है। 'कविता केवल यथार्थ नहीं है, अतियथार्थ नहीं है, कुछ और भी है, जिसे समझा तो जा सकता है, कहा नहीं जा सकता। कविता एक आध्यात्मिक संस्करण है जो भौतिकता के भीतर से स्वत स्फूर्त ढंग से होता रहता है।.... कविता शब्दाडंबर नहीं है। न शब्द मोह है न बिंब मोह है। कविता स्वयं से मुक्ति है, अतः स्वयं का साक्षात्कार है। वह तथ्य को सत्य बनाने की प्रक्रिया है।..... कविता का कोई एक निश्चित रूप नहीं होता उसके रूप अनेक हैं छंदी, निछंदी, तालबद्ध,निर्ताल, लयबद्ध, निर्लय, गद्यगंधी दृष्टि अवश्य निश्चित होती है।' 17 प्रयोग को वर्मा कविता का प्रस्थान बिंदु मानते हैं। अनुभूत संसार, संवेदनाएं, शास्त्र, विज्ञान, मनुष्य और प्रकृति के संबंध, और अधिकार सत्ता और राजनीति कुल चेतना और दिक् और भूत और वर्तमान सभी को अपनी कविता के लिए कवि कच्चा माल मानता है और कहता है 'मैं लघु मानव, गांधी के प्रतिरोपित प्रयोग शील शब्दों के देश का लघु मानव इस कच्चे माल से बराबर एनकाउंटर करता हूं।' 18

'चौथा सप्तक' अथवा सप्तक परंपरा के अंतिम कवि हैं 'राजेंद्र किशोर'। 'बेहतर होता कि मेरा कोई वक्तव्य नहीं होता' कहने के बावजूद भी राजेंद्र जी ने एक लंबा वक्तव्य प्रस्तुत किया है। और उनके पूरे वक्तव्य में एक गहरा अंतर्विरोध दिखाई देता है। लगता है स्वयं को अत्यंत सार्थक बयान देने वाला तथा समझदार साबित करने के प्रयास में राजेंद्र जी दिग्भ्रमित हो उल्टा पुल्टा वक्तव्य दे डाले हैं। वक्तव्य में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि राजेंद्र

किशोर एक ओर कवि की रचना के क्षण की अद्वितीयता की बात करते हैं, कविता के अद्वितीय होने का दावा करते हैं और निष्कर्षतः साधारणीकरण को अस्वीकार करते हैं, संप्रेषण का संबंध केवल कवि से मानते हैं और कवि को ही एक साथ स्रष्टा और भोक्ता मानकर वह भी दो टूक शब्दों में स्वीकार करते हैं– 'कविता का सारा रूप निर्माण इसी भोक्ता के लिए होता है।'– फिलहाल उनके समस्त मंतव्य को स्वीकार किया जाए तो बुनियादी अंतर्विरोध उनकी मानसिकता को लेकर प्रकट होता है। अगर कविता का भोक्ता स्वयं अद्वितीय क्षण का अनुभव करने वाला स्रष्टा है और पाठक के संदर्भ में साधारणीकरण का कोई प्रयोजन नहीं है तो समूची आक्रोश भरी मानसिकता का कारण समझ में नहीं आता। यदि राजेंद्र किशोर अपने मंतव्य के प्रति आश्वस्त हैं और पाठकों को 'दुर्लभ पदार्थ' मान कर चलते हैं तो यह निराशा, कड़वाहट, असंतोष, और अतृप्ति और दर्प क्यों– 'मेरी कविताओं की नकल करके कई महाकवि हो गए, मगर मैं भुला दिया गया।'19असल में अद्वितीय क्षण का सृजन और भोग करके ही उन्हें संतुष्ट रहना चाहिए था, लेकिन बात यहीं तक सीमित नहीं है अपनी जिन कविताओं के बल पर वह महाकवि के रूप में स्वीकार किए जाने की आकांक्षा करते हैं उन्हीं के बारे में यह भी घोषित करते हैं मुझे मेरी पिछली कविताएं अस्वीकार हैं। उनकी निरर्थकता भी मुझे स्पष्ट है।'20 राजेंद्र जी के इस दावे को भी स्वीकार करने में शंका उत्पन्न होती है, 'मैं अपनी कविताओं के बारे में इतना ही कह सकता हूं कि इस संग्रह में संकलित कविताओं में सत्य के अतिरिक्त और कुछ भी मेरा कथ्य नहीं है।' साथ ही कविता का आस्वादन करते समय भी संकोच पैदा होता है। जब राजेंद्र किशोर यह भी लिख डालते हैं कि 'जो उपलब्ध हुआ है उसकी अद्वितीयता का मैं साक्षी हूं और केवल मैं ही उसका पर्याय हूं।'21 राजेंद्र जी के वक्तव्य पर अनेक विचारधाराओं का प्रभाव है। पूरे वक्तव्य में एक अस्पष्टता सी बनी हुई है। अंततः कविता के संबंध में निष्कर्ष देते हुए वे कहते हैं, 'महान कविता अपने अद्वितीयता की अभिव्यक्ति के लिए शब्द का, रूप का, लय का अनुसंधान नहीं करती 'आर्केटाइप्स' का अनुसंधान करती है।..... 'आर्केटाइप्स' का अनुसंधान कविता का न साधारणीकरण करता है, न उसकी अद्वितीयता को ही नष्ट करता है। 'हर समय अद्वितीयता के क्षण के बोध के इहलाभ में और अपनी ही कविता (जिसको स्वयं कवि अस्वीकार कर रहा है) के पाठक न मिल पाने की वेदना में एक विचित्र कशमकश है जो सारे वक्तव्य पर छा गई और इस कारण वैचारिक अस्पष्टता है।' 22

चौथा सप्तक वस्तुतः सप्तक परंपरा का ठहराव था। कविताएं बनी बनाई लीक पर लिखी जा रही थीं।संकलित कविताओं में कुछ कविताएं अपनी सोच और संप्रेषण में बनी बनाई लीक का ही अनुसरण करती हैं, जिससे उनकी कोई भिन्न सत्ता प्रमाणित नहीं होती। उनकी विचार दृष्टि में कोई नयापन नहीं दिखाई पड़ता है। राजनीतिक प्रतिबद्धता के खिलाफ 'चौथा सप्तक' का प्रकाशन अपनी योजना में एकदम असफल रहा। यद्यपि एक पक्ष यह भी मानता है कि कविता को राजनीतिक दुराग्रहों से बचाने के लिए अज्ञेय द्वारा 'चौथा सप्तक' का प्रकाशन औचित्यपूर्ण था। किंतु ऐसी स्थिति में जहां 'तीसरा सप्तक'

के हरकवि भी कविता एवं राजनीति में अभिन्न संबंध में मानने लगे थे, 'चौथा सप्तक' के प्रकाशन पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है। फिर भी अज्ञेय का यह दावा कि संकलित कवि इस अवधि की अच्छी कविताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनका अपना मत बन कर रह गया है, न कि पाठक समूह के मत का प्रतिनिधित्व करता है।

संदर्भ :

1. दिशांतर, सं0 डॉ.परमानंद श्रीवास्तव, पृष्ठ 9
2. चौथा सप्तक,सं0 अज्ञेय, प्रथम संस्करण,1979 सरस्वती विहार, दरियागंज दिल्ली, पृष्ठ 8
3. वही...पृष्ठ8,
4. वही...पृष्ठ9,
5. वही...पृष्ठ28,
6. वही...पृष्ठ29,
7. वही...पृष्ठ29,
8. वही...पृष्ठ67,
9. वही...पृष्ठ68,
10. वही...पृष्ठ68,
11. वही...पृष्ठ68,69,70,
12. वही...पृष्ठ141,
13. वही...पृष्ठ141,
14. वही...पृष्ठ143,
15. वही...पृष्ठ184,
16. वही...पृष्ठ185,
17. वही...पृष्ठ.225,
18. वही...पृष्ठ228,
19. वही...पृष्ठ269,
20. वही...पृष्ठ269,
21. वही...पृष्ठ269
22. दस्तावेज,(पत्रिका) सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ,चंद्रकांत वादिवदेकर, अंक 13–14, पृष्ठ 47

***

सामाजिक असमानता के आधार एवं प्रमुख कारण

डॉ. संजय तिवारी *

असमानता' समानता का विपरीत अर्थक है। असमानता के दुष्परिणाम को जानने के लिए पहले 'समानता' के अर्थ और महत्त्व को जानना आवश्यक है। साधारण लोग समानता का अर्थ 'सब लोगों की बराबरी' से लेते हैं। उनके अनुसार समानता का अर्थ है कि समाज में सभी व्यक्ति बराबर हैं। उनमें किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं हो, सबको एक सी शिक्षा, एक सा वेतन, एक–सा अवसर आदि प्राप्त हो तथा सबको एक सी ही सम्पत्ति प्राप्त हो। उनकी मान्यता है कि मनुष्य होने के नाते मानव–मानव सब एक हैं, उनमें किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं है। परन्तु उन लोगों द्वारा समानता का यह अर्थ लगाना गलत है, क्योंकि प्रकृति ने ही एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में असमानता रखी है। समानता का सही अर्थ है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का पूर्ण रूप सेविकास करने के समान अवसर प्राप्त हों, वे सबको निष्पक्षतापूर्वक समान रूप सेप्राप्त हों। समाज द्वारा अथवा राज्य द्वारा व्यक्तियों को ऐसी सुविधाएं प्रदान करनेमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। समानता के सिद्धांत मेंनकारात्मक और सकारात्मक दो रूप सम्मिलित हैं। इसके सकारात्मक रूप में अर्थहै, ''समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकाधिक विकास के लिए पर्याप्तअवसर प्रदान करना'' तथा नकारात्मक रूप में समानता का अर्थ है, ''सामाजिकविशेष अधिकारों का अंत'' अर्थात् जाति, धर्म, सामाजिक स्थिति आदि के आधारपर नागरिकों में किसी प्रकार के भेदभाव को न रहने देना। एच. जे. लॉस्की केशब्दों में ''समानता का अर्थ है, कोई वर्ग अपना विशेष हित न रखता हो औरप्रत्येक मनुष्य को बराबर के अवसर प्राप्त हों ताकि वे अपने व्यक्तित्व का पूर्णविकास कर सकें।'' सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नागरिक आदि सभी क्षेत्रों मेंसमानता का होना व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए परमावश्यक है।इसके विपरीत असमानता व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में बाधक है। जबसमाज के किसी भी क्षेत्र में असमानता का व्यवहार किया जाता है तो समाज मेंअव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

प्रस्थिति की असमानता अथवा पद का विभेदीकरण, सामाजिक स्तरीकरणकी प्रमुख विशेषता है। जहां सामाजिक स्तरीकरण होगा, वहां सामाजिकअसमानता होगी। यद्यपि मानव ने सदैव ऐसे संसार का स्वप्न देखा है जिसमेंप्रस्थिति का भेदभाव न हो और सभी व्यक्ति समान हों फिर भी, यह

* एम.ए., एल-एल.बी., पी-एच.डी., एसो. प्रो. एवं विभागाध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग, डी.ए.वी. पी.जी., कालेज, लखनऊ

कटु सत्य हैकि समाज विभिन्न पदों को विभिन्न अधिकार एवं सुविधाएं प्रदान करता है। कुछव्यक्तियों और समूहों को उनके द्वारा भोगे जाने वाली सुविधाओं औरविशेषाधिकारों के आधार पर दूसरों की अपेक्षा उच्च माना जाता है। उदाहरण केलिए भारत में डॉक्टरों या इन्जीनियरों को अध्यापकों की अपेक्षा उच्च माना जाताहै। श्रेणी के रूप में पूर्वोक्त का उच्च सामाजिक मान है। विभिन्न पदों से संलग्नमान या प्रतिष्ठा सामाजिक व्यवस्था का एक भाग बन जाती है और यहीस्तरीकरण है। हां, यह स्मरण रखना चाहिए कि विभिन्न पदों से संलग्न मानमर्यादा का प्रकार अथवा इसकी मात्रा सभी समाजों में समान नहीं होतीऔर भी,विभिन्न पदों से विभिन्न मानों को संलग्न करने का आधार भी तर्कसंगत होनाआवश्यक नहीं। मानको विभेदों के अनेक कारण हो सकते हैं। इनमें से कुछपूर्णतया अन्धविश्वासी, अतार्किक तथा विस्तृत एवं पुरातन मत में छिपे हुए कारणहो सकते हैं कि किसी पद को धार्मिक आस्था के कारण कल्पित दैवी आदेश द्वाराउच्च मान प्रदान किया गया हो।

प्रो. वीरस्टीड ने अपने ग्रन्थ में समाज की असमानता या विभेदीकरण केकुछ स्वरूपों पर प्रकाश डाला है–''पुरुष और स्त्रियां, परिवार, नगर और देश, वर्गऔर जाति, रंग और प्रजाति और अंततः समिति एवं संस्थाएं हैं। समाज में व्यक्तिकी लैंगिक भिन्नता एक प्रमुख असमानता या विभेदीकरण है। किसी भी समाज मेंमनुष्य और स्त्रियों के समान कार्य, समान बातें, समान प्रस्थितियों को ग्रहणकरना, किसी विशिष्ट स्थार्थ–पूर्ति में समान भाग, समान प्रतिमानों की पूर्ति अथवासमान उपलब्धियां आदि नहीं होते हैं। सभी समाज लिंग–भेद के अनुसार आचरणऔर दिशाएं नियुक्त करते हैं जैसे कि वे पोशाक निश्चित करने में भी भिन्नतारखते हैं। लैंगिक प्रस्थितियों के अनुसार ही प्रतिमानों की भिन्नता भी विचारणीयहै।'' प्रो. वीरस्टीड ने लिखा है–''निसन्देह यह समाज के क्रूर तथ्यों में से भी एकहै। दो लिंगों का अस्तित्व प्राणीशास्त्रीय विभेदीकरण है जो कि दो प्रकार केसहयोगी समूहों को (पुरुषों के समूह और स्त्रियों के समूह) को प्रस्तुत करता है।किसी भी समाज में इन दो प्रकार के समूहों पर एक जैसे प्रतिमान लागू नहीं होते,और न ही एक जैसा प्रभाव ही डाला जाता है। सभी समाजों में इन दो लिंगों केलिए अलग–अलग प्रतिमान और प्रस्थितियां हैं। कोई भी समाज अपने पुरुष औरस्त्रियों के साथ एक जैसा व्यवहार नहीं करता। किसी भी समाज में वे क्रियाओं,प्रेरणाओं अथवा लक्ष्यों में भी समान रूप से भाग नहीं लेते हैं। सभी समाजों मेंउनके विचारों, वेश–भूषा और उनके कार्यों में भी भिन्नता होती है। पुनश्च,स्त्री–पुरुष का पृथक्कीकरण एक सांस्कृतिक और सामाजिक घटना है, जैसे किकेवल पाश्चात्य समाज में ही नहीं अपितु सभी समाजों में सांस्कृतिक आधार परस्त्री–पुरुष के अलग–अलग पद हैं और वे विभिन्न प्रतिमानों का पालन करते हैं।यह पृथक्कीकरण सामाजिक घटना के रूप में भी सभी समाजों में पाया जाता हैक्योंकि सभी समाजों में समूह एक या दूसरे

लिंग तक ही सीमित होता है। वास्तवमें कुछ समूह, जैसे सामान्य सामाजिक समूह इतने अमान्य, स्पष्ट, अस्थायी होते हैंजिनमें एक ओर स्त्रियां और दूसरी ओर पुरुष होते हैं।''

डॉ. वीरस्टीड ने सामाजिक असमानता अथवा विभेदीकरण के एक महत्त्वपूर्णप्रकार के गांव और नगर की चर्चा की है। यह भेद पूर्व–आदिवासियों को छोड़करसमस्त मानव–इतिहास में पाया जाता है। मिट्टी और सीमेन्ट, कच्चा और पक्काफर्श, विशाल सड़कें और गलियां आदि जीवन के दो विभिन्न ढंग हैं, दो विभिन्नसंस्कृतियां हैं। इस जटिल व्यवस्था में एक अन्य और तीसरी संस्कृति उप–नगर हैजिसने हाल की दशाब्दियों में विभिन्न स्वरूप ग्रहण किए हैं। वीरस्टीड ने वर्ग औरजाति तथा रंग और मत से सम्बन्धित विभिन्नताओं अथवा असमानताओं की भीविस्तार से चर्चा की है और समाज तथा उसकी संस्थाओं में पाई जाने वालीअसमानताओं का विशद विवेचन किया है।

सामाजिक असमानता के आधार

यह एक सार्वभौम सत्य है कि संसार में कोई भी दो वस्तुएं अथवा जीवएक–समान नहीं होते। प्रकृति भी कभी दो मान वस्तुओं को उत्पन्न नहीं करतीहै। यहां तक कि एक साथ जन्मे दो बालक (जुड़वां) भी प्रायः एक समान नहींहोते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि असमानता समाज के प्रत्येक स्तर पर दिखाईदेती है। असमानता सभी समाजों में विद्यमान थी और भविष्य में भी रहेगी।मानवीय समानता के समर्थक सभी विद्वानों की धारणा है कि सभी प्राणी प्रकृति नेसमान बनाए हैं, इसलिए सभी को समान समझना चाहिए, समान सुविधाएं प्रदानकी जानी चाहिए और समाज में जो असमानताएं व्याप्त हैं उन्हें दूर किया जानाचाहिए क्योंकि भारतीय समाज एक आदर्शवादी विचारधारा वाला समाज है।

आन्द्रे बिताइल ने अपनी पुस्तक ''इनइक्वैलिटी अमंग मैन'' में कहा है कि,''आधुनिक जगत का महान विरोधाभास यह है कि हर स्थान पर मनुष्य अपने कोसमानता के सिद्धांत का समर्थक बताता है और हर स्थान पर यह अपने जीवन मेंतथा दूसरे के जीवन में असमानता की उपस्थिति का सामना करता है।'' इस बातका सभी समर्थन करते हैं कि समानता एक उच्च आदर्श है, किन्तु असमानताएक भोगा हुआ यथार्थ है।

असमानता की अवधारणा सभी समाजों में पाई जाती है। कोई भी समाजसमाजवादी दृष्टिकोण पर पूर्णतः आधारित नहीं हो सकता। केवल कल्पना अवश्यही की जा सकती है। समाजवादी विचारकों के मतानुसार निजी सम्पत्तिकी समाप्ति की जानी चाहिए, जिससे सम्पूर्ण समाज मेंसमानता स्थापित की जा सके, जबकि लोकतन्त्राात्मक समाजों की दृष्टि सेसमानता का आशय आय और स्थिति का समान होनाहै, किन्तु कोई भी समाज हर दृष्टि से समान नहीं है।

ओकन का मानना है कि, ''पूर्ण समानता को, यदि यह विद्यमानहै मान्यता देना असम्भव हो सकता है, लेकिन असमानता को मान्यता देनाआसान है।'' कहने का तात्पर्य यह है कि हम केवल कल्पना कर सकते हैं किसमानता समाजों में हो, किन्तु यथार्थ यह है कि मनुष्य समान हो ही नहीं सकते।अतः हम समानता का आडम्बर करते हैं, वास्तव में हम स्वयं भी नहीं चाहते हैं।

सामाजिक असमानता के प्रमुख कारक

सामाजिक असमानता एक सार्वभौमिक तथ्य है। समानतावादी आदर्श कीस्थापना के लिए प्रयत्नशील समाजों में भी असमानता अपरिहार्य तथ्य क्यों है, इसप्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास अनेक विद्वानों ने किया है। फालबेकने युद्ध, विजय, धन का असमान वितरण, प्रकृति, पूंजी और श्रमविभाजन को सामाजिक असमानता के मूल स्रोतबताए हैं।रॉल्फ डेहरन्डोर्फ ने सामाजिक असमानता कीउत्पत्ति के लिए मनुष्यों की प्राकृतिक भिन्नता तथा प्रकार्यात्मक आवश्यकता कोउत्तरदायी बताया है। सामाजिक असमानता के लिए निम्नलिखित कारकउत्तरदायी माने जा सकते हैं

1–प्राकृतिक भिन्नताएं–ईश्वर अथवा प्रकृतिने सभी मनुष्यों को समान स्थिति में उत्पन्न नहीं किया है। कोई प्रकृति प्रदत्तवस्तु समान नहीं है। किसी न किसी रूप में एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होती है।जब प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं में ही भिन्नता व्याप्त है तो व्यक्ति में भिन्नता होनास्वाभाविक है और व्यक्ति से बने समाज और उसकी व्यवस्था समान हो ही नहींसकती। आज हम समाज में कहीं भी नजर डालें तो चारों ओर भिन्नता दिखाईदेती है। नर, नारी, बालक, युवा एवं वृद्ध सभी शारीरिक, बौद्धिक अथवाआचार–विचार की दृष्टि से भिन्न हैं।अरस्तू ने प्राकृतिक असमानता के सिद्धांत को चुनौती देते हुए कहा है किमनुष्य प्रकृति के समान है और असमानता सामाजिक दशाओं का परिणाम है।

रूसो जो प्रकृति के अटूट समर्थक थे, मानते हैं कि यद्यपि प्रकृति मेंअसमानता है, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि समाज में भी असमानता होगी।समाज की प्रकृति से तुलना नहीं की जा सकती है।

2–श्रम–विभाजन–कार्ल मार्क्स, एंजिल्स,श्मोलर तथा दुर्खीम आदि विद्वानों ने श्रमविभाजन को सामाजिक असमानता कामूल कारण बताया है। सामाजिक असमानता का मुख्य आधाार व्यावसायिकभिन्नता है। प्रारम्भ से ही मनुष्यों ने सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति सेसंबंधित कार्यों या व्यवसायों को अपनाकर अपनी जीविका प्राप्त की है। प्रत्येकव्यवसाय आर्थिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से समान नहीं होता है। अतःश्रम–विभाजन मानवीय जीवन में सामाजिक भिन्नता उत्पन्न कर देता है। श्मोलरका मानना है कि ''सामाजिक स्थिति तथा सम्पत्ति में प्रतिष्ठा औरआमदनी में अंतर केवल मात्रा सामाजिक भिन्नता का द्वितीयक परिणाम है।'''सामाजिक वर्गों

की उत्पत्ति प्राथमिक रूप में किसी समूह अथवा राष्ट्र के अन्दरश्रम–विभाजन पर निर्भर करती है।'' सामाजिक असमानता का कारण श्रम काविभाजन है।

3–युद्ध और विजय–फरग्यूसन, ब्लाय तथा हाब्सआदि विद्वानों की मान्यता है कि सामाजिक असमानता का प्रमुख कारण युद्ध औरविजय है। इतिहास साक्षी है कि हर युग में युद्ध हुए हैं, इसके परिणामस्वरूप एकपक्ष विजयी हुआ और इससे समाज में असमानता उत्पन्न हुई। सामन्तवादी युग मेंजागीरदारों और किसानों का अंतर विजय–पराजय का अंतर था। इस युग में तीनवर्ग थेपुजारी वर्ग, योद्धा वर्ग, श्रमिक वर्ग। हाब्स की मान्यता है कि प्रारम्भ मेंमानव समूह परस्पर लड़ते–भिड़ते रहते थे। इस लड़ाई से बचने के लिए तथा शांतिसे रहने की इच्छा से ही मनुष्यों ने समाज की स्थापना की। इस प्रकार 'भय'अथवा 'युद्ध' ही सामाजिक असमानता का मुख्य कारण है।

4–प्रकार्यात्मक आवश्यकता–समाजशास्त्रीपारसन्स तथा डेविस ;का मानना है कि सामाजिकअसमानता सामाजिक व्यवस्था की कुछ महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की सहजपूर्ति मेंआवश्यक होती है। अतः असमानता का प्रमुख कारक स्वयं समाज कीआवश्यकताओं में निहित है। यदि असमानता समाज के लिए प्रकार्यात्मक याउपयोगी न होती तो समानता के आदर्श से प्रेरित समाजों में भी असमानता केदर्शन न होते। इस प्रकार इनके अनुसार सामाजिक असमानता, सामाजिक संरचनाके अस्तित्व की रक्षा के लिए व्यवस्था में स्थायित्व और निरन्तरता के लिए समाजकी प्रकार्यात्मक आवश्यकता है, जिसे समाप्त नहीं किया जा सकता। प्रत्येकसमाज में अनेक सामाजिक स्थितियांहोती हैं जो असमान होती हैं। इनमें से कुछव्यर्थ की होती हैं और कुछ उपयोगी होती हैं। इन उपयोगी स्थितियों के साथसुखदायी अधिकार तथा पुरस्कार होते हैं और व्यर्थ की स्थितियों के साथ कममहत्त्व के अधिकार जुड़े होते हैं। पुरस्कार प्राप्ति के लिए व्यक्ति कठिन से कठिनज्ञान और प्रशिक्षण को प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है, चाहे उसे कितना हीधन, श्रम या समय क्यों न व्यतीत करना पड़े। इस दृष्टि से असमानता केफलस्वरूप ही व्यक्ति विभिन्न कार्यों को करने का प्रयास करता है। यहीसामाजिक प्रकार्यात्मकता है।

कुछ विद्वानों ने असमानता के संदर्भ में प्रकार्यात्मक सिद्धांतों की आलोचनाकी है। ट्यूमिन का मानना है कि सदैव ही योग्यता के लिए असमानताहोना आवश्यक नहीं है। श्वासने दो इजरायली समुदायों काअध्ययन करके बताया कि असमान पुरस्कारों के बिना भी पदों पर उपयुक्तनियुक्तियां की जा सकती हैं। रौंगने प्रकार्यवादियों की इस आधार परआलोचना की कि उन्होंने असमानता के अकार्यों को अनदेखा कर दिया है। कुछविद्वानों ने प्रकार्यात्मक व्याख्या को रुढ़िवादी बताकर आलोचना की है तथा कुछविद्वानों ने पद्धतिशास्त्रीय आधार पर प्रकार्यवाद की आलोचना की है।

5–निजी सम्पत्ति–कार्ल मार्क्स, एडम स्मिथ तथामिलर आदि विद्वानों ने सामाजिक असमानता का कारण व्यक्तियों की निजीसम्पत्ति का होना माना है। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा होती है कि उसके पास अपारसम्पत्ति हो जिससे वह दूसरों से असमान दिखाई दे।अरस्तू ने सभी समाजों में अमीर, गरीब और नीचये तीन प्रकार के मनुष्यबताए हैं और सरकार तथा राजनीति में इसका पृथक्–पृथक् स्थान निर्धारित कियाहै। रूसो का कहना है कि जिन व्यक्तियों ने प्रकृति से दूर जाना प्रारम्भ किया तोउसमें असमानता उत्पन्न हुई। सामाजिक असमानता का मूल स्रोत निजी सम्पत्तिकी अवधारणा में निहित है।अडम फरग्यूसन भी निजी सम्पत्ति को असमानता का मूल स्रोत मानते हैं।इनके मत में लोगों की धन प्राप्ति की इच्छा तथा असमान दिखाई देने कीअभिलाषा के कारण ही सभ्यता का विकास हुआ।

वोन स्टोन ने सम्पत्ति के वितरण को सामाजिक असमानता का आधारमानते हुए कहा है कि ''वर्ग रचना वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सम्पत्ति का वितरणसमाज के सदस्यों में वैयक्तिकता के आधार पर आध्यात्मिक अधिकारों, वस्तुओंऔर प्रकार्यों का इस प्रकार वितरण कर देता है कि निरन्तरता और स्थायित्व मेंतत्व सम्पत्ति से सामाजिक स्थिति तथा प्रकार्य हस्तान्तरित कर दिए जाते हैं।''इस प्रकार उपर्युक्त विद्वानों के अनुसार सामाजिक असमानता के लिएनिजी सम्पत्ति की व्यवस्था को समाप्त करना आवश्यक है, किन्तु वास्तविकता यहनहीं है। जिन साम्यवादी देशों में निजी सम्पत्ति व्यवस्था की समाप्ति हो गई वहांउसके बाद भी असमानताएं विद्यमान हैं। अतः निजी सम्पत्ति को ही असमानताका एकमात्रा कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

6–मूल्यांकन और संगंगठन–आन्द्रे बेतील ने सामाजिक असमानता के स्रोत के रूप में 'मूल्यांकन' तथा'संगठन' की व्याख्या की है। उनके विचार से कुछ तत्व ऐसे होते हैं, जो समाजको संगठित तथा व्यवस्थित रखने के साथ–साथ उसके सदस्यों में असमानता भीउत्पन्न करते हैं। सामाजिक असमानता का संबंध प्रतिष्ठा या सम्मान की मात्रा मेंभिन्नता से है। सामाजिक सम्मान मनुष्य के गुणों और कर्मों या आचरण सेनिश्चित होता है। कुछ समाजों में गुण और कर्म जन्म के द्वारा संबंधित मान लिएजाते हैं। पवित्रता और अपवित्रता की धारणाएं भी सामाजिक सम्मान का निर्धारणकरती हैं। स्थिति और शक्ति सामाजिक मूल्यांकन से निर्धारित होती है। किसीसमाज में जिन गुणों और कर्मों को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है उन्हीं के संदर्भमें व्यक्ति का मूल्यांकन किया जाता है और इस मूल्यांकन के आधार पर उन्हेंअसमान स्थितियां प्राप्त होती हैं।

असमानता का दूसरा स्रोत 'संगठन' है। संसार का प्रत्येक समाज किसी नकिसी अंश तक संगठित होता है। यह संगठन, शक्ति और प्रभुत्व पर आधारितहोता है। प्रभुत्व और अधीनता के लक्षण समाज की सार्वभौमिक विशेषता कहलातीहै। संगठन, समाज के सदस्यों के अधिकार तथा कर्तव्यों की व्याख्या करता है।अधिकार और कर्तव्यों की स्थापना के लिए शक्ति का सहारा लेना पड़ता है औरशक्ति की मात्रा समाज के सदस्यों में असमानता उत्पन्न कर देती है। असमानताके इस दोहरे स्रोत पर चर्चा करते हुए आन्द्रे बेतील लिखते

हैं कि ''मैंने मनुष्यों मेंअसमानता के प्रचलन की व्याख्या दो मुख्य घटनाओं के संदर्भ में करने का प्रयत्नकिया है, मूल्यांकन और संगठन। वे स्वयं एक तो संस्कृति में और दूसरी ओरशक्ति में निहित हैं, जिनमें एक के बिना भी मानव समाज का, जैसा कि हम इसेजानते हैं, कल्पना नहीं की जा सकती है।''

असमानता की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं। मनुष्यों की प्राकृतिक असमानताउनमें शारीरिक और बौद्धिक असमानता को जन्म देती है, जिसके कारण सामाजिकअंतःक्रिया में वे ऊंचे–ऊंचे स्थान प्राप्त करते हैं। धन–सम्पत्ति का स्वामित्व भीअसमानता को उत्पन्न करता है और विजय–पराजय का इतिहास भी। प्रकार्यात्मकआवश्यकताएं भी मनुष्यों की स्थितियों में अंतर पैदा करती हैं। गुण–कर्म के आधारपर भी समाज के सदस्यों का मूल्यांकन किया जाता है। समाज में प्रचलित आदर्शऔर उसमें रक्षा करने वाली अभिमतियां तथा इन अभिमतियों को समर्थन देने वालीशक्ति भी सामाजिक असमानता के स्रोत हैं। एक संस्कृति सामाजिक असमानताके स्रोतों का आधार है और स्वयं समाज भी अत्यन्त असमानताओं का स्रोत है।

संदर्भ :

- आंद्रे बिताई, इन इक्वलिटी एंड सोशल चेंज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1974
- आंद्रे बिताई, इनइक्वलिटी अमन मैन, बेसिल ब्लैकवेल, 1977.
- आन्द्रे मेनेफी सिंह एण्ड अल्फ्रेड डीसूजा , द अर्बन पुअर - स्लम एण्ड पावमेन्ट डवेलर्स इन द मेजर सिटी ऑफ इण्डिया , नई दिल्ली: मनोहर पब्लिकेशन , 1980.
- आस्कर लेविस, द कल्चर ऑफ पावर्टी, न्यूर्याक: बेसिक बुक्स, 1979.
- इलियट एण्ड मैरिल , सोशल डिसआर्गनाईजेशन , न्यूयार्क: हार्पर एण्ड ब्रदर्स , 1950.
- ई.आर.मावरर, डिसआर्गनाईजेशन:- पर्सनल एण्ड सोशल , न्यूयार्क: मैकमिलन एण्ड कम्पनी, 1942.
- कार्ल पिर्यसन, द ग्रामर ऑफ साइंस, लंदन: ए0 एण्ड सी0 ब्लैक, 1911.
- गिलिन एण्ड गिलिन , कल्चरल सोशियोलाजी , न्यूयार्क: द मैकमिलन एण्ड कम्पनी, 1950.
- डेनिस ई. पोपलिन, सोशल प्राब्लम, लन्दन: स्काट फोर्समैन एण्ड कं., 1978.
- डॉ0 संजयतिवारी, समाजशास्त्र तथा विकास, आई0एस0बी0एन0 - 978-93-82998-22-8, शिवांक प्रकाशन, दरिया गंज, नयी दिल्ली़वर्ष 2013.
- रूड डब्लू. ट्रेटीन , सिटीज इन क्राइसेस: डिके और रिन्यूअल ?, न्यूजर्सी: प्रिन्टिसहाल इन्क, 1970.

***

भारत में समाजवादी आन्दोलन का प्रारम्भिक चरण

डॉ. पंकज कुमार सिंह *

वैश्विक समाजवादी आन्दोलन ने अपने प्रारम्भिक काल से ही अपना लक्ष्य मानवता की समानता स्वतंत्रता और हर प्रकार के शोषण से मुक्ति को घोषित कर रखा है। यूरोप में समाजवादी आन्दोलन का विकास 18वीं सदी सेप्रारम्भ होकर 19वीं सदी में अपने चरम पर पहुँचता है परन्तु भारत में समाजवादी चिन्तन का विकास 20वीं शताब्दी में उन विचारकों के माध्यम से हुआ जो यूरोपीय विचारों के साथ–साथ मानवतावादी प्राचीन भारतीय विचारों से प्रभावित थे। प्रो. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा का मानना है कि–''भारत में समाजवाद का विकास जिस सन्दर्भ में हुआ वह यूरोपीय समाजवाद के सन्दर्भ से दो बातों में भिन्न था। भारत में समाजवाद का विकास सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना के रूप में ही नहीं हुआ, बल्कि वह क्रुर विदेशी साम्राज्यवाद के बन्धनों से राजनीतिक मुक्ति की एक विचारधारा के रूप में भी विकसित हुआ। दूसरे भारतीय समाजवादी चिन्तन के लिए यह भी आवश्यक था कि वह खेतिहर मजदूरों के उद्धार का भी सिद्धान्त और योजना प्रस्तुत करें।''[1]

यह सत्य है कि भारत में वर्तमान समाजवादी चिन्तन का विकास यूरोप से आया। परन्तु प्राचीन भारतीय परम्परा मे समाजवाद की मूल भावना के अनुरूप सिद्धान्तों को खोजा जा सकता है। ऋगवेद (10/191/12) मे कहा गया है–''सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मंनासि जायताम।'' 'अर्थात हमारे में संगति संवाद और सहमति हो।' इसी प्रकार उपनिषद में भी कहा गया है– 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।

सर्वेभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद दुःखभाग्भवेत।'

सभी व्यक्तियों के सुखी रहने की यह प्रार्थना प्राचीन भारतीय समाज के समाजवादी विचारों का उदाहरण है।[2] रामायण में रामराज्य की कल्पना की गयी है तो महाभारत के शांति पर्व में ऋतू से सत्य और सत्य से धर्म के विकास और अनुपालन के समय सभी मानवों की समानता का आदर्श माना जाता था।[3] बुद्ध और जैन तीर्थांकरों ने भी समाज के सभी व्यक्तियों के लिए मोक्ष और निर्वाण का मार्ग खोलकर सर्व समाज के कल्याण की कामना की मध्यकाल में सिद्ध साधकों और संतों की भक्ति की अविरल धारा ने सामाजिक जीवन में समानता और मानवीय सदाचार की पुष्टि की।[4] लेकिन आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण के दर्शन के रूप में समाजवाद भारत में पाश्चात्य प्रभाव से ही विकसित और लोकप्रिय हुआ।[5]

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान , हरिशचन्द्र पी. जी. कॉलेज, वाराणसी

आधुनिक समाजवादी विचारों की प्रथम झलक श्री अरविन्द के विचारों में मिलता है। 1893 में अरविन्द ने 'इन्दु प्रकाश' में पुरानों के बदले नये दीपक' शीर्षक के अन्तर्गत 7 लेख प्रकाशित कराये थे। जिसमे उन्होने कांग्रेस की मध्यवर्गीय मनोवृति की आलोचना की थी और सर्वहारा की दशा को सुधारने का आग्रह किया था।[6] लाला लाजपत राय ने समाजवाद और बोल्शेविकवाद पर लिखा साथ ही उन्होने 1920 में 'इण्डियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन का सभापतित्व भी किया। नवम्बर 1896 मे विवेकानन्द ने कहा कि –''मैं एक समाजवादी हूँ इसलिए नहीं कि मेरे विचार से यह एक सम्पूर्ण व्यवस्था है, बल्कि इसके लिए कि कुछ भी नहीं से थोड़ा भी भला होता है। अन्य व्यवस्थाओं का परीक्षण किया जा चुका है और वे अपर्याप्त सिद्ध हो चुके हैं। इस व्यवस्था को भी अजमा लें, यदि और कुछ नही तो कम से कम नयेपन के लिए ही। कोई एक ही व्यक्ति सुविधाओं या असुविधाओं का निरन्तर वहन करे इससे बेहतर है कि इसका पुनर्वितरण हो।[7]

बाद में डा. सम्पूर्णानन्द ने ''अद्वैत वेदान्ती समाजवाद'' या आध्यात्म मूलक समाजवाद की वकालत की। मानवेन्द्र नाथ राय ने इण्डिया इन ट्रांजिशन और इण्डियन प्रॉब्लम' नामक पुस्तकें लिखीं इसमें उन्होने कांग्रेस पर पूँजीपतियों के आधिपत्य की कड़ी आलोचना की तथा स्वतंत्रता के तीन आधार स्तम्भ– मानववाद, व्यक्तिवाद और विवेकवाद बताये।[9]

'1920 के दशक से ही राष्ट्रीय आन्दोलन में एक शक्तिशाली समाजवादी रूझान पैदा हुआ। शुरू के साम्यवादी समूहों, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस और समाजवादी विचार के बहुत से समुहों तथा व्यक्तियों ने विकास के उस बुजुर्आ दृष्टिकोण को गम्भीर चुनौती दी, जो राष्ट्रीय आन्दोलन का अंग बन चुका था।[10] इन्ही दौर में गाँधीजी नें भारतीय परिस्थितियों पर आधारित विचारधारा को विकसित किया। इसे 'सर्वोदय' कहते हैं जिसका अर्थ सबका उत्थान है। यह गाँधीवादी समाजवाद का सर्वाधिक उपयुक्त नाम है तथापि इसे मात्र समाजवाद कहना इस तथ्य की दृष्टि से गलत होगा कि इस शब्द को जिस रूप में पाश्चात्य जगत में समझा गया है उसमें वह समाहित नही है जो गांधी और उनके अनुयायियों ने इसमें भरना चाहा है। इसे स्पष्ट करते हुए सम्पूर्णानन्द कहते हैं– ''मै इस मान्यता के साथ कहना प्रारम्भ करूंगा कि नाम के रूप में भारतीय समाजवाद कोई बहुत अच्छा चयन नही है। – एक और नाम है सर्वोदय – इसका अर्थ है उदय, सबका विकास, किन्तु उदय शब्द का अभिप्राय केवल भौतिक समृद्धि के लिए नही बल्कि आध्यात्मिक कल्याण के लिए हैं।''[11]

गांधीजी समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता और सामाजिक श्राप के सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देना चाहते थे। वे न्यासिता के सिद्धान्त तथा अपरिग्रह के द्वारा आर्थिक विषमता को दूर करके सबको उन्नति के समान अवसर देने के पक्षधर थे। इस अर्थ में गांधीजी को सच्चा समाजवादी कहा जा सकता हे। हरिजन में गांधी जी ने लिखा है कि समाजवाद का विचार नवीन नही है यह बहुत प्राचीन सिद्धान्त है। हरिदत वेदालंकार का विचार है कि 'समाजवाद को यदि ऐसी नूतन सामाजिक व्यवस्था समझा जाए जो सब

व्यक्तियों को हर प्रकार से समानता देने वाली, प्रत्येक प्रकार के अन्याय अत्याचार और शोषण का विरोध करने वाली व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर तथा समाज के सभी वर्गों के अभ्युदय और उत्थान पर बल देनेवाली हो तो गांधीजी अवश्यमेव समाजवादी थे। किन्तु समाजवाद का अभिप्राय यदि क्रांति द्वारा पूंजीवाद का विध्वंस करके सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता स्थापित करना तथा उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण हो तो गांधीजी समाजवादी नहीं थे।''[12] स्वयं गांधीजी के शब्दो में– 'यदि समाजवाद का अर्थ दूसरों को मित्र बनाना है, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं को भी तो सच्चे समाजवादियों को समाजवाद मुझसे सीखना चाहिए, तभी हम मजदूरों और किसानों का सच्चा राज्य स्थापित कर सकते हैं।[13]

भारतीय समाजवादी आंदोलन को दिशा देनेवाले नेताओं में पण्डित जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस का योगदान उल्लेखनीय है ये दोनो नेता समाजवादी विचारों के प्रेरक बन गए जैसा कि विपिनचन्द्र ने लिखा है–''दूसरे दशक के अंतिम वर्षो और तीसरे दशक के दौरान भारत में एक शक्तिशाली वामपक्ष का उदय हुआ। समाजवादी विचारों ने भारत की धरती पर पैर जमाने शुरू कर दिए और समाजवाद भारतीय युवकों का मान्य विश्वास बन गया। जवाहर लाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस इस विश्वास की प्रेरणा के प्रतीक बन गए।''[14] जवाहरलाल नेहरू ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन को समाजवादी दृष्टि प्रदान की और 1929 के बाद भारत मे वे समाजवाद और समाजवादी विचारों के प्रतीक बन गए। यह विचार उनके नाम के साथ धीरे–धीरे जुड़ने लगा कि स्वतंत्रता की परिभाषा केवल राजनीतिक शब्दावली में नहीं की जा सकती बल्कि इसके साथ सामाजिक और आर्थिक अंतर्वस्तु का होना भी आवश्यक है।[15]

1920 में सक्रिय राजनीति में प्रवेश के साथ ही समाजवाद की ओर झुक गए थे। उनके विचारों की समाजवादी दिशा प्रदान करने में दो घटनाओं का महत्वपूर्ण योगदान था। प्रथम अवध का किसान आन्दोलन इसके सन्दर्भ में उनका कहना है– ''इस घटना ने मेरे चित को बहुत प्रभावित किया और यह घटना न होती तो मेरा किसानों के पास जाना और मेरे ऊपर उनका प्रभाव बिल्कुल अलग होता।''[16] दूसरी घटना 1927 के सोवियत यात्रा थी जिससे वो समाजवाद के प्रति और आकर्षित हुए थे। 1929 के लाहौर अधिवेशन मे अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने कहा– ''मैं स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हूँ कि मैं समाजवादी और लोकतंत्रवादी हूँ।''[17] 1928 में कांग्रेस के भीतर अन्य समाजवादी नेताओं के साथ नेहरू और बोस ने 'इन्डीपेन्डेन्स फॉर इण्डिया लीग का गठन किया। इसके दो लक्ष्य थे– एक तो पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य को आगे बढ़ाना और द्वितीय समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर एक व्यापक आर्थिक कार्यक्रम को लागू करना। 1936 के लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन मे नेहरू ने स्पष्ट रूप से कहा था– 'मुझे पक्का विश्वास हो चुका है कि विश्व की और भारत की समस्याओं के समाधान की एकमात्र कुंजी समाजवाद है।''[18]

इसी प्रकार सुभाषचन्द्र बोस ने फरवरी 1938 में हरिपुरा कांग्रेस मे अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा कि – ''समाजवाद हमलोगों के लिए तात्कालिक

समस्या नही है फिर भी समाजवाद के लिए आवष्यक है जिससे कि जब राजनीतिक स्वतंत्रता मिले तो देश समाजवाद के लिए तैयार रहे।

इस प्रकार से नेहरू और बोस दोनो भारतीय राष्ट्रीय कांगेस में समाजवादी विचारों व स्वतंत्रता आन्दोलन को एक साथ विकसित करने का प्रयास करते हैं। इसका परिणाम था 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना जो आगे चलकर भारतीय समाजवादी विचारधारा का ध्वजवाहक साबित हुआ।

संदर्भ :

1. डा. वी. पी. वर्मा – आधुनिक भारतीय चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा 2004 पृ. संख्या – 01
2. हरिदत्त वेदालंकार राजनीति की आधुनिक विचारधाराएं सरस्वती सदन दिल्ली 1996 पृ. 114
3. चन्द्रोदय दीक्षित – भरतीय समाजवादी आन्दोलन (1934–1984) कल्याण प्रिंटींग प्रेस लखनऊ, पृ. संख्या – 01
4. चन्द्रोदय दीक्षित – पूर्वोक्त – पृ. 2
5. वी. पी. वर्मा – पूर्वोक्त – पृ. 425
6. वी. पी. वर्मा – पूर्वोक्त – पृ. 582
7. चन्द्रोदय दीक्षित – पूर्वोक्त – पृ. 94
8. डा. सम्पूर्णानन्द – समाजवाद प्रकाशन विभाग म. गा. का. विद्यापीठ वाराणसी 1926 नृ. 322
9. वी. पी. वर्मा – पूर्वोक्त – पृ. 582
10. विपिन चन्द्र – भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय 2006 पृ.– 237
11. सम्पूर्णानन्द–इण्डियन सोशियोलिज्म, एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई 1961, पृ. – 1
12. हरिदत वेदालंकार – पूर्वोक्त पृ. – 320
13. तेन्दुलकर गाँधी (खण्ड – 8) एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई 1961 पृ.. 41
14. विपिन चंद्र – पृ. 233 (पूर्वोक्त)
15. वही पृ. – 234
16. जवाहरलाल नेहरू – विश्व इतिहास की झलक खण्ड–2 सस्ता साहित्य मजुल नई दिल्ली 1974 पृ. – 761–762
17. कांग्रेस प्रसीडेन्सियल एड्रेसेज (सम्पादित) खण्ड – 2 पृ. संख्या – 895–97
18. विपिन चन्द्र पूर्वोक्त – पृ. 236

***

''वैशेषिक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप''

रमेश चन्द्र *

न्यायवैशेषिक दर्शन में मोक्ष के विषय में विषद विवेचन किया गया है। महर्षि कणाद के अुनसार अदृष्ट के अभाव से कर्म का प्रवाह समाप्त हो जाता है तथा आत्मा का शरीरादि से सदा के लिए वियोग होता है। जीवन मरण का अन्त ही दुःखों से त्राण है। इसे मोक्ष कहते हैं, इसका प्रतिपादन वैशेषिक आचार्य महर्षि कणाद इस प्रकार करते हैं–

''तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।[1]

अर्थात् जब जीवात्मा विषयों को छोड़कर आत्मचिन्तन में निरत होकर योग या समाधि की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब वह सूक्ष्म शरीर से भी सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। उस समय रागद्वेष नष्ट हो जाते है और प्रारब्ध कर्मों का भी क्षय हो जाने से उसका फलभोग भी समाप्त हो जाता हैं तो पुर्नजन्म का भी कोई कारण नहीं रह जाता, तब शरीर त्यागने के बाद आत्मा मुक्त हो जाती है। इस प्रकार पुर्नजन्म समाप्त होना ही मोक्ष की अवस्था है।

न्याय दर्शन के आचार्य महर्षि गौतम ने भी मोक्ष को दुःख निवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। न्याय दर्शन के आचार्य महर्षि गौतम ने मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है– यथा–

''तदन्तरापायादपवर्गः।''[2]

अर्थात् दुःखों के आत्यन्तिक निवृत्ति को अपवर्ग माना गया है। महर्षि वात्स्यायन इसकी व्याख्या करते हुए भाष्य में बतलाते हैं कि तत्त्वज्ञान होने से मोह का नाश हो जाता है। मोह के नष्ट होने से वस्तुओं में आसक्ति समाप्त हो जाती है। यही विषय वैराग्य है जिसमें कर्म की ओर प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् मनुष्य कोई ऐसा कर्म नहीं करता है जिसके फल को भोगने के लिए पुनः शरीर धारण करना पड़े। प्रारब्ध कर्म का भोग से क्षय हो जाता है और तत्वज्ञान से संचित कर्म नष्ट होने से सभी दुःख निवृत्त हो जाता है। दुःख इक्कीस (21) प्रकार के है। अतः श्री केशव मिश्र कहते हैं कि मोक्ष इक्कीस (21) प्रकार के दुःखों से निवृत्ति है। यथा–

''स च एकविंशतिभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः।[3]

अर्थात्– 1 शरीर. 6 इन्द्रिय. 6 विषय 6 ज्ञान. सुख. दुःख इन सभी दुःखों के चरमध्वंस या सर्वथा अभाव का नाम मोक्ष है। केवल दुःखों का अभाव नहीं मोक्ष में सुख का भी अभाव है।

न तत्र लेशतोऽपि दुःखं वा सुखं।

---

* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी - 221005

अर्थात् जहाँ पर सुख और दुःख का अत्यन्ताभाव हो वहीं मोक्ष या अपवर्ग है। पुनः जिज्ञासा होती है कि यह आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति क्या है? इसका समाधान वैशेषिक दर्शन के आचार्य महर्षि कणाद इस प्रकार करते हैं।

आत्यन्तिकी दुःख की निवृत्ति ही मोक्ष है अर्थात् दुःख का चरम ध्वंस वह है जिसके बाद फिर कभी दुःख की उत्पत्ति ही न हो सके। इसी अवस्था का नाम निःश्रेयस या मुक्ति है।

अब पुनः जिज्ञासा होती है कि यह जो सभी दुःखों से सर्वदा के लिए छुटकारा प्रदान करने वाले आत्यन्तिकी दुःख निवृत्ति रूप निःश्रेयश या मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है? या किस साधन से मोक्ष होता है। समाधान करते हुए निःश्रेयश प्राप्ति के साधन के रूप में वैशेषिक दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य महर्षि कणाद ने इस प्रकार कहा है–

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।[4]

अर्थात् धर्मविशेष से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य ज्ञान से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति सम्भव है। षट् पदार्थों के तत्त्वज्ञान से आत्यन्तिकी दुःख की निवृत्ति होती है। अब प्रश्न उठता है कि तत्त्वज्ञान क्या है, और उसकी प्राप्ति कैसे होती है इसका समाधान करते हुए वैशेषिक दर्शन के व्याख्याकार आचार्य शंकर मिश्र कहते हैं–

''अशेषविशेषगुणध्वंसावधिकदुःखप्रागभावों वा मुक्तिः।[5]

अर्थात् पूर्वानुभवजनित वासना, राग, द्वेष आदि दोष षट् पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के वास्तविक ज्ञान से पूर्णत निवृत्त हो गये हो, साथ ही योगाभ्यास के द्वारा जब आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है, वह आत्मा के नित्य, शुद्ध सर्वत्रव्याप्त, सर्वज्ञ स्वरूप का प्रत्यक्ष होने के कारण मोक्ष को प्रदान करने वाला होता है। वस्तुतः वैशेषिक दर्शन के आचार्य के अनुसार मोक्ष के तीन प्रमुख साधन है, धर्मविशेष, पदार्थों के साधर्म्यवैधर्म्य ज्ञान से होने वाला तत्त्वज्ञान एवं योगाभ्यासजनित आत्मसाक्षात्कार।

मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है–

तदा निरोधात् निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति।[6]

अर्थात् शास्त्रज्ञानपूर्वक किये हुए फलेच्छारहित उत्कृष्ट धर्म से शुद्ध वंश में जन्म होता है, जिसमें उत्पन्न विवेकी पुरूष को प्रतिदिन दुःखों से पीड़ा होने के कारण किस प्रकार दुःखनिवृत्ति होगी? ऐसी जिज्ञासा होती है जिस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए वह तत्त्वज्ञानी आचार्य (गुरू) के पास जाकर उनके उपदेश से वैशेषिक दर्शन में कहे हुए सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों के संग्रह करने वाले षट् पदार्थों के साधर्म्य–वैधर्म्य ज्ञान से तत्त्वज्ञान को प्राप्त होता है, उस समय शरीरादि ग्रहण के बीजरूप धर्माधर्मरूप कर्मक्षय से

उत्पन्न शरीरादि की निवृत्ति होने पर तथा भविष्यत् जन्म के कारणों के अभाव से शरीरान्तर की उत्पत्ति न होने से दग्ध ईंधन वाले अग्नि के समान जन्म सभी कर्मों के शान्त हो जाने के कारण पुनः शरीर धारण न होने से अपवर्ग (मोक्ष) होता है।

---

[1] महर्षि कणाद, वैशेषिक सूत्र, सूत्र सं0 – 5/2/18 चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, तृतीय सं0– 2007

[2] महर्षि गौतम, न्यायसूत्र, सूत्र सं0 – 1/11/17 चौखम्भ विद्या भवन वाराणसी, प्रथम सं0–2012

[3] आचार्य केशव मिश्र, तर्कभाषा, पृष्ठ संख्या 80, भाण्डारकर ओरियेन्टक, रिसर्च इन्स्टिटयुट पुना, 1979

[4] महर्षि कणाद, वैशेषिकसूत्र, सूत्र, सं0– 1/1/4 चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, तृतीय सं0–2007

[5] आचार्य शंकर मिश्र, वैशेषिकसूत्रोपस्कार, पृ0 सं0–19 चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, तृतीय सं0–2007

[6] आचार्य प्रशस्तपाद, प्रशस्तपादभाष्य, प्रासंगिक संसारापवर्गप्रकरणम, पृ0 सं0–235 चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण–2011

***

संगीत और मनोवैज्ञानिक तत्व

डॉ. प्रमिति चौधरी *

कोरोना कॉल अभी समाप्त नहीं हुआ है परंतु इसका भयावह रूप हम समस्त मानव जाति ने देखा ऐसी स्थितियों की कल्पना मानव ने कभी नहीं की थी इस दर्दनाक और भयावह परिस्थिति में अपने आप को संभाल पाना हर इंसान के लिए बड़ी चुनौती रही है और स्वाभाविक रूप से बच्चों और युवाओं पर अत्यधिक मानसिक प्रभाव पड़ा है एक बार अपने घरों में बंद इंसान ने खुद को समेटकर एक सीमित दायरे में जीवन जीना सीखा इसी परिप्रेक्ष्य में देखें तो पहले अथवा आज भी परिवारों में जहां एक साथ कई पीढ़ी के लोग निवास करते हैं वहां हमारा जीवन दिन के प्रत्येक हिस्से को अलग प्रकार से अनुशासित था रोजमर्रा के जीवन में संगीत की आवश्यकता को देखते हुए ही घरों में सुबह शाम संगीतमय ईश्वर उपासना की जाती थी इस तरह प्रतिदिन की दिनचर्या में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान था।

एक समय था जब हमारे देश ने कला विज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्र में संपूर्ण विश्व का मार्गदर्शन किया था और उस समय समाज में नैतिक आदर्श विद्यमान थे हमारी शिक्षा का लक्ष्य आत्मोन्नतिथा परंतु दुर्भाग्यवश आज के यांत्रिक युग में मनुष्य मात्र एक उपभोक्ता के रूप में परिवर्तित होता जा रहा है।

एक चौंकाने वाला तथ्य यह है कि हमारे देश के उच्च तथा मध्यम वर्ग के 8 से 11 वर्ष के बच्चों में आत्महत्या करने की प्रवृत्ति एकाएक बढ़ गई है आज की सामाजिक विसंगतियों से जूझने में असमर्थ यह बच्चे अवसाद ग्रसित होकर आत्महत्या का रास्ता अपनाने लगे हैं सबसे बड़ी विडंबना तो यह है कि हम शिक्षक और अभिभावक उन्हें सही दिशा नहीं दिखा पा रहे हैं हम उन्हें एक स्वस्थ स्वाभाविक दिशा की ओर अग्रेषित करने में अक्षम है ऐसी सामाजिक अवस्था में हमारी सारी उपलब्धियां बेमानी हो जाती है।

---

* एसोसिएट प्रोफेसर संगीत, प्रयाग महिला विद्यापीठ डिग्री कॉलेज, प्रयागराज

आज के युग में जहां मानवीय मूल्यों का निरंतरह्रासहो रहा है ऐसी में संगीत के द्वारा मानव की उन सूक्ष्मा अनुभूतियों को उजागर कर इस भोगवादीसंसार को एक संवेदनशील संसार में बदला जा सकता है।

रवींद्रनाथटेगोरने कहा है–

" *Art is a spontaneous overflow of the inner most good feelings of man's heart."*

प्राचीन मनीषियों ने संगीत को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना है केवल संगीत को ही मोक्ष और साधना से तुलना करने के अवश्य ही कुछ गूढ कारण होंगे। इन पर आज वैज्ञानिक शोध की जरूरत है अभी तक तो संगीत के इन क्षेत्रों पर तथ्यात्मक शोध हुए ही नहीं, संगीत के शास्त्रपक्ष का विवेचन अभी बहुत कम हुआ है। भारतीय शास्त्रीय संगीत को अभी कुछ ही वर्ष हुए हैं कि इसे घरानों की चहारदिवारी से निकालकर जनसामान्य तक पहुँचाया गया है। हम भारतीय, हमारे पास जो धरोहर है उनका मूल्यांकन न करके पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण कर रहे हैं।

अभी तक संगीत के कुछ एक पहलू पर जो शोध (Reaseach) हुए हैं उनके कुछ चमत्कारिक परिणाम प्राप्त हुए हैं जैसे संगीत के द्वारा मनुष्य की विभिन्न शारीरिक और मानसिक रोगों का निदान किया जा रहा है कहा जाता है कि पं० ओंकारनाथ ठाकुर ने अपने गायन से मुसोलिनि की अनिद्रा (Insomnia) की बीमारी को दूर किया था। संगीत को तनाव कम करने का सर्वाधिक सक्षम साधन माना गया है। संगीत साधना में कई प्रकार की योग की क्रियाएं भी सम्पन्न होती हैं। मनुष्य ही नहीं बल्कि पेड़-पौधे, पशु-पक्षियों पर भी संगीत के अत्यन्त सकारात्मक प्रभाव पड़ते हैं।

बच्चों के विकास में संगीत की आवश्यकता को देखते हुए ही नर्सरी रिदिम (nursury rhyme) तथा विभिन्न प्रकार के पाठों को संगीतबद्ध करके सिखाने की प्रथा विश्व के सभी देशों में है तथा संगीत को आवश्यक या ऐच्छिक विषय के रूप में विद्यालय और विश्वविद्यालयीन स्तरों में भी प्रतिपादित किया गया है।

आजकल समाज में व्याप्त विभिन्न प्रकार की अराजकताओं का एक कारण यह भी है कि हम अत्यधिक भौतिकतावादी हो गये हैं। यहां तक कि शिक्षा का भी पूरी तरह से व्यवसायीकरण हो गया है। इंसान की समस्त

सफलता-विफलताओं का आंकलन रूपये-पैसे से ही किया जाता है, यह हमारे भोगवादी मानसिकता का परिणाम है।

आजकल के अभिभावक भी बच्चों की रूचि या प्रतिभा को न देखकर उन्हें उन विषयों को पढ़ने को बाध्य करते हैं जिससे आगे चलकर वे अधिक से अधिक पैसा कमा सके। स्वान्तः सुखाय' या 'Art for an Art' Sake जैसी मान्यताएं जिससे आत्मानन्द के लिए प्रयास का अध्ययन किया जाए. ऐसी धारणाए ही समाज से विलुप्त होती जा रही हैं। इन्हीं कारणों से आज मेधावी नौजवान कला की अपेक्षा विज्ञान, तकनीक एवं वाणिज्य लेकर ही पढ़ना चाहते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि एक स्वस्थ जीवन के लिए शारीरिक और भौतिक आवश्यकताओं से परे भी इंसान की कुछ मानसिक या भावनात्मक आवश्यकताएँ भी हैं। उदाहरण स्वरूप यदि हम आदि मानव का उदाहरण लें तो हम पाते है कि उसने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विज्ञान का प्रयोग करते हुए चाक बनाया, जिस पर उसने मिट्टी के बर्तन बनाएं जो उनकी आवश्यकता थी, बर्तन के तैयार होते ही हम कह सकते है उसकी आवश्यकता की पूर्ति हो गयी, लेकिन जब हम देखते है कि उसने फिर उस मिट्टी के बर्तन पर कलाकृति की तब हमें यह निष्कर्ष मिलता है कि उसकी शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के बाद भी उसे संतुष्टि नहीं मिलती जिसकी पूर्ति वह कलाओं के माध्यम से करता है। अतः हम कह सकते हैं कि जहाँ पर विज्ञान आकर रुकता है वहाँ से कला शुरू होती है। यदि हम केवल अपनी शारीरिक जरूरतों की पूर्ति तक ही सीमित रहे तो हममें और एक पशु में विशेष अन्तर नहीं रह जाता। इसी भाव की पुष्टि निम्न श्लोक द्वारा होती है - "साहित्य संगीत, कला विहीनः । साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः ।। कला ही मनुष्य को पशुता से ऊपर उठाकर मानव बनाता है या कह सकते हैं कि संगीत मानव को अधिक मानवीय बनाता है। इस संदर्भ में हम यह कह सकते हैं कि हमारे पूर्वजों की कला रूप धरोहर जिस पर कि हमारे आने वाली पीढ़ी का अधिकार है वह कला जो हमारी संस्कृति का परिचायक है उस कला रूपी संस्कृति को आगामी पीढ़ी को देना हमारा कर्तव्य है और यह कर्तव्य हम नहीं निभा पा रहे हैं और हमारी नयी पीढ़ी दिग्भ्रमित हो रही है। संगीत मनुष्य को विनम्र बनाता है और उसकी कल्पना शक्ति को पल्लवित करता है. इस प्रकार के गुणों को बच्चों में विकसित करने पर निश्चित रूप से बच्चों का बेहतर विकास हो सकेगा।

कला या संगीत का मानव के व्यक्तित्व पर प्रभाव के संदर्भ में डार्विन के विचार इस प्रकार हैं "

यदि मुझे यह जीवन दुबारा जीवित रहने को मिलता तो मैं कम से कम सप्ताह में एक बार कुछ कविता पढ़ने और संगीत सुनने का नियम बना लेता। यह इसलिए कि शायद मेरे मस्तिष्क के हिस्से जो अब स्फूर्ति शून्य, काम में लाते रहने से स्फूर्तिमय रखे जा सकते थे, इन इच्छाओं का अभाव सुखी जीवन को हानि पहुँचाता है और इससे भी अधिक हमारी भावुक प्रवृत्तियों को असंतुष्ट कर हमारे आदर्श चरित्र को भी हानि पहुंचा सकता है।"

अन्त में बच्चों के समुचित विकास के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि समाज में व्याप्त बुराईयों से बच्चों को दूर रखने के लिए उनमें आत्मबल पैदा करना है जोकि मेरे विचार से विभिन्न कलाओं से बच्चों को प्रशिक्षित कर उन्हें उनकी संस्कृति रूपी जड़ से जोड़कर किया जा सकता है। जिससे वे भौतिक आवश्यकताओं से परे कुछ और सोच सकें तथा जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण रखकर अपने व्यक्तित्व का सही ढंग से विकास कर सकें।

मेरे विचार से संगीत का सहारा लेकर बच्चों के व्यक्तित्व का निर्माण कर उनके जीवन को सुखमय बनाया जा सकता है।

संदर्भ :

1 ***संगीत पत्रिका अगस्त 2008***

2 ***भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान – डा० वसुधकुलकर्णी***

***

बदलते परिवेश में नारी शिक्षा

डॉ. विवेक कुमार यादव *

किसी भी राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास, उसके संरक्षण एवं संवर्द्धन में नारी शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। नारी ही ऐसे बालको के निर्माण में सक्षम होती है जो देश को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने मे समर्थ होते है। शिक्षित नारी समूह ही परिवार और समाज को सुसंस्कृत बनाती है।

प्राचीन भारत में नारी शिक्षा पर्याप्त थी। स्त्रियॉ न केवल वैदिक साहित्य का अध्ययन अनुशीलन करती थी अपितु मैत्रेयी, गार्गी, घाषा, लोपामुद्रा आदि महिलाओं ने वैदिक संहिताओं की रचना भी की थी।

स्त्रियों का उपनयन संस्कार पुरूष के समान कर उनको वैदिक ज्ञान भी प्रदान किया जाता था। जिज्ञासु स्त्रियॉ अपनी–अपनी अभिरूचि के अनुसार अभिलषित विषयों की शिक्षा प्राप्त करती थी। ऋग्ववेद से अनेक ऋषिकाओं की जानकारी प्राप्त होती है जिन्होने अनेक मंत्रों और ऋचाओं की रचना की थी। इस काल में शिक्षा मौखिक थी।

उत्तर वैदिक काल में भी स्त्री शिक्षित होती थी जैसे याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी इसी प्रकार की स्त्री थी। महाकाव्य काल तक आते–आते स्त्री शिक्षा के मूल्य एवं प्रतिमान बदल गये। पूर्व में उनकी जिस प्रकार का दखल वैदिक साहित्य एवं उच्च शिक्षा में था, अब वह नहीं रहा। उनका झुकाव अब व्यावहारिक शिक्षा की ओर ज्यादा होता गया। एक अदर्श माँ, बहन, पत्नी एवं कुशल गृहिणी के रूप में वह स्त्री कार्य करने लगी। इस समय की शिक्षित स्त्रियाँ कौशल्या, तारा, आत्रेयी, कैकेयी, सुलभा, आदि थी।

बौद्ध काल से उनकी वैदिक शिक्षा पर क्रमशः प्रतिबन्ध लगना प्रारम्भ हो गया तथापि बौद्ध संघ मे प्रवेश की अनुमति उन्हे मिल जाने के कारण जिस वर्ण की स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाती थी, वे बौद्ध शिक्षा–पद्धति के अन्तर्गत उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगी। वे धर्म एवं दर्शन की उच्च शिक्षा तथा विभिन्न शिल्पों, ललित कलाओं और अन्य उपयोगी विषयों की व्यवहारिक शिक्षा प्राप्त करती थी। मौर्यकालीन स्त्रियॉ भी शिक्षा–प्राप्ति मे दिलचस्पी रखती थी तथा अशोक के अभिलेखों से विदित होता है कि उसकी पुत्री संघमित्रा धर्म प्रसार हेतु सिंहल द्वीप गयी थी।

धीरे–धीरे द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 तक आते–आते उनका उपनयन संस्कार व्यवहारतः प्रतिबंधित हो गया और विवाह संस्कार को ही उनका उपनयन स्वीकार कर लिया गया। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि पति

---

* पूर्व शोध-छात्र, समाजशास्त्र म.गॉ. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन, पति की सेवा ही उसका आश्रम एवं गृहस्थी के कार्य ही उसके धार्मिक अनुष्ठान थे।

इस प्रकार ऋग्वैदिक काल से लेकर लगभग छठी शताब्दी तक विभिन्न विषयों की सामान्य एवं उच्च शिक्षा समय–समय पर स्त्रियॉ प्राप्त करती थीं। यद्यपि समय–समय पर स्त्री शिक्षा के मूल्य एवं प्रतिमान बदलते गये। शैक्षिक पाठ्यक्रमों में भी परिवर्तन होता रहा, तथापि स्त्री–शिक्षा की परम्परा बदलती रही शैक्षिक पाठ्यक्रमों में भी परिवर्तन होता रहा, तथापि स्त्री–शिक्षा की परम्परा बदलते परिवेश के अनुरूप सदैव बनी रही । इस कार्य मे ंपरिवार की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण रही।

मध्य काल में नारी शिक्षा में बहुत अधिक गिरावट देखने को मिली। जन साधारण की नारी शिक्षा लगभग समाप्त हो गयी थी थोड़ी बहुत उच्च राजघराने तक ही नारी शिक्षा रह गयी थी, मुसलमानों की सत्ता भारत में स्थापित हो जाने पर देश में हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही पर्दा प्रथा का बहुत अधिक प्रचलन हो गया तथा हिन्दुमत में बाल विवाह की प्रथा भी प्रचलित हो गयी। अतः अल्प आयु की कुछ बालिकाएं भले ही थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेती हो, लेकिन शिक्षा से तो वे वंचित रहती थीं। केवल राजघराने और धनी अमीरों के घरों पर ही व्यक्तिगत रूप से स्त्री शिक्षा का व्यवस्था थी, अन्यथा बालिकाओं के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। इसलिए रजिया बेगम, गुलबदन, नूरजहॉ, जहॉआरा, जुबुन्निसा, जीजावाई, अहिल्याबाई आदि बहुत थोड़ी–सी विदुषी महिलाएं ही इस युग में हुई। जन साधारण शिक्षा से पूर्ण रूपेण वंचित रहा।

मुसलिमयुग के पष्चात हमारे देश में अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित तो हुआ परन्तु कम्पनी को अपने यहां कार्यालय में शिक्षित महिलाओं की आवष्यकता न थी अतः नारी शिक्षा के प्रति उदासीनता दिखलाई पड़ती है। मुनर और एडम्स ने मद्रास व बंगाल के शिक्षालयों का जो वर्णन किया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वहां प्राथमिक विद्यालयों में केवल बालकों को ही शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा थी। स्त्री शिक्षा के लिए समाज में व्यक्तिगत प्रयास तो किये गये परन्तु असफलता ही हाथ लगी। इसी समय 1813 मे ंचार्टर एक्ट द्वारा कुछ ध्यान भारतीय शिक्षा पर देना ुषरू किया गया था। सन् 1854 में वुड्स डिस्पैच आने पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 'शिक्षा विकास कार्यक्रम' को मान्यता प्रदान की। इसमें विशेष रूप से महिलाओं की नौकरी तथा शिक्षा का उल्लेख मिलता है। उस समय लड़कियों के लिए अलग विद्यालय खोले गये। कुछ महिलाओं ने शिक्षण कार्य के लिए प्रशिक्षण प्राप्त किया। सन् 1882 से नारी शिक्षा के ऑकड़े व्यवस्थित रूप से एकत्रित किये जाने लगे। 1883 मे ंपहली बार दो भारतीय महिलाओं ने कालेज की परीक्षा पास की। इसी काल में लड़कियों की माध्यमिक शिक्षा तक की पढ़ाई की ओर ध्यान गया। साथ ही समाज सुधारकों की गतिविधियों के कारण लड़कियों को शिक्षा को बढ़ावा मिला।

फलतः मुम्बई प्रान्त में 'महाराष्ट्र महिला शिक्षा समिति' की स्थापना को एक महत्वूपर्ण घटना समझना चाहिए। इसी क्रम में स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजाराम मोहन राय, प्रोफेसर कर्वे, रमाबाई आदि के नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होने बालिका विद्यालयों की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान किया। लार्ड कर्जन ने नारी–शिक्षा की दशा मे सुधार करने की दृष्टि से आदर्श विद्यालयों की स्थापना पर जोर दिया और गवर्नमेन्ट रेजल्यूशन ऑन एजुकेशन पालिसी की सिफारिशों के अनुसार नारी–शिक्षा की प्रत्येक स्तर पर प्रगति करने की ओर ध्यान देने का प्रयास किया गया। न केवल प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों ने प्रगति की अपितु उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी कुछ प्रगति हुई। **एनीबेसेन्ट** द्वारा बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू गर्ल्स स्कूल की स्थापना की गयी तथा महर्षि कर्वे ने पूना में एस0एप0डी0टी0 इण्डियन वीमेन्स यूनिविर्सिटी की स्थापना की। अखिल भारतीय नारी संघ का निर्माण नारी संघ का निर्माण होने पर अखिल भारतीय नारी शिक्षा सम्मेलन का आयोजन कर स्त्रियों को विधि प्रकार की शिक्षा की अधिकारिणी होने की मॉग की गयी।

समाज सुधार एवं गांधी जी द्वारा संचालित आन्दोलन का भी कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि लड़कियों के प्रति माता–पिता के मन में समानता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। लड़कियों के विवाह की उम्र बढ़ने से भी महिला शिक्षा को बढ़ावा मिला। हर्टोग कमेटी रिपोर्ट की सिफारिशें–कि शिक्षा पर केवल पुरूष वर्ग ही अधिकार नहीं है बल्कि दोनो लिंगों का समान अधिकार है। दोनो की शिक्षा के विकास के लिए नई शिक्षा योजना का निर्माण बहुत जरूरी है। इस दौर में नारी शिक्षा की प्रगति हुई। प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा में प्रवेश की गति काफी बढ़ गयी थी।

सन् 1947 में भारत के स्वतंत्र हो जोने पर भारत सरकार ने नारी शिक्षा के विकास पर अत्यधिक ध्यान दिया । धीरे–धीरे विद्यालयों की संख्या बढ़ने के साथ बालिकाएं शिक्षित भी होने लगी थी। भारत के संविधान में स्त्रियों को पुरूषों की भॉति समान अधिकार दिया गया । साथ ही नारी शिक्षा पर विशेष बल देने के लिए अनेक समितियों तथा आयोगो की नियुक्ति की गयी। जैसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, माध्यमिक शिक्षा आयोग, श्रीमती हंसा मेहता समिति, स्त्री शिक्षा तथा शिक्षा आयोग, राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा समिति , स्त्री शिक्षा तथा जनार्दन समिति, इन समितियों के द्वारा स्त्री शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर सुधार वर्तमान समय में किया गया है।

पंचवर्षीय योजनाओं में महिला साक्षरता पर विशेष जोर दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में पर्यापत विकास तो हुआ, परन्तु अभी शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों की महिला साक्षरता में बहुत अंतर है। साथ ही अनुसूचित जाति तथा जन जातियों में महिला साक्षरता बहुत कम है। जिसके लिए वर्तमान समय में भारत सरकार द्वारा कई विद्यालय एवं विष्वविद्यालय

खोले गये है। साथ ही निजी क्षेत्रों में कई विद्यालय एवं विष्वविद्यालय खोले गये है जो महिला साक्षरता को धीरे–धीरे काफी बढ़ा रहे है। यह भी देखने में आता है कि बालिकाएं परम्परागत तथा तकनीकी दोनो तरह की शिक्षा ग्रहण करने में काफी आगे बढ़ रही है। आज महिलाएँ हर क्षेत्र में अपना योगदान दे रही है जैसे शिक्षा, राजनीतिक, तकनीकि, वैज्ञानिक, खेल आदि।

आज की नारी राजनीति, प्रशासन, उद्योग, व्यवसाय, विज्ञान–प्रौद्योगिकी, फिल्म, संगीत, साहित्य, मीडिया, चिकित्सा, इंजीनियरिंग वकालत, कला–साहित्य, शिक्षा, आई.टी., खेलकूद, सैन्य से लेकर अंतरिक्ष तक पहुंची है। जैसे इन्दिरा गॉधी, सरोजनी नायडू, कलपना चावला, सुनीता विलियम्स, पीटी0 ऊषा, किरण वेदी, मेधा पाटेकर, सायना नेहवाल, संतोष यादव, सानिया मिर्जा, अरूणा राय आदि ।

परन्तु आज भी हमारा देश अशिक्षा के अन्धकार से पूरी तरह से उभर नहीं सकता है। भारतीय जनता शिक्षा के सांस्कृतिक व समाजिक महत्व को समझती ही नहीं है। अतः अधिकांश देशवासी बालक–बालिकाओं की शिक्षा को निरर्थक व समय पर अपव्यय समझते है। यह भी मान्यता है कि शिक्षा तो केवल व्यवसायिक या राजनीतिक लाभ के लिए ही ग्रहण की जाती है और इस दृष्टि से बालकों को ही शिक्षित करना उचित है, क्योकि लड़कियों को तो विवाह के उपरान्त घर गृहस्थी के काम में फंस जाना पड़ेगा। अतः उन्हें पढ़ाने–लिखाने से कोई लाभ नहीं है। स्त्री शिक्षा के विकास में यह दृष्टिकोण अत्यन्त घातक है। यदि अभिभाविकों को भलीभॉति समझाया जाए कि शिक्षा का उद्देश्य केवल नौकरी व राजपद प्राप्त करना नहीं है अपितु शिक्षा द्वारा बालिकाओं के व्यक्तित्व का समुचित विकास भी होता है तथा वह इससे कुशल गृहिणी बनेगी, तो लोग नारी शिक्षा के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण नहीं रखेगें।

हमारे देश मे अधिकांश जनता ग्रामीण क्षेत्र में अविकसित दशा में है तथा वहॉ जीवन की अनिवार्य आवष्यकताएं भी सुलभ नहीं है। ऐसे स्थानों में न केवल विद्यालय ही उपलब्ध नहीं है बल्कि वहॉ पर माता–पिता बालक की शिक्षा पर ही व्यय नहीं कर सकते तो बालिकाओं की शिक्षा पर धन कहॉ से जुटा पायेगें। इस तरफ हमारी सरकार का ध्यान जाना चाहिए और धन की व्यवस्था और कार्यक्रम का आयोजन करना चाहिए। सरकार वर्तमान समय में आपरेशन ब्लैकबोर्ड, छात्रावास योजना, अनौपचारिक बालिका शिक्षा केन्द्र, नवोदय विद्यालय में लड़कियों की शिक्षा, महिला साक्षरता अभियान, महिला उच्च शिक्षा, महिला अध्ययन, यूनिसेफ महिला श्रमिक विद्यापीठ, नारी शिक्षा एवं राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् आदि भावी योजनाएँ भारत सरकार बना रखी है। हमारे देश की जनता भी धीरे–धीरे जागृति हो रही है जिससे नारी शिक्षा का वर्तमान समय में काफी विकास सम्भव हो रहा है। आज की स्त्री स्वयं अपना निर्णय लेने में सक्षम है और अपने पैरो पर खड़ी होकर स्वावलंबी जीवन व्यतीत करना चाह रही है। वर्तमान समय में

ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जहॉ पर महिलाओं की भागीदारी नहीं है। नारी शिक्षा के दृष्टिकोण में भी समय के साथ परिवर्तन हो रहे है। इस बदलाव को समाज ग्रहण कर रहा है और नारी शिक्षा का विकास दिनोदिन बढ़ता ही जा रहा है।

संदर्भ :

01. एस0के0 दास : 'एजुकेशन सिस्टम आफ दि एन्सियेन्ट हिन्दूज', कलकत्ता प्रकाशन, 1930
02. मुंशी राजा : 'शिक्षा का इतिहास' (स्वतंत्रता पूर्व) मीरा पब्लिकेशन, दिल्ली, 2008
03. मंजु शुक्ला : 'महिला साक्षरता एवं सशक्तिकरण' भारत प्रकाशन, लखनऊ, 2011
04. प्रेम नारायण शर्मा : 'महिला सशक्तीकरण एवं समग्र विकास' भारत बुक सेन्टर, लखनऊ, 2008
05. के0 महादेवन : 'विमेन एण्ड पापुलेशन डायनमिक्स', सेज पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली
06. जे0पी0 सिंह : 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन', 2016

***

बौद्धवाङ्मय में प्राचीन भारत के राजा और राज्य

*रोशन राज**

हीनयान और महायान–इन दोनो ही पंथ के प्रसिद्ध ग्रन्थों में भारतीय राजतंत्र का ही विशेष रूप से गौरव गान हुआ है। परन्तु हमें इस वास्तविकता को भी समझना होगा कि बुद्ध के अवतरण के पूर्व से लेकर उनके निर्वाण काल तक पूर्वी भारत मे अनेक छोटे–छोटे पर शक्तिशाली गणराज्यों का अस्तित्व बरकरार था। वैशाली का वज्जिगणतंत्र अपनी स्थायी एकता और प्रशासनिक दक्षता को लेकर पूरे देश में चरम लोकप्रियता को प्राप्त कर गया था। शाक्य गणराज्य और इसी के पड़ोस में आबाद हुए छोटे छोटे गणराज्य भी अपनी एक अलग पहचान बनाये हुए थे। कुशीनगर एवं पावा के मल्ल भी अपनी गणतांत्रिक व्यवस्था के प्रबल हिमायती कहे जाते थे। ये गणतांत्रिक व्यवस्था वाले सभी राज्य संकट के समय एक दूसरे का साथ देने से पीछे नहीं थे। परन्तु मगध साम्राज्य की बागडोर जैसे ही अजातशत्रु के हाथो में आयी–पूरी की पूरी तस्वीर ही बदल गयी। भारतीय इतिहास का यह कालखण्ड साम्राज्यवादी रूझान वाला था। राज्य की सीमाओं में अपेक्षित विस्तार के होने से ही राजाओं के प्रताप का प्रमाण मिल सकता था। मगध के पड़ोस में वज्जिगणतंत्र की सत्ता को चुनौती देना किसी के लिए सहज नहीं रह गया था। इन दोनों की शक्तिशाली राज्यों के बीच सीमा का निर्धारण करने वाली एक मात्र गंगा नदी ही थी। बौद्ध संदर्भो ं में अजातशत्रु को ''वेदेहि पुत्तो'' कहा गया है। वज्जि गणराज्य के प्रधान सीह सेनापति की नौ में से एक पुत्री चेल्लना का विवाह मगध सम्राट बिम्बिसार से हुआ था। अजातशत्रु इसी विवाह का प्रतिफल था। इस तरह मगध को जहाँ उसका उत्तराधिकारी मिला वहीं वज्जिगणतंत्र का मूलोच्छेद कर देने वाला एक प्रबल शत्रु।

अजातशत्रु के मन–मस्तिष्क पर सत्ता और साम्राज्य विस्तार का नशा कुछ इस तरह से छाया कि वह इसके आगे रक्त सम्बन्ध को भी मूल गया। बौद्ध ग्रन्थों में मगध और वज्जिगणतंत्र के बीच छिड़े संघर्ष के मूल कारण क्या थे इसे थोड़े विस्तार के साथ परिभाषित किया गया है। जैनग्रन्थों में भी कुछ इसी तरह का संकेत किया गया है। यह भारतीय इतिहास की कड़वी सच्चाई है कि वज्जि गणतंत्र का पतन होते ही शेष बचे गणराज्य भी मगध की साम्राव्यवादी नीति का शिकार बनने से अपने आप को रोक नहीं पाये। परिस्थितियाँ चाहे जैसी भी रही हों गणराज्यों की शासन पद्धति की अपनी एक अलग ही विशेषता थी। यहाँ अभिव्यक्ति की एक सीमा तक स्वतंत्रता तो थी ही; इसके अतिरिक्त शासन की लोकोपयोगी

* गवेषक, इतिहास विभाग, भू.ना. विश्वविद्यालय, मधेपुरा, बिहार

छवि को गढ़ने का भी लगातार प्रयास किया जा रहा था। यहाँ का प्रत्येक नागरिक अपने स्वाभिमान और गरिमा की सुरक्षा को लेकर एक तरह से निश्चिन्त हो गया था। हठात् किसी का उत्पीड़न, प्रताड़ना एवं भयदोहन वाली नीति का परित्याग कर देने में गणराज्य अपने समय से आगे थे। प्रत्येक नागरिक को बगैर किसी भेदभाव के न्याय पाने का नैसर्गिक अधिकार था। वज्जि और मल्ल–ये दोनों अपने समय के प्रसिद्ध महाजनपद कहे जाते थे। यह कथन हीं ज्यादा समीचीन है कि अपनी बेमिशाल एकता एव लोकोपकारी नीतियों को लगातार प्रश्रय देते रहने के कारण ये गणराज्य अपने समय के अमिट हस्ताक्षर बन गये थे। बुद्ध जैसा वीतरागी जन भी इन गणराज्यों की आपसी समझ और साथ ही एक दूसरे को साथ लेकर चलते रहने की जो प्रबल भावना थी उसकी प्रशंसा मुक्तकंठ से किया करते थे। बौद्ध संघ का जो संवैधानिक ढाँचा बनकर तैयार हुआ था उसकी मूल प्रेरणा कहीं न कहीं इन्हीं गणराज्यों से ग्रहण की गयी थी।

बौद्ध राजा और राज्य के अस्तित्व में आने के मूल कारणों का अत्यन्त ही सारगर्भित विचार करते हैं। माना यही गया है कि जब राजा और राज्य–ये दोनों ही नहीं थे तो लोग कहीं ज्यादा खुशहाल थे। इनके बीच समानता के आधार पर जीने की ललक विद्यमान थी। परन्तु यह स्थिति ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रह सकी। अराजकता छाने से एक आदमी दूसरे के खिलाफ होने लगा यह एक तरह से सामाजिक समरसता के क्षरण का काल था। यह संकट कैसे दूर हो–एतदर्थ लोग एकजुट होने लगे। बौद्ध ग्रन्थों में इससे सम्बन्धित जो प्राचीन गाथा निबद्ध है उसका सारसंक्षेप यही है कि पृथ्वी के रस को निचोड़ने में लगे लोगों के बीच जब अतिशय लोभ बढ़ा तो प्रच्छन्न रूप से अधिकार स्थापित करने का संघर्ष छिड़ गया। मनुष्य ही मनुष्य का विरोधी बनता जा रहा था। किसी को उसके नैसर्गिक अधिकार से वंचित कैसे किया जाय–मात्र यही सोच समाज में पनपने लगी थी। धीरे–धीरे समाज की एक ऐसी छवि बनती जा रही थी जिसका आधार ही झूठ, फरेब, मक्कारी एवं नैतिक पतन पर टिका हुआ था। इसमें सुधार की दूर–दूर तक कोई गुंजाइश नहीं बची थी। यह माहौल प्रकृति के असंतुलन को बढ़ाने वाला था। एक दूसरा चक्र बेइमानी और भीतरघात का था जिसके कारण प्रकृति का पूरा तंत्र ही विपरीतधर्मी दिखाई देने लगा। शालि जो कभी जीवन का आधार हुआ करता था अपनी पोषकता तेजी से खोने लगा। अधिकार के लिए जोर आजमाइश और दबदबा कायम करने की होड़ सी मचने लगी। भूमि के ऊपर स्वामित्त्व की स्थापना का एक दूसरा भयावह चरण शुरू हुआ। यह वही भूमि थी जिस पर कभी शालि स्वतः उग कर मानव जीवन के लिए पोषाहार का काम कर रहा था। क्षेत्र अर्थात् भूमि का विभाजन और पुनः उसकी सीमाओं का निर्धारण–ये सम्पत्ति अधिकार के दो ऐसे मुद्दे थे जिन्हें लेकर आम सहमति बनने में ज्यादा देर नहीं हुई। यह क्षेत्र तुम्हारा हुआ और यह मेरा–इसका मापन कराने के पीछे आश्वस्ति

का भाव रहा है। शालि क्षेत्र अर्थात् भूमि के ऊपर अपने–अपने स्वामित्त्व को प्रमाणित करने का यह शुरूआती दौर था। परन्तु समझौते का यह जो पहला प्रयोग था वह स्थायी सिद्ध नहीं हुआ। एक का हिस्सा दूसरा हड़पने लगा। स्पष्टतः छीनाझपटी से भरे व्यवहार का सिलसिला जब शुरू हुआ तो इसी की रोकथाम के लिए दण्ड का विधान लागू किया गया।[1] यह राज्य के गठन के पूर्व की प्राकृतिक अवस्था थी जिसका लोप होते ही इस संसार में तीन तरह के पाप अर्थात् अकुशलधर्म एक–एक करके उत्पन्न होने लगे। बिना दिये किसी दूसरे की वस्तु को बलात् या बगैर पूछे ले लेना,मिथ्यावाचन और अनुचित बल प्रयोग–ये सामाजिक अधःपतन के मूल कारण बनते जा रहे थे।[2] यह विकराल बन गयी स्थिति जब नियंत्रण से बाहर होने लगी तो लोगों ने इससे मुक्त होने की संभावनाओं पर विचार करना शुरू किया । पूरे मानव समुदाय के लिए जो खतरा बन बैठे थे उन्हें कैसे रोका जाय–यही समय की मांग थी। शालि क्षेत्र के ऊपर अथवा किसी और के ऊपर हमारा जो अधिकार है–उसकी रक्षा करने कौन आयेगा–इसे लेकर पूरा का पूरा जनसमुदाय गभीर चिन्तन में लगा हुआ था। अंततः इसका यही निष्कर्ष निकला कि जिसके कंधे पर लोक रक्षा का गुरूतर भार होगा उसे ही जन समूह के बीच अग्रस्थान दिया जायेगा। यह चाहे जो भी हो लोक रक्षा के लिए प्रतिबद्ध होने पर उसे शालि भाग प्राप्त करने का अधिकार होगा। चूँकि जन–जन की गंभीर मंत्रणा के फलस्वरूप इस तरह की नीति का आगाज हुआ था, अतः इससे बंधा हुआ व्यक्ति लोक रक्षा के लिए संकल्पित होने के बाद ''महासम्मत'' कहलाया। उसे अविच्छिन्न रूप से शालि भाग मिल रहा था–इस नाते वह राजा कहलाया। कुछ समय बाद जब यह पद आनुवंशिक हो गया तो राजा का चयन करते समय माता–पिता के अनुमोदन के अतिरिक्त निगम–जानपद की राय भी वांछनीय समझी गयी।[3] राजस्व की इस प्राकृतिक अवस्था का चित्रण दीधनिकाय के अगम्य सुत्त में भी किया गया है।[4] दूसरी ओर महाभारत के शान्तिपर्व और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राजा एवं राज्य के अस्तित्व में आने का यही मिथक जोड़ा गया है। जैनाचार्यों का मत भी इससे अलग नहीं है। बौद्धों ने जिस आदर्श राज्य की कल्पना की है थोड़े से भेद के साथ उसी का विस्तार महाभारत के 58वें और 67वें अध्याय में देखा जा सकता है। ये दोनों ही विवरण एक जैसे हैं।[5] यूनानी दार्शनिकों ने भी राज्य की प्राकृतिक अवस्था और आदर्श राजा के स्वरूप का जैसा विचार किया है– वह भारतीय चिन्तकों की अवधारणा से ज्यादा भिन्न नहीं है । यह सुविचारित मत है कि राजाओं की अतिशय महत्वाकांक्षा ही युद्ध की स्थिति को उत्पन्न करती रही है। भारतीय राजतंत्र की प्रकृति यद्यपि निरंकुश थी फिर भी इसके भीतर सीमित विकेन्द्रीकरण नीति को सर्वथा अमान्य घोषित नहीं किया गया था। नगर, ग्राम एवं निगम के शासन कि लिए जनप्रतिनिधि को अधिकृत किया गया था। बौद्ध मानते हैं कि हितैषी और जनप्रिय राजा के होने से ही राज्य के बने रहने

का औचित्य सिद्ध होता है। प्रजा की समृद्धि और उसके सुख का द्वार यहीं से खुलता है। धर्म की वृद्धि का भी यही मूलमंत्र है। प्राचीन बौद्ध संदर्भों को देखने से यही लगता है कि राजपद के लिए क्षत्रियों को ही सर्वथा उपयुक्त समझा गया था। यहाँ इस तथ्य का विवेचन आवश्यक है कि बौद्धों का ज्यादा ध्यान कुलीनता और रक्तशुद्धि पर ही केन्द्रित रहा है। आगम ग्रन्थों में की गयी इस टिप्पणी का विशेष महत्त्व है कि क्षत्रिय समुदाय अपने से भिन्न किसी व्यक्ति को सिंहासनासीन होते हुए नहीं देख सकता था। इस तरह की हठवादिता के पीछे यही भावना काम कर रही थी कि क्षत्रिय माता पिता की संतान को ही राज्य का वैध उत्तराधिकारी घोषित किया जाना न्यायोचित कहा जायेगा। यह सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता इतनी ज्यादा मजबूत थी कि क्षत्रिय किसी भी तरह का कोई समझौता या फेरबदल की मनःस्थिति में दिखाई नहीं दे रहे थे।

भारतीय राजतंत्र अपनी बहुतेरी विशेषताओं के लिए जाना जाता है। वैदिक ग्रन्थों में उद्धृत राजा, सम्राट, एकराट और अधिराज प्रभृति शब्द राजपद की मर्यादा और उसके विस्तार के सूचक हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं बारह तो कहीं तेरह तरह के सम्राटों की महत्ता का निरूपण हुआ है।[6] चक्रवर्ती पद का विशेष मानवर्द्धन हुआ है। प्राचीन भारत में शासन का जैसा स्वरूप था उसी के तहत राजाओं का वर्गीकरण किया जा रहा था। पाणिनि के अनुसार सार्वभौम उस राजा को कहते थे जिसका आधिपत्य सम्पूर्ण पृथिवी पर स्थापित था और इस नाते वह इसका पति या स्वामी कहा जाता था। अमरकोश की शब्द सूची में राजा, पार्थिव, क्षमाभृत, नृप, भूप एवं महीक्षित– ये सब के सब एक दूसरे के पर्याय कहे गये हैं। इनका सामान्य अर्थ है शासक किन्तु वह शासक या राजा जिसके सामने सभी सामन्त नतमस्तक होते हुए देखे जाँय । यही अधीश्वर या सार्वभौम राजा का महनीय व्यक्तित्व है और इस तरह अंतिम ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय कहे गये हैं। क्षीरस्वामी के इस कथन में थोड़ा दम है कि चक्रवर्ती राजा वहीं हुआ जो राजाओं के चक्र या वृत्त के ऊपर राज्य करता है अथवा जिसकी आज्ञा राजाओं के मण्डल के ऊपर प्रभावी ढंग से काम करती है। चक्रवर्ती शब्द सार्वभौम शब्द के बाद आया है; इसीलिए यह प्राचीन भी है। नानाघाट अभिलेख में अप्रतिहत चक्रम् (चक्रस्य) शब्द आया है। खारवेल ने कभी स्वयं को सुप्रवृत्त विजयचक्र तथा प्रवृत्तचक्र कहा था। इसी से प्रेरित होकर उसकी पत्नी उसे कलिंग चक्रवर्ती कहती हुई नजर आती है। कौटिल्य के कथन को प्रमाण मानें तो चक्रवर्ती राज्य की सीमा समुद्र से लेकर उत्तर में हिमालय तक सीधी पंक्ति में एक सहस्र योजन तक लम्बी होती है। उन्होंने चतुरन्तो राजा अर्थात् पृथिवी की चारों ही दिशाओं के राजा के जिस स्वरूप का विचार किया है उसका असली मकसद यही है। वास्तव में चक्रवर्ती का यह जो आदर्श था वहीं सबके सामने उपस्थित था। किन्तु यह पद आसानी से मिलने वाला नहीं था । एतदर्थ राजाओं के बीच एक

ऐसी प्रतिस्पर्द्धा छिड़ी रहती थी कि जिसका दूर–दूर तक कोई अंत दिखाई नहीं दे रहा था।[7]

बौद्धों के लिए चक्रवर्ती पद की महनीयता सर्वोपरि कही गयी है। जिस राज्य की सत्ता क्षत्रियों के अधीन थी वहीं के लिए इस पद के बने रहने का कोई निहितार्थ निकल सकता था। उत्तराधिकार के पारम्परिक स्वरूप को लेकर बौद्ध भी असहमत दिखाई नहीं देते। राजा का ज्येष्ठ पुत्र राज्य का अधिकारी होता था पर वह यदि न हो तो निकट के सम्बन्धियों में किसी एक को–जैसे भाई, भतीजा, भगिनेय या दौहित्र को राज्य की कमान सौंपी जा सकती थी।[8]

बौद्ध वाङ्गमय में जिस तरह की परिस्थितियों का चित्रण है उससे यही संकेत मिलता है कि भारत कभी भी राजनैतिक दृष्टि से एक नहीं था। महाजनपद युग के माहौल को देखें तो यह एक तरह से सुव्यवस्थित स्वतन्त्र राज्यों मे विभक्त शासन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में जाना–पहचाना जाता था। राष्ट्र अर्थात् राज्य के स्वरूप का निर्माण ग्राम, नगर निगम और जनपदों के मेल से हुआ करता था। इनके बीच जो नगर था वह निर्माण की परिष्कृत और बहुत हद तक वैज्ञानिक योजना से जुड़ा होता था जिसे कुछ समय बाद राजधानी के रूप में परिवर्तित होने का सुयोग प्राप्त हो जाता था। यहीं से पूरे राष्ट्र के शासन को गतिमान बनाया जा रहा था। सर्वाधिक चर्चा काशी राष्ट्र और इसकी राजधानी वाराणसी की हुई है। अन्य मशहूर राज्यों की राजधानी के रूप में विदेह की मिथिला, कोशल की श्रावस्ती, गंधार की तक्षशिला, मगध की राजगृह, काम्पिल्य की पाँचाल नगरी, कुरूओं की इन्द्रप्रस्थ, मल्लों की कुशावती और शिवि के अरिट्ठपुर आदि के नाम शामिल हैं।[9]

महायान के कतिपय ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य बोधिसत्त्व और उनके शौर्य का महिमामण्डन करना ही ज्ञात होता है। वे जब राजा बने तो चारों ही द्वीपों पर अपनी विजय पत्ताका फहराने में सफल हुए थे। इसके बाद ही उनके नाम के आगे चक्रवर्ती जैसी उपाधि के जुड़ जाने का संयोग बन पाया था। पुनश्च ये सात तरह के रत्नों के स्वामी थे। धर्मपथ पर आरूढ़ होकर शासन चलाना ही उनके जीवन का परम लक्ष्य हुआ करता था।[10] इनके हजार पुत्र थे और ये सब के सब शत्रु का मानमर्दन कर देने में सक्षम थे। बौद्धों के अनुसार चक्रवर्ती राजा के शासन का मूलाधार केवल धर्म के सिवाय कुछ और नहीं था। प्रजा की उपेक्षा न हो और लोकहित के निमित्त कार्य लगातार जारी रहे–यही उनके शासन का मूलमंत्र था। भारतीय राजतंत्र के साथ यह मान्यता शुरू से ही जुड़ी हुई दिखाई देती है कि राजा केवल प्राणियों का पालनहार ही नहीं है, वह उनका पथ प्रदर्शक भी है। उसका आचरण और जीवन दर्शन लोगों के लिए प्रेरणा का काम करता है। ये बोधिसत्त्व ही थे जिन्होंने लोगों से दस प्रकार के कुशलधर्म में निरत रहने की अपनी अपेक्षायें प्रकट की थी।[11] उनकी करूणा से प्राणियों का

कल्याण हो रहा था। उनके महल के आगे सोने की ढेर लगी थी। यह घोषणा करायी गयी थी कि अभाव से टूट कर बिखर जाने वाले एवं तरह तरह के व्याघातों को झेलने वाले जितने भी लोग हैं वे इस धन को ले जायें क्योंकि यह धर्माचरण द्वारा अर्जित है किसी दूसरे मार्ग द्वारा नहीं।[12]

कौटिल्य (12.1) तीन तरह के आक्रामक राजाओं की प्रकृति का विचार करते हुए देखे गये हैं: (1)धर्म विजयी (जो केवल अपनी अधीनता स्वीकार कराकर सन्तुष्ट हो जाता है) (2) लोम विजयी (जो कर और भूमि पाकर सन्तुष्ट हो जाता है) (3)असुर विजयी (जो कर और भूमि लेने के बाद भी विजित देश के राजाओं के पुत्रों, पत्नियों एवं प्राणों तक का हरण कर लेते हैं)। सोमदेव के नीतिवाक्यामृत में भी राजाओं की इसी प्रकृति का विचार हुआ है। माना यही जाता है कि प्रथम एवं द्वितीय कोटि के विजित राष्ट्रों के शासन पर विजयी राष्ट्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उनकी व्यवस्थायें,संस्थायें एवं शासन विधि अपरिवर्तनीय ही रहती है। कलिंग यद्ध के दारूण दृश्य को देखने के बाद ही मौर्य सम्राट अशोक धर्मविजय की महत्ता को ठीक से समझा पाये थे। भारतीय राजतंत्र के इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जब धर्म विजय को ही राजाओं ने अपने साम्राज्य विस्तार का अमोध अस्त्र मानकर इसी का अवलम्बन करना शुरू कर दिया था।[13] प्राचीन भारत के सामाजिक ताने बाने में धर्म एक तरह से मुख्य घटक के रूप में विराजमान रहा है। राजा को भी इस दृष्टि से अपवाद नहीं कहा जा सकता। इसका एहसास प्रायः सबको था कि शासन में यदि धर्म उपेक्षित हो गया तो इसके भीतर जितने तरह के अनर्थ और उपद्रव पैदा होंगे उन्हें रोक पाना अत्यन्त ही कठिन हो जायेगा। धर्म से बढ़ कर कुछ दूसरा श्रेष्ठ नहीं है। इसी के दम पर निर्बल भी सबल के ऊपर अपना अधिकार जमा लेता हे। जो धर्म है वही सत्य है। अर्थात् धर्म और सत्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उपनिषद् का यही आदर्श वाक्य कभी भारतीय राजतंत्र का मूलाधार बना था।[14] स्मृतियों, नीतिग्रन्थों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्त हमारी इसी धारणा की पुष्टि करता है। शासन की विधियाँ चाहे जैसी भी क्यों न रही हों धर्म का साथ जब तक रहा राज्य की स्थिरता पर कभी कोई आँच नहीं आयी । तात्पर्य यह कि धर्म का त्याग करके आरोपित किया गया दण्ड राज्य को अराजकता एवं दुराचार के भंवर में फंसा कर उसकी अस्मिता को ही नष्ट कर देता है।[15]

बौद्धों के अनुसार धर्माचरण के द्वारा ही चक्रवर्ती पद को कभी इस देश के राजाओं ने प्राप्त किया था। ये सात तरह के जितने रतन हैं वे भी अचानक किसी को प्राप्त नहीं होते। मनुष्यों में जो श्रेष्ठ और दृढ़ पराक्रम वाला हे उसे ही ये प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यही कि चक्रवर्ती राजा में ही ये गुण होते हैं। वह अनासक्त भाव से दान देता है। उसकी सत्ता को चुनौती देने का दमखम किसी और में नहीं होता। एक तरह से उसका शासन अप्रतिहत होता है। यही चक्रवर्ती पद की गरिमा है। सात तरह के रत्नो की

प्रकृति भी अलग–अलग होती थी। इनमें से कुछ सप्ताङ्ग राज्य के प्रधान अंग भी कहे गये हैं। हाथी और घोड़े बल के साधन होते थे।[16] राजाओं के पास यदि पर्याप्त बल नहीं है तो फिर राज्य का संचालन कैसे संभव है? चक्रवर्ती राजा अपने बल की लगातार वृद्धि करते रहने में सबसे आगे रहते थे। उनका सबसे गुण एक पत्नीव्रती होना था। इस देश की परम्परा भी यही थी कि एकपत्नी व्रती होना चारित्रिक शुद्धता और संयम का सबसे बड़ा प्रमाण था। राजाओं के लिए इसका महत्त्व सर्वोपरि था। क्योंकि प्रजा भी उन्हीं का अनुसरण करके जीवन के मूल्यों को गढ़ा करती थी।[17] कर्म के बिना किसी कोटि के रत्न को पाया नहीं जा सकता था। स्यात् यही कारण है कि धर्म के द्वारा शासन करने की नीति बौद्धों की दृष्टि में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हो गयी थी। सात तरह के रत्नों के उत्पन्न होने के पीछे कहीं न कहीं धर्म का ही योगदान था।[18] जातक कहते है कि इस देश में राजपद कभी इतनी महान् हो गया था कि सेनापति जैसा प्रसिद्ध अमात्य को ही यह कहने में अपार गौरव का बोध होता था कि राजा स्वामी, पोषक और देवता है; इन नाते वह (सेनापति) पुत्र तथा अपनी पत्नी सहित उसका दास हुआ । इस तरह का उद्‌गार कहीं न कहीं राजा के दैवी सिद्धान्त का पोषक जान पड़ता है; फिर भी इसका केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्त्व नहीं था। व्यवहार की मांग यह थी कि ईश्वरीय गुणों को अपने में समाहित करने वाले राजा के लिए कर्त्तव्य एवं दायित्व की सीमायं बांधी गयी थीं। राष्ट्र की सर्वोच्च शक्ति का वहीं प्रतीक था। परन्तु भारतीय राजतंत्र के लिए इस तरह की व्यवस्था एकपक्षीय नहीं थीं। प्रजा को राजा से ढेर सारी अपेक्षायें थीं। वह सिंहासन की शोभा बढ़ाने वाला कोई पदार्थ मात्र नहीं था। उसे चरित्रवान्, धर्मपालक, सुदृढ़ समाज का संस्थापक, निष्पक्ष न्याय करने वाला और प्रजा का हितैषी कहा गया है। शास्त्रीय विधान के तहत राजा दस तरह के धर्मो ं का पालन करते रहने के लिए प्रतिबद्ध माना जाता था।[19]

पाणिनि अपने समय के राज्य और संघ इन दो तरह की शासन विधि का उल्लेख करते हैं। राजा जहाँ तन्त्र का अधिपति होता था वही राज्य संज्ञा वाला तन्त्र कहा जाता था । अभिप्राय यह है कि जनपद की भूमि पृथिवी और वहाँ का राजा पार्थिव कहलाता था। इससे भिन्न विस्तृत भूप्रदेश या समस्त देश के लिए सर्वभूमि शब्द प्रचलित था जिसका राजा ही सार्वभौम कहा जाता था। दीघनिकाय के महागोविन्द सुत्त में सर्वभूमि को ही महापृथवी कहा गया है। इसका विस्तार पूरब में कलिंग से लेकर पश्चिम में सौवीर तक था। इससे यह प्रमाणित हुआ कि महापृथिवी या सर्वभूमि जैसी संज्ञा उस युग में समस्त देश के लिए प्रचलित हो गयी थी। अपने जनपदीय राज्य से आगे बढ़कर जिस राजा ने अपने राज्य का विस्तार किया था वही साम्राज्य का अधिकारी बनता था और पुनश्च जिसने सर्वभूमि के अधिकतम क्षेत्र का आधिपत्य हासिल कर लिया हो उसे सार्वभौम कहा जाता था। पाणिनि अर्य को स्वामी के पर्याय के रूप में ग्रहण करते हैं। इसे थोड़े

विस्तार से कहें तो जिस पुरूष में ऐश्वर्य रहे वही स्वामी हुआ करता है। ईश्वर हो या राजा उसकी अधिकार शक्ति अथवा उसके वर्चस्व को ही ऐश्वर्य कहते थे। पतंजलि ने कहा है कि स्वामी शब्द में ऐश्वर्य का अर्थ प्रत्यय के कारण नहीं आता वरन उस शब्द का वह प्रातिस्विक अर्थ है। ज्ञात यही होता है कि ऐश्वर्य सम्पन्न स्वामी शब्द शुरू– शुरू में केवल राजा के लिए ही प्रयोग में लाया जा रहा था।[20]

बौद्ध वाङ्मय में प्रायः जितने भी चक्रवर्ती राजाओं के नाम उद्धृत हैं वे धन–धान्य से परिपूर्ण द्वीपों के स्वामी होने के कारण पृथ्वीपाल कहे जाते थे। ये कहाँ के राजा थे–यह स्पष्ट तो नहीं होता, पर राजतत्रीय व्यवस्था के तहत चक्रवर्ती पद की जो महत्ता थी उसके ऊपर अच्छा प्रकाश अवश्य पड़ता है।[21] यह भारत के महान विचारकां का सुविचारित मत है कि राज्य कई इकाईयों का एक संगठनात्मक ढाँचा मात्र है। सप्ताङ्गराज्य के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए कौटिल्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जनपद जिसमें गांव और नगर–ये दोनों ही समाहित हैं–राज्य की अस्मिता के सूचक हुआ करते हैं। वह राजा प्रशंसनीय समझा गया था जिसके अधिकार के दायरे में धन–धान्य से पूर्ण नगर और निगम के अलावे चारों ही द्वीपों की सम्पदा का भोग स्वतः आकर इकट्ठा हो गया हो।[22] राज्य के गठन में बल (सैन्य) की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। कौटिल्य ने यह कहकर वक्तव्य को एक तरह से विराम दे दिया है कि बल के बिना न तो राज्य का अपेक्षित विस्तार किया जा सकता है और न उसका संचालन ही पूरी सहजता के साथ किया जा सकता है । बौद्धों का भी यही कथन है कि जिस राजा के पास सेना के चारों ही अंग बिल्कुल ठीक ठाक हालत में होंगे वह किसी के द्वारा आसानी से पराजित नहीं हो सकता।[23] चक्रवर्ती राजा का गौरव गाान करने में बौद्धों का विशेष उत्साह नजर आता है । यद्यपि ऐसा करते समय वे अत्युक्ति का परिचय तो देते हैं पर राजनीति की दृष्टि से सच्चाई भी यही थी कि चारों ही द्वीपों के ऊपर विजय पत्ताका फहराना कोई साधारण एवं आसान सा प्रतीत होने वाला कार्य नहीं था। इनके ऊपर जिसे विजय हासिल हुई उसी से उस राजा के पुरूषार्थ एवं अतुल बल का परिचय मिल जाता था। यह उनके अजेय पराक्रम का भी सूचक होता था।[24]

बौद्धों के अनुसार राजा की नीतिनिपुणता ही राजा और राजपद को सुशोभित कर सकती है। ऐसा यदि नहीं हुआ तो राज्य के पास न बल और न कोष–इन दोनों में किसी का भी संचय होना दुष्कर हो जायेगां यही कारण है कि राजा को गुण संचयी और धीर बने रहने का निर्देश दिया जाता रहा है।[25] जैसा कि उद्धृत है; चक्रवर्ती वही है जो चारों ही द्वीपों पर अधिकार कर लेता है। इससे भी बड़ी बात यह कि धर्म को साक्षी मान कर जिस किसी राजा ने शासन चलाया वहीं प्रजा का हितैषी बन कर अपने आचार से राजपद को सुशोभित कर देने में सफल भी हुआ।[26] सिंहासन पर

किसी का अधिकार सदा के लिए स्थायी नहीं रहता, पर राज्य तो सदा से स्थायी एवं अक्षुण्ण संस्था के रूप में विद्यमान रहता आया है। राजाओं के आने–जाने का सिलसिला जारी रहता है। परन्तु राजा तो उसे ही धन्य कहेंगे जो मोहजाल को छिन्न करके प्रसन्न भाव और पूरी निस्पृहता के साथ प्रजा रूपी समुद्र को पार करने में सफल हो जाता है।[27] भारतीय राजतंत्र के भीतर यह आदर्श शुरू से ही समाहित माना जाता है कि प्रणतभाव से जो कोई राजा की शरण में आ जाये तो उसकी रक्षा करने से पीछे नहीं हटना है। राजशास्त्रियों ने क्षमादान की नीति को श्रेष्ठ माना है । शासन के लिए भी इसे ही धर्मसम्मत नीति कहा गया है।[28]

बौद्धागमों में राजा की कुलीनता के साथ–साथ उसके वैयक्तिक गुणों का भी विशद विचार हुआ है। यह सर्वविदित है कि राज्य के ऊपर क्षत्रियों को छोड़ किसी दूसरे के अधिकार का समर्थन बौद्धों ने नहीं किया है। इनके आठ अंगों और रक्तशुद्धि को विशेष महत्त्व दिया गया है। जिन क्षत्रियों की रक्त शुद्धि आठ पीढ़ियों तक कभी भंग नहीं होती थी उन्हें ही अपने समूह में सम्मान के योग्य समझा गया था। बावजूद इसके कोष और बल न हो तो राजपद बेमानी हो जाता है। दीघनिकाय का कूटदन्त सुत्त इस यथार्थ का विवेचन करता है कि बल अर्थात् चार अंगों से युक्त सेना ही राज्य की सुरक्षा के लिए उपयोगी हो सकती है। लोकहित में निरत और याचकों को दान से तृप्त करते रहना– ये दो ऐसे कार्य है जिनसे राजा की प्रजावत्सलता का प्रमाण मिला करता है। राजत्त्व की देशकाल के अनुरूप जब जैसी छवि बनी है बौद्धों ने उसकी उपेक्षा नहीं की है। जिसके भीतर देश काल का ज्ञान नहीं है वह राजा अपनी प्रशासनिक क्षमता का परिचय नहीं दे सकता। कदाचित् विवेक और संयम का त्याग कर दिया जाय तो फिर राजा का प्रमादी बन जाना कहीं से भी कठिन नहीं रह जाता । अतः प्रमाद रहित राजा का बना रहना आवश्यक कहा गया है। मूर्ख, आलसी, जिद्दी, और गर्वीला राजा राज्य के विकास के पहिये को आगे नहीं बढ़ा सकता। बौद्धों के लिए राजनीति का यह अति प्राचीन सिद्धान्त मान्य रहा है कि पण्डित, मेधावी और बलवीर्य से युक्त राजा ही राज्य के लिए उपयोगी हो सकता है।[29]

यह समृद्धि और सैन्य बल की अद्भुत साझेदारी थी कि राजाओं को एक द्वीप से लेकर दूसरे द्वीप के ऊपर अपना विजय ध्वज फहराने में सफलता हासिल हुई थी।[30] यह धर्मराज्य का मूल स्वभाव था जिसके आलम्बन से प्राणियों का जहाँ उद्धार हुआ वहीं सांसारिक व्याघातों से उनकी रक्षा भी हो पायी थी। बुद्ध का जन्म ऐसे ही एक राजकुल में हुआ था। ये मनुष्यों तारनहार के अलावा उनके त्राता और चिकित्सक भी थे।[31] बौद्ध कहते हैं कि चक्रवर्ती का पद उतना ज्यादा महत्व नहीं रखता जितना कि प्रजा के प्रति राजा का अनुरक्त और उसके सुख–दुःख का साथी बना रहना। शासन में यदि धर्म का त्याग कर दिया जाय तो फिर कुछ कहने को

क्या रह जाता है। समुद्र, पहाड़ और निर्जन वन तक में इन चारों ही द्वीपों का विस्तार देखा जाता है। इन सबको भयमुक्त रखना बहुत बड़ी जिम्मेवारी का काम है। वह राजा महान् है जिसके शासन में सब लोग भयमुक्त होकर जीना सीख लेते हैं। किसी को अकारण सताने और उत्पीड़ित करते रहने की नीति का त्याग कर देने से राज्य का चौमुखी विकास होता है। बौद्ध दृष्टि में अस्त्र शस्त्र के प्रयोग के भय से मुक्त राज्य ही जनाकांक्षाओं की कसौटी पर खरा उतरा करता है।[32] वस्तुतः मोह से पैदा हुआ जो अंधकार है उसका भेदन करके एक नया रास्ता बनाने वाला राजा ही पूरी दुनियाँ को एक नया संदेश दे सकता है। वह प्रशंसनीय भी है क्योंकि उसमें गुणों का खजाना है। वह अपरिमित घन का स्वामी है। उसके प्रताप का चक्र पूरी गति के साथ इस भूमण्डल में घूमा करता है और इसी कारण उसे राजर्षि की उपाधि प्रदान की जाती है।[33] माना यही जाता है कि पुण्यात्मा को ही चक्रवर्ती बनने का आशीर्वाद देवताओं से मिला करता है। यह भविष्यवाणी उसके चक्रवर्ती बनने से लेकर महाकोष का स्वामी बनने तक के लिए की जाती थी। शासन वही ठीक है जो लगातार लोकोपयोगी प्रतीत होता आ रहा हो। राजनीति का यह महनीय सिद्धान्त कई संदर्भों में उद्धृत होता रहा है।[34]

जैनागमों में इस सिद्धान्त को लेकर प्रतिबद्धता दिखाई देती है कि जन– जन के कल्याण के लिए राजा का होना बहुत जरूरी है। परन्तु जिसका मन स्त्रियों के साथ अनाचार और मदिरापान में डूबा हो वह भला राज्य के हित में क्या कर सकता है? बौद्धों की तरह जैन भी रक्त शुद्धि को अतिशय महत्त्व देने से पीछे नहीं हैं। प्रजा रक्षण के नाम पर राजा $^{1}/_{10}$ भाग कर के रूप में ग्रहण करने का अधिकारी है। किसी के लिए भी राजपद पर आसीन हो जाना कोई फूलों की सेज नहीं होता। जिसके भीतर लोकाचार की समझ नहीं और न वेद तथा राजशास्त्र का ज्ञान ही है उसे शासन का गुरूतर भार कैसे सौंपा जा सकता है? जैनियों ने कुणिक (अजातशत्रु)में निहित गुणों का विचार करते हुए कहा है कि वह इन्हीं के दम पर राजा बना था। वह शुद्ध क्षत्रिय कुल का था और साथ ही अपनी प्रजा के बीच लोकप्रिय भी हो चला था। प्रसंगवश इस तथ्य का विचार किया जाना चाहिये कि जैन और बौद्ध–ये दोनों ही क्षत्रियों की रक्त शुद्धि को बहुत ज्यादा मान दे रहे थे। संभवतः इसका एक कारण यह है कि चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर क्षत्रिय कुलोत्पन्न ही हुआ करते थे ।[35]

बौद्धो के उभय पंथ में चक्रवर्ती सम्राट के पुरूषार्थ का गौरवगान हुआ है। यह माना गया है कि उसमें चार तरह के धर्म समाहित हुआ करते थे। उन्हें क्षत्रियों की परिषद् सन्तुष्ट भाव से देखा करती थी। मूल भाव यह है कि चक्रवर्ती सम्राट के कर्त्तव्य एवं दायित्वों का निर्धारण देश का काल के अनुरूप किया गया रहता था। उनके प्रति जन–जन का विश्वास कायम रहता था ये किसी की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्राता का हनन नहीं करते थे।

इस तरह बौद्ध चक्रवर्ती सम्राट को लेकर अपनी इसी धारणा के कायल रहे हैं कि ब्राह्मण, गृहस्थ एवं श्रमण –ये सब के सब उसके कृतज्ञ भाव के आकांक्षी हुआ करते हैं। वह यदि परिषद् के सामने खड़ा होकर कुछ कहे तो उसे कोई काट नहीं सकता । भिक्षु आनन्द और बुद्ध के आपसी संलाप से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन कुसीनारा कभी चक्रवर्ती सम्राट महासुदस्सन की राजधानी के रूप में चरम प्रसिद्धि को प्राप्त किए हुए था। धार्मिक रूचि सम्पन्न और चारो ही दिशाओं का विजेता बना यह सम्राट उस राजधानी के आन बान और शान का प्रतीक था जो जन संकुल और उत्कृष्ट भोगों से अटी–पटी हुई थी। इसकी समृद्धि देवनगरी अलकनन्दा को भी मात कर देने वाली थी। यहाँ दस तरह के वाद्यों की मधुर ध्वनि गूंजती रहती थी।[36]

बौद्ध कहते हैं कि भारत के प्रसिद्ध जनपदों में ऐसे कई राज्य थे जिनकी समृद्धि किसी को भी चकित कर देती थी। काशी के राजा ब्रह्मदत्त का राज्य सुखी और जनसंकुल थ। यहाँ चोर डाकुओं का उपद्रव नहीं था। यह वहीं राजा था जो पुण्य भाव में जीने वाला, महेशाख्य, महाधनवान, और श्रेष्ठवाहनों से युक्त था। उसकीसेना बलशाली थी; अतः राज्य को अभेध बनाने में उसी की भूमिका सर्वोपरि हुआ करती थी।[37] धनधान्य से परिपूर्ण और विस्तृत राज्य पर शासन करने से राजा के प्रताप का बोध होता था। राज्य में यदि अमन–चैन का माहौल है तो समझना यही चाहिये कि राजा पूरे विवेक के साथ शासन चला रहा है।[38] भारतीय राजतंत्र के ऐसे–ऐसे प्रतिनिधि शासकों का पता चलता है जिन्होंने केवल अपने राज्य का ही नहीं अपनी प्रजा का भी कल्याण कर दिया था। जातकों के अलावा अन्य बौद्ध संदर्भों से भी यही ज्ञात होता है कि ब्रह्मदत्त नाम वाला काशी का कोई एक ही राजा नहीं हुआ है। परन्तु ये सबके सब अपनी दानशीलता के लिए जाने–पहचाने गये थे। इनके शासन की अपनी एक अलग गरिमा थी।[39] राजगृह की अपनी एक अलग ही छवि बनी हई थी। यह किस राजा के शासनाधीन प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँची थी यह पता तो नहीं चलता, पर यह अवश्य संकेतित है कि यहाँके राजा पुण्यकर्मी और सर्वजन हितैषी के रूप में अपनी पहचान बनाये हुए थे ।[40]

आगम ग्रन्थों में चक्रवर्ती द्वारा स्थापित शासन के आदर्श और विजयवाहिनी की भूरि–भूरि प्रशंसा हुई है। उसे जिन सात तरह के रत्नों–की प्राप्ति हुई थी उसके मूल में पराक्रम के सिवाय कुछ और नहीं था। स्पष्टतः यह पद धर्माचरण के सहारे टिका हुआ था। बौद्धों के अनुसार जिसने धर्म के साथ शासन चलाया उसी का नाम इतिहास में अमर हो गया। भारतीय राजतंत्र का यह मौलिक सिद्धान्त प्रायः हर युग में मान्य रहा है।[41]

इतिहास प्रसिद्ध राजाओं में मान्धाता का नाम सबसे ऊपर है। जन्म, अभिषेक और फिर प्रशासनिक कौशल से लेकर इनके पुत्रों से सम्बन्धित प्रायः जितनी भी गाथायें मिलती हैं वे बेहद रोचक और प्रेरणादायक हैं। कथा

प्रवाह के क्रम में शाक्यों की उत्पत्ति का भी विचार हुआ है।[42] गुप्तचर राजाओं की आँख होते थे। राज्य में कहाँ क्या कुछ घटित हो रहा है–इसकी जानकारी इनको तत्काल मिल जाती थी। यह दृष्टान्त दिया गया है कि पशु अपनी घ्राण शक्ति से किसी पदार्थ के गंध का अनुभव कर लेते हैं तो ब्राहमणों को वेदाध्ययन के जरिये सांसारिक क्रियाकलाप का ज्ञान हो जाता है। बिल्कुल यही भूमिका गुप्तचरों की होती है। राजा को राज्य की तमाम गतिविधि का ज्ञान इन्हीं के माध्यम से प्राप्त होता रहता है।[43] बौद्धों ने जिस आदर्श राज्य की परिकल्पना की है उसके मूल में यही भावना छुपी हुई है कि राजा द्वारा जब अदण्ड, अशस्त्र और प्रताड़ना रहित शासन की छवि गढ़ी जाती है तभी जाकर जन–जन के कल्याण का स्वप्न साकार हो पाता है।[44] बुद्ध के उपदेशों का सारसंक्षेप यही है कि अतीत के राजाओं का जीवनवृत भविष्य में होने वाले राजाओं के लिए प्रेरणा का काम करता है। ये वही राजा थे जिन्होंने शस्त्र प्रयोग के द्वारा नहीं बल्कि धर्म विजय का शंखनाद करके प्रजा के हृदय को जीतने का प्रयास किया था।[45] राजा के सैन्य अभियान का अपना एक अलग ही आकर्षण था।[46] द्रव्य से अलग राजा की अपनी एक दूसरी सम्पत्ति भी होती थी और वह भी पुत्रों और अमात्यों की निष्कपट निष्ठा जिसके दम पर किसी भी तरह का संकट खड़ा होने पर राज्य को उबारा जा सकता था। सेना, वाहन, कोष और अनाज के भण्डार–ये राज्य के अस्तित्व के दूसरे कारक थे। राज्य के भीतर शान्ति बनी हुई है और कहीं कोई उपद्रव नहीं हो रहा है तो समझना यही चाहिये कि राजशक्ति अपनी जगह पर ठीक से काम कर रही है। कदाचित् एक राज्य की प्रतिस्पर्द्धा दूसरे के साथ चल रही है तो इसे व्यक्त नहीं करके इसकी भीतर ही भीतर काट खोजी जानी चाहिये। समय पर वर्षा हो और खेती से भरपूर पैदावार मिले तो फिर राज्य की प्रगति को कोई कैसे बाधित कर सकता है ?[47]

जातकों में इस पक्ष का विचार हुआ है कि माता–पिता, पुत्र, मित्र, अमात्य,सेना, ग्राम–निगम, राष्ट्र, जनपद, श्रमण–ब्राह्मण और यहाँ तक कि पशु पक्षी–इन सब के साथ किया गया समान व्यवहार ही धर्माचरण का द्योतक कहा जाता है। महाबोधि जातक इस सिद्धान्त का हिमायत्ती है कि राजा को किसी की भी अवमानना करने का अधिकार नहीं है। धर्माचरण का भंग नहीं होना की अमन –चैन का सूचक है। वह राजा जिसके कंधे पर राज्य का गुरूतर भार है यदि धर्म का साथ नहीं छोड़ता तो वह जीते जी स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है।[48] भारतीय राजतंत्र की प्रकृति ही कुछ ऐसी रही कि यहाँ अत्याचारी या अधर्मी राजाओं का जीवन ज्यादा लम्बा नहीं रहा । जातक राजनीति के इस मर्म को परिभाषित करता है कि योग्य, चरित्रवान और विवेकसम्मत नीति पर चलने वाला अमात्य यदि राजा द्वारा अपमानित या कभी प्रताड़ित भी किया गया तो उससे राज्य का बंटाधार ही हुआ था। प्राचीन भारत में राजतंत्रीय व्यवस्था के जिस स्वरूप का विचार

किया गया था उसके तहत चरित्रहीन, अधार्मिक और विलासी राजा को सिरे से नकार दिया गया था। ऐसे राजा को बर्दास्त करके चलने का अर्थ था अमात्यमण्डल सहित पूरे राज्य का भविष्य सदा के लिए अंधकार मे डूब जाना।[49]

बौद्ध पुरूषवादी इस सोच को छोड़ नहीं पाये हैं कि राजत्त्व का अधिकार सदा पुरूषों को ही मिलते रहना चाहिये । किन्हीं कारणों किसी राज्य के शासन का भार यदि किसी स्त्री के हाथों मे चला जाता तो इसे सहज भाव से स्वीकार नही किया जाता था। भारतीय समाज का जैसा ताना– बाना रहा है उसके अनुरूप ही किसी स्त्री का अधीनता को स्वीकार कर लेना या उससे पराजित हो जाना घोर विषाद का कारण बन जाता था। पुरूषों के लिए स्त्री के इस अधिकार का समर्थन करना आसान नहीं रह गया था । यदाकदा कोई स्त्री राजपद धारण कर भी लेती थी तो यह चकित कर देने वाली बात होती थी। कम से कम भारत जैसे पुरूष–प्रधान देश में स्त्री की बहुतेरी खूबियों के होते हुए भी उसके लिए राज्याधिकार का मिल जाना बहुत ठीक नहीं माना जाता था। महावस्तु से पता चलता है कि लोकापवाद से बचने और एक गलत परम्परा को कायम नहीं होने देने की गरज से ही राजा के रिक्त सिंहासन पर किसी स्त्री की दावेदारी का विरोध किया जा रहा था।[50] परन्तु यदि पुरूष योग्य साबित नहीं हुआ तो वैसी स्थिति में सिंहासन पर स्त्री की दावेदारी को स्वीकार किया जा सकता था। पराजित देश के सिंहासन पर राजा के भाई, पुत्र या पौत्र को आसीन करा देने का विधान तो था, पर इनमें से यदि कोई उपलब्ध नहीं होता राजा की पुत्री को राज्य की स्वामिनी घोषित कर देने पर किसी तरह का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऐतिहासिक काल में अनेक ऐसे उदाहरण देखने को मिलते है, जब सक्षम उत्तराधिकारी के अभाव में पुत्रियों में से किसी एक ने अथवा विधवा रानी ने राज्य का नियंत्रण अपने हाथों में लेकर उसे विकासोन्मुख बनाने में सफल हुई थी। कल्हण की राजतरंगिणी में उद्धृत रानी सुगन्धा और दद्दा का चरित्र हमारी इसी धारणा का समर्थन करता है।[51] बौद्धों ने पारम्परिक रूप से अर्जित स्त्री के राज्याधिकार का समर्थन तो नहीं किया है, पर यह संकेत तो मिल ही जाता है कि अपरिहार्य कारणों से वह राज्य की स्वामिनी बन सकती थी। यद्यपि यह नियम तो चलन में था ही कि उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही सौंपा जाय, पर यह भी देखा जा रहा था कि छोअे भाई के पक्ष में बड़ा भाई स्वयं सिंहासन का त्याग, करके कहीं चला जाता था। परन्तु यह स्थायी व्यवस्था नहीं थी।[52]

भारतीय राजतंत्र को वंशानुगत आधार कब और किन परिस्थितियों में प्राप्त हुआ–इसका कोई प्रामाणिक इतिहास हमें प्राप्त नहीं होता। यह अवश्य पता चलता है कि राज्याधिकार के मिलते रहने में वंशानुक्रम का ध्यान अवश्य रखा जा रहा था। इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के यहाँ पैतृक राज्याधिकार वंशानुक्रम से ही प्राप्त हो रहा था। वाराणसी के राजा

को उत्तराधिकार में छः हजार नगरों से अटापटा राज्य प्राप्त हुआ था। राज्य को निष्कंटक बनाने के लिए जबतब राजा को अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना होता था। दुर्भाग्य से भावी उत्तराधिकारी ठीक नहीं निकला तो यह विषाद का मूल कारण बन जाता था। राजा इक्ष्वाकु को अपने बाद के किसी योग्य अधिकारी के नहीं पाये जाने की बात ज्यादा व्याकुल और परेशान किये हुए थी। यह जरूरी नहीं था अनेक पुत्रों के होते हुए भी उत्तराधिकार का मसला आसानी से सुलझ ही जाता था।[53] इसे लेकर राजा इक्ष्वाकु के मन मैं भारी उथलपुथल मची हुई थी। कहने को तो उनके पाँच सौ पुत्र थे, पर किसी में भी राज्य संचालन की क्षमता नहीं थी। कुश नाम का एक राजकुमार भी था जो देखने में अत्यन्त ही कुरूप, मोटे ओठवाला, स्थूल शरीर का, भारी भरकम पेट वाला और काली स्याही जैसी रंगत लिए हुए था। देखने में वह कहीं से भी राजा के योग्य नहीं था। उसमें राज्य संचालन की क्षमता तो थी, पर जैसा स्वरूप चाहिए उससे वह वंचित था। वह यदि राजा बन भी जाये तो आमलोगों को प्रसन्नता नहीं होगी। यही तर्क–वितर्क राजा के मन–मस्तिष्क को उद्वेलित किए हुए था।[54]

महावस्तु में उद्धृत किये गये जातक से हमें उस वास्तविकता का पता चलता है कि जब राजा इक्ष्वाकु ने अपने मरण को निश्चित जान कर उन आमात्यों को बुलाया जिनकी सहमति लेकर राज्य के उत्तराधिकारी के चयन को अंतिम रूप दिया जा सके। परन्तु इसके लिए प्रखर बुद्धि वाले राजकुमार को ही उत्तराधिकारी बनने का अवसर दिया जाना चाहिये।[55] कुछ समय बाद परिस्थितियाँ इतनी तेजी से बदलीं कि राजकुमार कुश ही उत्तराधिकारी के रूप में अपनी योग्यता को प्रमाणित करने में सफल हुआ था। इस सूचना का विशेष महत्त्व है कि राजतत्रीय व्यवस्था वाले राज्यों में जब कभी उत्तराधिकारी के चयन का मामला उजागर होता था तो आमात्यों, जनप्रतिनिधियों, सेनापतियों, नैगम और पौरजानपद आदि की राय का भी महत्त्व हो जाता था।[56]

बौद्धों का अभिमत यही रहा है कि राज्याधिकार सौंपने से पहले राजकुमारों की गुण–दोष की भलीभांति परीक्षा कर लेने से आगे जाकर राज्य निरापद बना रहता है।[57] राजा कुश का लक्ष्य केवल सिंहासन पर आसीन हो जाना नहीं था। वह अपने प्रताप से दूसरे राजाओं को भी अपने अधीन कर लेने के अभियान में प्राणपण से लगा हुआ था।[58]

प्राचीन भारत के राजशास्त्र के वेत्ताओं ने राज्य के जिस स्वरूप का विचार किया है उससे यही लगता है कि पैतृक सम्पत्ति की तरह इसका अंशधारकों के बीच बंटवारा नहीं हो सकता। इस नियम का परिपालन पूरी दृढ़ता के साथ किया जा रहा था। अभिप्राय यह कि उत्तराधिकारियों के बीच राज्य का विभाजन कर देने का अर्थ था–उसकी अस्मिता का सदा–सदा के लिए लुप्त हो जाना। स्यात् यही कारण है कि उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों को ज्यादा से ज्यादा कठोर बनाने का उत्तरोत्तर प्रयास किया जा रहा था।

इस तरह राजा का ज्येष्ठ पुत्र जब सिंहासन पर काबिज हो जाता था तो उसका छोटा भाई शासन के किसी महत्त्वपूर्ण विभाग का प्रधान बन जाता था। बौद्धवाङ्गमय में उत्तराधिकार से सम्बन्धित प्रायः जितने भी नियम परिभाषित हैं वे एक –एक करके धर्मशास्त्रों, पुराणों, नीतिग्रन्थों एवं राजशास्त्र के कतिपय महनीय ग्रन्थों द्वारा भी मान्य घोषित किये गये हैं।[59]

बौद्धागमों से यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्याधिकार से सम्बन्धित प्रायः जितने भी विधि–विधान थे उनके साथ छेड़छाड़ नहीं की जाती थी। क्षत्रिय राजा के ज्येष्ठ पुत्र को अपने अभिषेक के बाद ही शासन की बागडोर संभालने के लिए अधिकृत समझा गया था। कई राजाओं ने अपने जीवन काल में ही उत्तराधिकारी का मनोनयन करके भविष्य में खड़ी होने वाली कई तरह की पेजीदगियों के ऊपर एक तरह से विराम ही लगा दिया था। ज्येष्ठ पुत्र यदि सिंहासन का त्याग कर देना चाहता था तो उसके छोटे भाई को राजा बना देने में किसी तरह का अवरोध खड़ा नहीं किया जा सकता था। राजतंत्र के इतिहास में पितृहन्ता राजाओं के उदाहरण भी कम नहीं हैं।[60]

बौद्ध वाङ्मय में उत्तराधिकार को लेकर एक दूसरी ही धारणा का समर्थन देखा जाता है । राजा बनने से पहले ज्येष्ठ राजकुमार में पाँच तरह के गुणों का बना रहना वांछनीय समझा जाता था। पिता ने जिस धर्म राज्य की स्थापना की थी उसे यथावत बनाये रखने का संकल्प लेना।[61] इसी तरह लोक व्यवहार का ज्ञाता और शिल्प ज्ञान से सम्पन्न कुमार भी उत्तराधिकारी बनने के योग्य हुआ करता था। उसकी दावेदारी संदेह के दायरे से मुक्त समझी जाती थी।[62] जैनागमों और जातकों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तराधिकार से सम्बन्धित प्रायः जितने भी तरह के नियम चलन में थे उनमें परिस्थिति के अनुसार फेरबदल हो सकती थी। अमात्य भावी राजा के गुण–दोष का विचार कर सकते थे । प्रजा भी राजा से मिलकर भावी राजा के चयन का अनुरोध कर सकती थी।[63]

जातकों के दृष्टान्त भानजे को भी राज्याधिकारी बनाने की नीति का समर्थन करते हैं।[64] जैनागम भी पुत्र के अभाव में भानजे को राज्य के वैध उत्तराधिकारी के रूप मे मान्य ठहराते हैं। दुराचारी पुत्र को उत्तराध्किार से वंचित कर देने का सीधा अर्थ यही था कि राजा ने राज्य को एक बहुत बड़े संकट से त्राण दिलाने में अपनी अदभुत दूरदर्शिता का परिचय दे डाला है ।[65] संदिग्ध वंश परम्परा के किसी व्यक्ति को उत्तराधिकारी घोषित करने की सख्त मनाही थी।[66] जैसाकि कहा गया है, कन्या को उत्तराधिकारी घोषित किये जाने की परम्परा यद्यपि न्यून थी, फिर भी जामाता को लेकर कोई बंदिश नहीं थी। पुत्रविहीन राजा अपनी पुत्री का विवाह भानजे से करके उन दोनों को राज्य का संयुक्त उत्तराधिकारी घोषित कर सकता था। अल्तेकर के अनुसार प्राचीन भारत की जैसी राजतंत्रीय व्यवस्था थी उसके तहत नारी को राज्याधिकार प्राप्त करने का सुयोग्य बिल्कुल ही नहीं मिल पा रहा था।[67] कुण्डिन जातक

का यह उद्धरण कहीं न कहीं इसी परम्परा का पोषक है कि वह जनपद निन्दा और धिक्कार का पात्र है जहाँ के शासन की कमान किसी स्त्री के हाथों में सौंप दी गयी है।[68] बावजूद इसके तमाम तरह के निषेधों एवं वर्जनाओं के होते हुए भी विशेष परिस्थिति में स्त्री को राज्याधिकार प्रदान किया जा सकता था। उदय जातक बताता है कि राजा की अकाल मृत्यु होने पर अग्रमहिषी बड़ी कुशलता के साथ शासन चलाने में सफल हुई थी। यह भी देखा गया था कि प्रवजित होने वाले राजा का स्थान अग्रमहिषी ले लेती थी। उसके निर्देशानुसार शासन को गति दी जाने लगी थी। उत्तराधिकारी के नाबालिग होने की स्थिति में भी अग्रमहिषी राज्य का नेतृत्व कर सकती थी। उसे अमात्यों का भरपूर सहयोग भी मिला करता था। जैन सूत्रों के इस कथन को भी अप्रमाणिक नहीं कहा जा सकता कि पुत्र के न रहने पर राजा को उत्तराधिकारी के रूप में अपनी पुत्री को नामजद करने का अधिकार था।[69]

बौद्धों के अनुसार सुखी सम्पन्न राजाओं की उदार प्रकृति सर्वथा श्लाधनीय थी। परन्तु कहीं किसी राजा की अतिशय दानशीलता के कारण जब राज्य आर्थिक कंगाली के मुहाने पर पहुँच जाता था तो अमात्य इसे मौन होकर देख नहीं सकते थे। राज्य के सात अंगों में कोष का महत्त्व सर्वोपरि माना जाता है। इसकी वृद्धि और संरक्षण को लेकर कौटिल्य और दूसरे शास्त्रकारों ने गंभीर विवेचना की है। यह किन्हीं कारणों से ध्वस्त हो गया तो फिर राज्य के आर्थिक आधार को मजबूती कहाँ से मिलेगी ? इस अतिसंवेदनशील मुद्दों को लेकर केवल अमात्यों की ही नहीं बल्कि प्रजा की भी बेचैनी बढ़ जाती थी। महावस्तु से पता चलता है कि मिथिला के राजा ने जब निर्बाध दान देकर राजकोष खाली कर दिया तो उसके खिलाफ राज्य के गणक महामात्य, कुमारामात्य, निगम, जनपद एवं आम जनता ने खुला विद्रोह करदिया। इन सब ने मिलकर यही सोचा था कि जिस तरीके से राजा धन लुटा रहा है उसके परिणाम राज्य के हित्त में अच्छे नहीं होने वाले हैं। अंततः सब ने मिलकर राजा को राज्य से निर्वासित कर दिया। इससे यही सिद्ध हुआ कि राज्य एक तरह से सर्वमान्य शाश्वत एवं अक्षुण्ण संस्था था जिसके ऊपर किसी तरह का प्रहार नहीं किया जा सकता और न इसके हितों की उपेक्षा करके ही चला जा सकता है। राजा का व्यक्तित्व राज्य से बढ़ कर नहीं होता। उनके बने रहने की अवधि भी सीमित है। एक के बाद दूसरे के आने का सिलसिला जारी ही रहता है।[70]

संदर्भ

---

1. इयं भवन्तानां शालि क्षेत्रं इमसमाकं मापयेमः अथ खलु मिक्षवस्ते सत्वाः शालि क्षेत्राणां सीमानयेसुः इमं भवन्तानां शालि क्षेत्रं इममसकामंममसकामं .....। महावस्तु I पृ0 45।
2. त्रयाणां पापकानं अकुशलानां प्रथम एवमेवलोके प्रादुर्भावो तद्यथादिन्नादनस्यमृषावादस्य दण्डदानस्य च ।। वही पृ0 453।
3. ..... वयं ते सर्वसत्वानां अग्रताये समन्येमस्वस्वकेषु शालि क्षेत्रेषु षष्ठं शालि भागं ददाम।महतोजनकायेन संमतोति महासम्मतो संज्ञा उदपासि। अरहति शालि

क्षेत्रेषु शालि भागं ति राजा ति संज्ञा उदपासि । सम्यक् रक्षति परिपालेति मूध्वभिषिक्त संज्ञा उदपासि .....। वही पृ0 453–454।

4. सिंह, अरविन्द कुमार– बौद्ध स्रोतों में प्राचीन भारत की राजतंत्रीय एवं गणतंत्रीय शासन पद्धति,शोधनिबन्ध, दरभंगा 1990, अध्याय तृतीय।

5. अल्तेकर ए0 एस0–स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एश्येंट इंडिया, पृ0–27 और आगे।

6. काणे, पी0 वी0–धर्मशास्त्र का इतिहास (हि0 अनु0)द्वितय भाग, पृ0 605– 606 ।

7. वही, पृ0 606 और आगे

8. वार्डर ए0 के0 , इंडियन बुद्धिङभ, पृ0 173 और आगे

9. मेहता रतिलाल, प्री बुद्धिस्ट इंडिया,पृ0 76

10.बोधिसत्वो राजा अभूषि चक्रवर्ती चातुर्द्वीपो विजितावी सप्तरत्न समन्वागतो .....। महावस्तु I पृ0 05

11. दशकुशलकर्मपथा सम्पयुक्ता सत्वानभिनुदर्श यन्ति मा भवन्त प्राणिवधमदत्तहरणं रक्षितव्यानि परदाराणि अनृत पिशुन परूषमबद्ध प्रलापमिथ्या व्यापाद मिथ्या दर्शनानि वर्जयिष्यामीति देशन्ति। वही पृ0 125।

12. बैकलियं यस्ययेन इतो में गृहणातु धनं । धर्मलब्धा मम भोगाा माभवन्तो विषीदथ।।महावस्तु Iपृ0 126 ।

13. काणे पी0 पी0 पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 607

14. बृह0 उ0 01. 4. 14

15. काणे, पी0 वी0 पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 619

16. महावस्तु I पृ0 127 01–07

17. पूर्वमेव हि निवासे स्वदार सन्तोष संयमाभिरतो।
असीत्य नराधिपति स्त्रीरत्नं तेन सोलभति ।। वही

18. एतैर्धुतधर्मधरा कर्मेहि समुत्थिता रतनानि।
तेन च एव नरेन्द्रो धर्मेण मही प्रशासयति ।। वही 08–15

19. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, जैन कैलाशचन्द्र, प्राचीन भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और भौगोलिक अध्ययन, पृ 35 काणे, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 593 और आगे जहां राजा के दैवीय सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।

20. अग्रवाल वी0 एस0, पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ0 380–390

21. आसीत् तद चक्रवर्ती राजा प्रिय दर्शिनो ति नामेन।
सप्तताn् धुतिमान् चातुर्दीप पृथिवी पालो । महावस्तु I 134. 29

22. मम नगरं निगम भरितं राज्यं चतुरोमहाधन द्वीपाः । वही 135. 31

23. राजा त तदासीत् चतुरंग बलो प्रियो मनोपो –वहीं 49

24. चातुर्दीपाधिपति विपुल बलबरो अजितचक्रो। वहीं 138 . 57

25. विपुल बलपुण्यकोशो नयानयज्ञो जितो रतनचूडो आसि अभिनीलनेत्रो निरूपमगुणसंचयो धीरो।। वहीं139. 64

26. राजा तदचक्रवर्ती अभूषि चातुद्वीपो महिस्थानो नामेनमणि विषाणो शासति धर्मेण यो जनतां।। वहीं 14. 67

27. अच्छिन्न मोहजालो प्रेसन्नचितो असंग प्रतिमानो ।
तारेय्य सर्वजनतां संसारमहार्णवे पतितां ।। वही 72

28. अमयं ददाहि देवो का पुरूषस्य शरणं उपगतस्य।
तस्य कृताञ्जलि पुटस्य भावं एषुहि सतां धर्म इति।। वही 154–01
29. द्रष्टव्य, दीधनिकाय का कूटदन्त सुत्त, पृ0 117 (नालंदा)
30. .....ऋद्धिबलेन राजा चक्रवर्ती सार्ध चतुरङ्गनीया सेनाये वेहायसे द्वीपातोद्वीपां संक्रमति तथेदं पि द्रष्टव्यं।
महावस्तु I पृ0 188
31. राजवंश समुत्पन्नो धर्मराज्य प्रतिष्ठितः ।
शरणं सर्वभूतानां अहं बुद्धः इति विदुः।
अहं मरूभनुष्याणां नाथ नेता चिकित्सकः।। वहीं पृ0 229 128 – 129
32. ..... सो इमां चत्वारि महाद्वीपो सागर गिरिपर्यनतां अखिलां अकण्टकां अदण्डेनाशस्त्रेणनुत् पीडेन धर्मेण अभिनिजित्वाअध्याकसि।। वही पृ0 232
33. प्रदीपं लोकस्य तमतिमिरमोहापनयनं
गुणानां कोषं त्वं अपरिमिति रत्नाकरं धरं।
धरेसि राजर्षि अप्रतिहत चक्रं अमररूचिं । वही पृ0 256– 01
34. जात मात्रमित्याहु देवता भारकायिका । चातुर्दीपो महाकोशो भविष्यसि । वहीं 268 – 16
35. जैन, जे0 सी0,ऐश्येंट इंडिया एण्ड डिपीक्टेड इन जैन कैनन, पृ 49
36. दीधनिकाय द्वि0 महापरिनिब्बान सुत्त, पृ0 112–114
37. काशी जनपदे ब्रह्मदत्तो नाम राजा राज्यं कारयति कृतपुरायोमहेशाख्यो, महाबलो, महाकोशो महावाहनो तस्य च राज्ये ऋद्धं च सेतं च क्षेत्रं च सुमिक्षं च आकीर्ण जनमनुष्यं ....।। महावस्तु I पृ0 344
38. स्फीतानि राज्यानि स्फीतमाना।
सम्यक् राज्यानि करोन्ति ज्ञात्तयो।। वहीं 330– 01
39. ब्रह्मदत्तो नाम राजा राज्यं कारेसि सुसंगृजीत परिजनो दानसंविभागशील्या। वही पृ0 366
40. राजगृहे नगरे राजा राज्यं कारयन्ति कृतपुण्यो अङगराजो च ऋषभो अभूषिप्रासदिको दर्शनीयो कृतपुण्यो महेशाख्यो–वहीं पृ0 369
41. सिंह, अरविन्द कुमार, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 61 और आगे
42. महावस्तु I पृ0 457–460
43. घ्राणैः पश्यन्ति पशवः वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः।
चारैः पश्यन्ति राजातो च चक्षुम्यामितरा प्रजा इति।। वहीं पृ0 460– 01
44. ..... सागरं पर्यन्तां अखिलां अकण्टकां अदण्डेन, अशस्त्रेण अनृतपीडेन धर्मेणअभिविजिनित्वा अध्यावसिष्यसि।। वहीं II पृ0 106
45. दीघनिकाय तृतीय (चक्कवत्तिसुत्त) पृ0 60 (नालंदा)
46. महावस्तु II पृ0 122–24–26
47. वहीं II पृ0 142
48. सिंह, अरविन्द कुमार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 64 पा0 टि0 01
49. जातक द्वि0 खं0 गा0 84 पृ0 124

50. इस्त्रिया स्म पराजिता न च कहिंचित् इस्त्रियो राजा सर्वत्र पुरूषा राजा । यथा अस्माकं न अलिकं भवेय पुरूषो च राजा भवेय। महावस्तु II पृ0 48
51. काणे, पी0 वी0 पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 595
52. ..... तस्यादानिं विस्तीर्ण राज्यं यावत् तक्षशिलां समाज्ञापयति। सो कनीयसं भ्रातरं राज्ये प्रतिष्ठपियित्वा वाराणस्यां तक्षशिला आगतो। महावस्तु II पृ0 51
53. वहीं II पृ0 274
54. .....एषो च दुर्वर्णो दुदृशो स्थूलोष्ठो स्थूलशरीरो स्थूलपादोमहोदरोकालो मषिराशि वर्णो अप्रियो प्रतिकूलो दर्शनाये को एतं राजं धारयिष्यति। वहीं II पृ0 280
55. वहीं II पृ0 281 और आगे
56. कुशो कुमारे हि अमात्ये हि भटबलाग्रे हि च नैगम जनपदेहि च अयं पण्डितो ति कृत्वा राज्येभिषिक्तो सर्वेहि षष्टी हि नगर सहस्रोहि निगम जनपदेहि राजा मात्येहि कुमारेहि च अभ्यर्थितो एषः राजा ति। वहीं II पृ0 283
57. इमं राजो कुशस्य इक्ष्वाकुकुलं ऋद्धं च स्फीतं च क्षेत्रं च सुमिक्षं च अनन्तरत्नाकरं । वहीं पृ0 286
58. कुशो आह अहं तथा करिष्यं यथा एते सप्तराजानो प्रणमिष्यन्ति वचन करणं भविष्यन्ति।। वहीं II पृ 312
59. अल्तेकर, ए0 एस0– स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट ऑफ एश्येंट इंडिया, पृ0 84–85 और आगे विशेषतः पृ0 90–91 द्रष्टव्य, जहाँ उत्तराधिकार से सम्बन्धितस्मृतियों एवं पौराणिक संदर्भो ं का विचार हुआ है।
60. सिंह, अरविन्द कुमार, पृ0 74–75
61. पंचहि अङ्गेहि समन्नागतो रञ्ञयो चक्कवति यस्स जेट्ठो पुतो पितरो पवतिं चक्कं धम्मेनेव अनुप्पवत्तेन्ति । अंगुत्तर निकाय द्वि0 पृ0 402 (नातन्दा)
62. ..... खतियानं मुद्धावसिन्तानं सिप्पट्ठमानि हत्थिस्मिं वा अस्सस्मिं वा रथस्मिं च धनुस्मिं च थरूस्मिं वा तत्थ सिक्खितो होति अनवयो –वहीं पृ0 406
63. सिंह, अरविन्द कुमार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 76
64. जातक द्वि0 त्वं0 असिलक्खणं जा0 पृ 88
65. जैन जे0 सी0 पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 52
66. जातक प्र0 खं0 कट्ठहारि जा0 पृ 220 और आगे
67. अल्तेकर, ए0 एस0 प्राचीन भारतीय शासन पद्धति,पृ0 63
68. जातक प्र0 खं0 गा0 12 पृ0 124
69. सिंह, अरविन्द कुमार, पूर्व निर्दिष्ट, पृ0 78–79
70. सो दानिं अतिदानं ददाति कोशानि क्षीयन्तीति गणकेहि च महामात्ये हि च महाजनकायेन च संनिपन्ति.....ततो राज्यतो विप्रवासिते समानो अनुहिभवन्तो महावानसण्डे।। महावस्तु IV पृ0 25

***

दलित समाजसुधारक सन्त गाडगे बाबा एवं उनका सामाजिक दर्शन (एक समाजशास्त्रीय मीमांसा)

डॉ. दिलीप कुमार *

धोबी समाज में जन्में महान समाज सुधारक, भारत में स्वच्छता अभियान के जनक तथा सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत सन्त गाडगे बाबा एक दलित थे। ये महाराष्ट्र सहित समस्त भारत में सामाजिक समरसता,राष्ट्रीय एकता, जनजागरूकता स्थापित करने तथा सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता थे। डा0 अम्बेडकर अपने गुरू ज्योतिबा फूले के बाद सन्त गाडगे को सबसे बड़ा त्यागी एवं जनसेवक मानते थे। इनका जन्म महाराष्ट्र राज्य के अमरावती जिले के सेन गाँव में एक धोबी परिवार में 23 फरवरी 1876 में हुआ था। इनकी माता का नाम सखूबाई, पिता का नाम झिंगराजी तथा पत्नी का नाम कान्ताबाई था। इनके तीन सन्तानें थीं एक पुत्र गोंविन्दा तथा दो पुत्रियाँ अल्का एवं कलावती थी। सन्त गाडगे के बचपन का नाम डेबूजी था । ये अपने साथ एक लाठी तथा एक मिट्टी का बर्तन हमेशा लिये रहते थे। महाराट्र में मिट्ठी के ऐसे बर्तन को गाडगा कहा जाता था। जिसके कारण बाद में इन्हें गाडगे कहा जाने लगा। अन्ततः समाज में सन्त गाडगे बाबा के नाम से प्रसिध्द हुए। ये अनपढ़ थे लेकिन अम्बेडकर के शिक्षा से प्रभावित होकर कुछ पढ़ना-लिखना जान गये थे। सन्त गाडगे बाबा इस पृथ्वी पर एक अनोखे व्यक्ति के रूप में 23 फरवरी 1876 से 20 दिसम्बर 1956 तक जीवित रहें।

पिता झींगराज का देहान्त 1884 ई0 को हो जाता है। इसके बाद माता सखूबाई डेबू जी को दापूरे गांव (अपने मायके) ले आई। तब से फिर कभी सेनगाँव नहीं लौटी। दापूरे में सखूबाई को उनके पिता हंबिरराव जी तथा भाई चंद्रभान जी ने रहने की व्यवस्था कर दी। उनके पास खेती बाड़ी अच्छी थी। दलित जातियों को उस समय पढ़ने-लिखने का अधिकार नहीं था। पढ़ाई तो दूर की बात है उन्हें साफ सुथरे कपड़े पहनने का तथा बड़ा मकान बनाना वर्जित था। डेबू जी के बड़ें होने पर उन्हें पशु चरानें का काम मिला। इसके अतिरिक्त अपने मामा के साथ व खेती बाड़ी में हाथ बाटनें लगे। वे मवेशियों को चराते, नहलाते, सानी- पानी करते और उनका गोबर- कूड़ा उठाते। दलित के बच्चों की उस समय यही दिन-चर्या थी। इसी बीच में बचपना भूखे-प्यासे, नंगे-धिडंग बीतता था।

दलित समाज पर उन दिनों निर्गुण परम्परा के सन्तों – नामदेव, चोखामेला आदि का बडा प्रभाव था। भगत मंड़लियों द्वारा उनकी वाणी गाई जाती

* असिस्टेन्ट प्रोफसर, समाजशास्त्र विभाग, भानमती स्मारक पी. जी. कालेज, अकबरपुर, अम्बेडकर नगर

तथा उपदेशक व्याख्या करते थे। लोग अपने कुल देवों से पीढ़ी-दर पीढ़ी बंधे हुए जरूर थे लेकिन निर्गुणवादी सन्त परम्परा में भी उनकी पूरी श्रध्दा थी। डेबू जी के साथ गाँव भर के बच्चें भी अपने-अपने मवेशी चराने ले जाते थे। खेल- खेल में उस मित्र-मंड़ली ने एक भजन मंड़ली बनाई जो गाकर-गाकर मनोरंजन करती। यह भजन उसी नामदेव, चोखामेला आदि परम्परा के होते थे। शुरू- शुरू में तो यह मंड़ली केवल आपसी मनोरंजन के लिए ही बनी थी लेकिन जैसे-जैसे डेबू जी और उनके साथियों की उम्र बढ़ती गई। इस भजन मंड़ली का सामाजिक धार्मिक रूप भी निखरता चला गया। इस प्रकार समय बीतता गया डेबू जी और उनकी मित्र-मण्ड़ली दूर-दूर तक देहातों में भजन कीर्तन आदि के लिए बुलाई जाने लगी। शीघ्र ही डेबू जी की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। जगह-जगह सार्वजनिक आयोजनों में डेबू जी की मांग होने लगी।

वे भजन मात्र गाने ही आयोजनों में नहीं आते थे बल्कि वहां अन्धविश्वासों, बुरी आदतों के प्रति भी अपने दलित समाज को सचेत करते थे। उन्हें कर्ज न लेने की हिदायतें देते थे। साफ सफाई के महान महत्व को समझाते थे। चरित्र निर्माण पर जोर देते थे। हुक्का बीड़ी पीने वालों को कोसते थे। धीरे-धीरे डेबू जी की मेहनत रंग लाने लगी। उनके विचारों का समर्थन करने वाले आगे आने लगे। लोग उनकी बातों पर गम्भीरता से मनन करने लगे।

दापूरे गांव के पास कमाल पुर नामक गाम के एक धोबी धनाजी खत्लाकर ने अपनी बेटी कांताबाई का रिश्ता डेबू जी से पक्का कर लिया। मामा चन्दभान ने दापूरे में सन 1892 में उनकी शादी धूमधाम से की। डेबूजी सुखपूर्वक अपनी पत्नी के साथ रहने लगे। इसी बीच कीर्तन मण्डली में जाने का सिलसिला भी जारी था । डेबू जी की बुध्दि का विकास भी इसी बीच हुआ था। बचपन जाता रहा तथा धीरे-धीरे गम्भीरता आ गई थी। डेबू जी दूर-दूर तक जब धार्मिक सामाजिक समारोहों में अपनी मण्ड़ली सहित जाते तो उन्हें नए-नए अनुभव होते। चारों तरफ दलित समुदाय के बीच समस्याएं ही समस्याएं नजर आतीं। बेगार की समस्या , छुआछूत की समस्या, कर्ज की समस्या भुखमरी की समस्या, कुपोषण- महामारी की समस्या, अन्धविश्वासों की समस्या, गन्दगीं, की समस्या। डेबूजी ने सोचा कि यह समाज पीढ़ी दर पीढ़ी इन्हीं समस्याओं में धंसा रहता आया है और धंसा रहेगा। इस समाज की तरफ से किसी भी संत, किसी भी महापुरूष का ध्यान नहीं जाता । हमें स्वंय ही अपने इस समाज के लिए कुछ करना होगा। यह दर्द हमारा है तो इसका इलाज भी हमें ही करना होगा।

गाडगे बाबा का परिनिर्वाण :

गाडगे बाबा का स्वास्थ्य सन 1954 से गिरता ही चला जा रहा था इसके बावजूद भी बाबा का जनसेवा जागरण अभियान उसी गति से जारी था। कीर्तन के

लिए जगह-जगह से बुलावे आते थे। खराब स्वास्थ्य के बावजूद भी मना नहीं करते। पिछले 50 वर्षो से चलते- चलते वे थक जरूर गए थे मगर हारे नहीं थे। लेकिन 1955 में स्थित कुछ ज्यादा ही गम्भीर हो गई। 1955 में गर्मियों का समय था बाबा मधुमेय से पीड़ित थे। मधुमेय खतरे के स्तर से ऊपर थी। उन्हें सेंट जार्ज अस्तपाल में भर्ती करवाया गया था। अपनी आदत के मुताबिक वे अस्पताल में भी जमीन पर ही सोते थे बड़े आग्रह से वे दवा, इंजैक्शन ग्लूकोज लेते।

अस्पताल में भी आम जनता से लेकर प्रमुख हस्तिययों तक ने बाबा के दर्शन किए अस्पताल में उनके अनुयायियों का तांता लगा रहता था। भूतपूर्व उपराष्ट्रपति ए. जन्ती, डा0 आंबेडकर, एस. पी. पाटिल, के. सी. ठाकरे, बी. जी. खरे, गणपत राव, नाईक निंबालकर, जयंत लाल मान्कर आदि व्यक्तियों से लेकर आम देहाती भाई उनके दर्शन करने आते थे । वे उठ बैठते सबको हाथ जोड़ते हुए संकेत भी करते कहते- "दीपक अभी जल रहा है जब तक जलता है देख लो तेल से भीगी बाती ही शेष है। कब हवा आ जाय, कब दीपक बुझ जाए, कोई भरोसा नहीं है।'' तबीयत में कुछ सुधार हुआ। बाबा को अस्पताल से छुट्टी मिली । बाबा ने तुरन्त घोषणा की- सभी हिसाब, लेन- देन का व्यापार, बैंक के कागजात आदि जो भी कार्य अधूरा है उसे पूरा कर लो। अब मेरे पास ज्यादा समय नहीं है। मैं कभी भी जा सकता हूँ। कभी वे अपने अनुयायियों को बुलाकर समझाते। "जितने त्याग ईमानदारी पवित्रता की भावना से यह सेवा कार्य आज तक होता आया है आगे भी होता रहे तो मानवता का भला होगा। इस कार्य को जारी रखने की कोशिश में लगे रहना।''

इसी बीच पंढ़रपुर का मेला लगा। वे अपनी संस्था के काम से वहां हर मेले में जाते ही थे। वहां वे जनता को अन्धविश्वास, मूर्ति-पूजा, मिथ्याचार, आडम्बरों से बाहर आकर लोक कल्याण के लिए प्रेरित करते लेकिन पंढ़रपुर का उनका अन्तिम उपदेश सेवा और जन सेवको के गिरते स्तर पर करारा तमाचा साबित। हुआ उन्होनें कहा "आजकल सेवा शब्द बहुत सरल हो गया है। थोडा सा काम करने पर मनुष्य अपना नाम अखबारों में देखना चाहता है। रात दिन अपनी कीर्ति का नगाडा बजाने वाले लोग बहुत है। इससे सेवा पुण्य तो मिलता ही नहीं बल्कि पाप ही होता है। धीरे-धीरे लोगों का विश्वास भी कम हो जाता है। हीरा कीमत में महंगा होता है उसकी नकल करने वाले काँच सस्ते मिलते है।

अपने देश में सेवा के नाम पर बड़ीं दूकानदारी चल रही है हर सेवाधारी का सेवा में लगने से पहले और 10-20 साल सेवा करने के बाद अपने जीवन का निर्माण करने चाहिए। आपको दिखाई देगा कि उससे कम से कम दस बीस लाख रूपया तो कमा ही लिया होगा। इतने बड़ें सेवा कार्य में इतना पैसा नहीं कमाया तो आज के युग का जन सेवक कैसा होगा?''

14 नवम्बर 1956 को एकादशी थी। पंढ़रपुर में भीड़ जुटी थी। बाबा वहां दो दिन पहले ही पहुँच गये थे। रात भर बाबा भजन कीर्तन के लिए खड़ें रहते थे। वे खड़े होकर ही भजन कीर्तन करते थे। उपदेश के दौरान ही बाबा ने भक्तों से कहा थे "ये अन्तिम भेंट है।'' रात दो बजें बाबा ने कहा था भक्त भावुक हो गये थे। 15 नवम्बर सुबह अगले पड़ाव के लिए निकले, गाडीं में उन्होनें सोने की कोशिश की लेकिन नींद नहीं आई। बाबा को तेज बुखार के साथ पेट में दर्द की शिकायत हुई। बाबा बेहोश हो गए, कुछ देर बाद उल्टी और दस्त की शिकायत भी हुई । 16 नवम्बर को बाबा जैसै-तैसै तब मुम्बई पहुँचें उन्हें सेंट जार्ज अस्पताल में भर्ती करवा दिया गया। उनकी स्थित में कुछ सुधार होने लगा। इस प्रकार कुछ स्वस्थ होकर 6-12-56 को बांद्रा वापिस आए।

6 दिसम्बर 1956 को भारत के कोटि- कोटि दलितों के मुक्तदाता बाबासाहेब डा0. भीमराव अम्बेडकर जी का आकस्मिक निधन हो गया। गाडगे बाबा उन्हें भीतर से बहुत चाहते थे। गाडगे बाबा को डॉ. आंबेडकर के परिनिर्वाण का दु:खद समाचार मिला। वे अन्दर से टूट गए। वे बाबासाहेब के प्रशंसक थे। उन्हें भरोसा था कि उनके बाद दलितों, नारियों, श्रमिकों, किसानों के हक हकूक की लडाई बड़ें ही बेहतर तरिके से बाबा साहेब लड़ते रहेंगे और इस प्रकार उनका उध्दार कर देंगे। लेकिन उनसे भी पहले उनका चले जाना पीड़ित मानवता की बहुत भारी क्षति थी। गाडगे बाबा ने दु:खी मन से कहा- "दलित समाज के बाबा सात करोड़ बालकों को छोड़कर चले गए। बाबासाहेब की मृत्यु से ये बच्चें निराधार हुए। अभी-अभी ये बाबा साहेब का हाथ पकड़ कर चलने लगे थे। वही हाथ भगवान ने निकाल लिया। बाबा साहेब कुछ दिन रहते तो ये बालक चलने- फिरने की हिम्मत करने लगतें।''

डां. अम्बेडकर के जाने के बाद गाडगे बाबा पूरी तरह से टूट चुके थे उन्होंने दवाई छोड़ दी थी। बाबा उसी रोज अमरावती जा रहे थे। तार द्वारा यह सूचना नासिक, अकोला, मुर्तिजापुर, अमरावती तथा बडनेरा में पहुँचा दी थी। हर स्टेशन पर लोग बाबा के दर्शन के लिए जुटते थे। बाबा की तबीयत 13 दिसम्बर 1956 को फिर बिगड़ी उन्हें आक्सीजन पर रखा गया था। बाबा जी 17 दिसम्बर 1956 को बड़े कष्ट में रहें लेकिन बाबा तो 6 दिसम्बर को ही दवा छोडनें को निर्णय ले चुके थे। अत: 18 दिसम्बर को आपने अस्पताल छोड दिया। 19 दिसम्बर को बडनेरा गए। वहां आपने अनुयाइयों को इकठ्ठा करके कहा "मैं ठीक हूँ शरीर में कमजोरी है। अब मुझे नागरवाडी ले चलो।''

चलते वक्त बाबा ने अपनी अन्तिम इच्छा व्यक्त की "मेरी मौत किसी के घर न हो मैं अपने गन्तव्य की ओर बढ़ता हुआ रास्ते में ही मरना चाहूँगा मेरी मौत जहां हो मेरे शरीर का अन्तिम संस्कार कर दिया जाए। मेरी न मूर्ति न सामाधि न मन्दिर न स्मारक बने। मेरे द्वारा करवाए गए काम ही मेरे सच्चे स्मारक हैं।'' बाबा

तो नागरवाड़ी जाना चाहते थे लेकिन चांदूर में डॉक्टर ने कहा कि बाबा को इलाज के लिए तुरन्त अमरावती ले जाओ वही से अमरावती जाने का निर्णय हुआ। गाड़ी चल पड़ी बाबा की बीच में आँख लगी कुछ देर बाद आंख खोली धीमे स्वर में पूछा नागरवाड़ी आई नहीं, अनुयाईयों ने कहा बाबा गाड़ी अमरावती जा रही है। बाबा ने कुछ नहीं कहा उपर्युक्त शब्द बाबा के अन्तिम शब्द बन गए। गाड़ी जैसे ही बलगांव के पिढ़ी नदी के पुल पर आई बाबा का शरीर ठण्ड़ा हो गया। रात के 12.20 का समय था उनके अनुयायी कशमकश में थे। गाड़ी अमरावती डा. शाह के बंगले पर पहुची। डॉ. शाह ने जांच करके कहा बाबा नहीं रहे। इस तरह बाबा अपने मिशन को छोड़ कर चले गए।

बाबा के परिनिर्वाण की खबर आकाशवाड़ी से प्रसारित होते ही सनसनी फैल गई। बड़नेर में राठौड़ के बगीचे में बाबा के अन्तिम दर्शनों के लिए लोगों की भारी भीड़ जुट गई ट्रक पर एक ऊंचा सा आसन बनाया गया। बाबा का पार्थिव शरीर जनता के दर्शनों के लिए उस पर रखा गया लाखों लोग जुट चुके थे। एक बजें जुलूस की शक्ल में काफिला निकला। भारत के कृषि मंत्री डां. पंजाबराव देशमुख तथा मुम्बई के उपमंत्री वानरेकर जी नें पुष्प माला अर्पितकर बाबा को सरकारी सम्मान से अन्तिम विदाई दी। बाबा खोबरगड़े से लेकर सन्त तुकडोजी महराज तक अन्तिम यात्रा में शमिल हुए। अन्तिम दर्शनार्थियों की भीड़ दो लाख की आकड़ा पार कर चुकीं थी। जुलुस रात 10 बजें राठौंर के बगीचे में लौट पाया। बाबा के लिए चन्दन की चिता बनाई गयी उनकी पार्थिव शरीर को उस चिता पर लिटा दिया गया। अचानक तुकडोजी महराज ने विदाई गीत शुरू किया। उनके शिष्यों सहित लाखों लोग गीताँजलि अर्पित करने लगे। लोगों की आँखों के बादल बरस रहे थे। मगर लोगों की आवाजे तेज थी। विदाई गीत जारी था। पूरा महौल गमगीन था। बाबा एक ऐसे महामानव थे जो उम्र भर चिथड़ा पहनकर, हाथ में घड़े का टूटा ठिकरा लेकर चलते। रात होनें पर किसी पेड़ के नीचे बोरी बिछाकर सोने वाले बाबा इस दुनिया से चले गए। इस महामानव ने ऐसा काम करके दिखाया जो बड़े-बड़े धनाढ्य, राजनेता तथा प्रसिध्द सामाजसुधारक भी नहीं कर पाए। भारत में यह परम्परा रही है कि सूर्य डूबने के बाद दाह संस्कार नहीं किया जाता लेकिन बाबा के शिष्यों नें इस अन्धविश्वास को तोड़ा। बाबा के विचार में संसार में कोई प्रकृति जन्म और मृत्यु का समय निश्चित नहीं किया है। यह तो भाट ब्राह्मणों ने अपनी सुविधा को देखते हुए समय एवं कुसमय को पोप की लीला को रचा था। भाट महाराज की समय की जिस दिन बुकिंग होती थी। वह घड़ी दूसरे ग्रहकों के लिए अशुभ बताई जाती थी। ब्राह्मणों की इस पोप लीला का खन्ड़न करते हुए बाबा के शिष्यों नें उनकी चिता को रात दो बजकर 20 मिनट पर आग लगाई।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि महात्मा बुध्द का परिनिर्वाण 80 वर्ष की अवस्था में हुआ तथा गाडगे का परिनिर्वाण 80 वर्ष की अवस्था में हुआ था। महात्मा बुध्द को अन्तिम समय में खूनी दस्त की शिकायत हुई थी तथा गाडगे बाबा भी इसी बिमारी के शिकार हुए थे। गाडगे बाबा ने महात्मा बुध्द की तरह ही 29 वर्ष की अवस्था में घर छोड़े थे। महात्मा बुध्द ताउम्र भिक्षुक के रूप में घूमते रहे। उसी प्रकार गाडगे बाबा भी एक ठिकरा का भीक्षा पात्र लेकर जगह-जगह गाँव में घूमते रहे। महात्मा बुध्द और बाबा गाडगे दोनों का गृहत्याग लोगकल्याण के लिए था। बाबा की इच्छा के विरूध्द उनके अनुयाईयों नें उनकी सामाधि बनवा दी। जहाँ प्रति वर्ष उनकी सामाधि के दर्शन हेतु लाखों श्रध्दालु आतें हैं। बाबा जहाँ मरे थे वहाँ उनके सामाधि के साथ साथ गाडगे नगर वसा हुआ है। ऐसे दलित महापुरूष को 23 फरवरी के जन्म दिवस के अवसर पर श्रध्दासुमन अर्पित करना प्रत्येक मानव का धर्म एवं कर्तव्य होगा।

सन्त गाडगे बाबा की जीवन यात्रा :

पिता की मृत्यु के बाद देवीदास डेबूजी अपने नाना के घर मुर्तिजापुर में पले-बढ़े थे। बचपन में खेती करना, पशुपालन तथा पशुओं को चरानें में दिलचस्पी रखते थे। वे मेहर बाबा से प्रभावित होकर 1 फरवरी 1905 को एक सन्त के रूप में अपने जीवन को आगे बढ़ाने के लिए अपने परिवार को छोड़ने से पहले अपने गांव में एक स्वंयसेवक के रूप में काम किया। 29 वर्ष की आयु में गौतम बुध्द की भाँति पीड़ित मानवता की सहायता तथा सामाज सेवा के लिए उन्होनें सन 1905 में घर त्याग किया। आधी रात को घर से निकलते समय हाथ में एक लकडी एवं एक मिट्टी का बर्तन जिसे महाराष्ट्र में गाडगा कहा जाता है हाथ में लिए थे। दया, करूणा, भ्रातृत्वभाव, सममैत्री, मानव कल्याण, परोपकार दीनहीनों के सहायतार्थ आदि गुणों के भन्डार तथा महात्मा बुध्द के आधुनिक अवतार डेबूजी सन 1905 में गृह त्याग से लेकर सन 1917 तक साधक तथा अज्ञातवास चिन्तन अवस्था में रहें।

डेबूजी एक हाथ में लाठी तथा दूसरे हाथ में मिट्ठी का भीक्षा पात्र लिए और शरीर पर फटे-पुराने-चिथड़ों को गाँठ-गाँठ कर चीवर जैसा पहनावा पहनकर निकले थे। इस दौरान अगर कोई उन्हें खाने के लिए कुछ देता तो उसे वे अपने मिट्ठी के पात्र में लेते तथा उसे खाकर उसी में पानी भी पीते थे। जब बाबा किसी बस्ती के पास गुजरते तो अवारा कुत्तें उन पर टूट पड़ते। उनसे बचने के कोशिश के बाद भी उन्हें लहूलुहान कर देते थे। ऐसी विचित्र भेष-भूषा में देखकर कुत्तों का भौकना एवं काटना लाजमी था। कुत्तों द्वारा शोर होने पर बच्चों का झुन्ड चिल्लाता था पागल, आया पागल आया। बाबा के इस भेष से लोगों को शंका होती थी, वह उन्हें चोर व लुटेरे होने के भय से भगा देते थे। शुरूआत में उन्हें यह समस्या झेलनी पड़ी लेकिन धीरे-धीरे स्थित

सामान्य होने लगी, लोग उन्हें पहचानने व जानने लगें। इस प्रकार उनकी ख्याति भजन गायक एवं उपदेशक के रूप में हुई।

सन्त गाडगे बाबा गाँव में प्रवेश करते ही गन्दगी युक्त स्थान पर साफ-सफाई करने लगते। ऐसा करते देख ग्रामीणों द्वारा मन्दिर या फिर साफ-सुथरा स्थान पर रहने के लिए कहा जाता था लेकिन उनका उद्देश्य तो गन्दगी को साफ करना था। जिससे गाँव में घातक बीमारियां न फैले। बाबा गांव की सफाई करते तथा स्वंय सफाई करने के बाद ग्रमीणों को धन्यवाद भी देते थे। इस सफाई करने के कारण जब ग्रमीण लोग उन्हें पैसा देने लगे तो उस पैसें में से थोड़ा अपने पास रख लेते बाकी सारा पैसा गाँव के मुखिया को यह कहकर लौटा देते, आप इस पैसे को गाँव की सफाई पर खर्च कर देंगे। गाँव की सफाई करने पर जब उन्हें लोग पैसा देते तो धीरे- धीरे पैसा इकट्ठा होने लगा। बाबा दो- तीन दिन से ज्यादा किसी गाँव में नहीं रूकते थे। गाँव से मिले पैसों का उपयोग वे सामाजिक बिकास और सामाज का शरीरिक विकास करने में लगाते थे। इस प्रकार उन पैसों से गाँव के स्कूल, धर्मशाला, अस्पताल और जानवरों के निवास स्थान बनवाते थे।

सन्त गाडगे बाबा एक सामाज सुधारक और घुमक्कड भिक्षुक थे। वे सच्चे निष्काम कर्मयोगी थे। वे दिन में स्वच्छता अभियान के तहत गाँव की सफाई करते तथा रात में महाराष्ट्र में सामाजिक विकास के उद्देश्य से साप्ताहिक उत्सव का आयोजन करते या फिर उसी रात को अपने कीर्तनों के माध्यम से जन-जन तक परोपकार एवं सामाज कल्याण का प्रसार करते थे। अपने कीर्तनों में वे अन्धविश्वास की भावनावों के विरूध्द लोगों को शिक्षित करते थे।

सन्त गाडगे का देवों के सामान सुन्दर एवं सुडौल शरीर, गोरा रंग, उन्नत ललाट तथा प्रभावशाली व्यक्त्वि सामाज के लोगों को सही एवं मानव कल्याणकारी विचार मानने के लिए प्रेरित एवं प्रभावित करता था। बाबा जी ने अपने जीवन में किसी को शिष्य नहीं बनाया था। इनके बताये मार्ग पर जिन लोगों ने चलने का प्रयास किया वह पत्थर से देवता बन गए तथा स्वयं बाबा जी एक ही जगह पर रह गए। जो दलित होने का अभिशाप है। इनके सहयोगी सभी जाति के थे तथा इनके कीर्तन में सभी जाति के लोग आते भी थे।

गाडगे बाबा भीख माँग कर सभी समाजिक कार्यो को किए लेकिन अपने जीवन में इस महापुरूष ने अपने रहने के लिए एक कुटिया तक नहीं बनवाएं। वे धर्मशालाओं के बरामदे व आसपास के किसी बृक्ष के नीचे ही अपनी सारी जिन्दगी को बिता दिए। एक लकडी, फटी- पुरानी चादर और एक मिट्ठी का बर्तन यही उनकी सम्पत्ति थी। उनमें सांसारिक ज्ञान एवं समस्याओं के सहन करने की इतनी क्षमता थी कि 5 मई 1923 को उनके इकलौते पुत्र गोविन्दा की पागल कुत्ता काटने से मृत्यु होनें पर जरा भी आहत नहीं हुए। खबर मिलते ही उन्होनें कहा कि "अनगिनत लोग

मर चुके हैं एक के लिए रोने से क्या फायदा?'' यह कह कर फिर अपने कीर्तन में लग गए। ऐसी स्थिति में इस घोर विपत्ति को बड़ी सहजता से सहन कर लिए थे। अन्ततः उनका मुख्य विचार था कि अशिक्षा सभी समस्याओं की जड़ है।

सन्त गाडगे के समाज सेवा का आरम्भ :

डेबूजी समाज सेवा करने के लिए गृहत्याग कर दिया। दलित समाज के लिए डेबू जी का नाम नया नहीं था। उन्हें एक भजन गायक, एक उपदेशक के रूप में लोग जानते थे। इनका झुण्ड चलते-चलते एक दलित बस्ती के पास रूका। बस्ती वालों ने पहली नजर में उन्हें कोई भिखारी समझा लेकिन नजदीक से देखने पर वे पहचान गए। सभी को उनकी वेषभूषा पर आश्चर्य हुआ। डेबू जी ने शरीर पर फटे पुराने-चिथड़े लपेट रखे थे। बस्ती के पास ही कूड़े का ढ़ेर था। उससे बदबू उठ रही थी। मक्खियां भिनभिना रही थी। सूअर लोट लगा रहे थे। उसी गन्दे ढ़ेर पर दलित बच्चें खेल रहे थे। डेबू जी ने बस्ती वालों को सम्बोधित किया कि "भाईयों और बहनों अपनी बस्ती के बगल में इस गन्दगीं को देखों। यह गन्दगी कई किस्म की बीमारियों का कारण बन सकती है। इसी गन्दगी की वजह से सवर्ण लोग हमें नीच कहते हैं हमारे लोग ताश खेलते है शराब पीकर पड़े रहते है। हमें अपने आस-पास समय रहते स्वच्छता अभियान चलाना होगा।'' सभी बस्ती वालों को सफाई के फायदे बताते हुए उन्होनें झाड़ू टोकरियां फावड़े मंगवा लिए और सफाई का कार्य सेवा शुरू कर दिए। शाम होते-होते सारा कूड़ा साफ हो गया। डेबू जी वहीं एक पेड़ के नीचे लेट गए। बस्ती वाले उनके लिए रोटी और दूध ले आए। अगली सुबह जब बस्ती वाले फिर डेबू जी के पास आए तो उन्होनें उसी स्थान पर वृक्षारोपड़ करवाया। फूल उगाने की क्यारियां बनवाई। डेबू जी ने उन्हें शराब, हुक्का बीड़ी न पीने, कर्ज न उठाने, अन्धविश्वास को न मानने, जीव हिंसा न करने और कड़ी मेहनत से अपना भविष्य संवारने की बातें बताई।

इस प्रकार गांव-गावं, बस्ती-बस्ती जन सेवा का अलख जगाते हुए घूमने लगे। चारों ओर उनकी चर्चाएं छिड़ने लगीं लोग उनके सेवाभाव के कायल होने लगे। उनकी शिक्षाओं पर चलने लगें देखते ही देखते डेबू जी गाडगे बाबा के नाम से विख्यात हो गए तथा जन सेवा का प्रतीक बन गए।

भारत में सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत :

सन्त गाडगे के बारे में तथा उनके कर्मो के बारें में लोग कम जानते है क्योंकि इतिहास ने दलित महापुरूषों के साथ भेदभाव किया। भारत के इतिहास नें मानवता के निर्माण में, राष्ट्र के निर्माण में तथा समाज के निर्माण में दलित महापुरूषों की अनदेखी किया है। सन्त गाडगे इन्ही अनदेखी का शिकार हुए है। हिन्दु धर्म नें दलितों को मनुष्यता के दायरे से बाहर कर दिया। उन्हें हर तरीके से अपमानित करने के लिए मनुवादी, ब्राह्मणवादी, वर्णवादी तथा जातिवादी व्यवस्था

बना दिया। भारतीय इतिहासकारों ने दलित महापुरूषों, योध्दाओं, बीरों तथा समाज सुधारकों को महत्वपूर्ण योग्यदान के बाद भी कोई स्थान नहीं दिया। जिसके वे हकदार थे। यह दलित बहुजनों के साथ बहुत बड़ा आन्याय है। दलित इस अन्याय को सदियों से सहन करते आ रहे हैं।

भारत के सन्दर्भ में वर्तमान प्रधानमंत्री मोदी जी द्वारा स्वच्छता की बात की जाती है। स्वच्छता अभियान चलाने से पहले स्वच्छता अभियान के जनक सन्त गाडगे बाबा का नाम तक नहीं लिया जाता। करूणा एंव परोपकार बाबा के मानवीय अभूषण थे। महाराष्ट्र सहित समस्त भारत उनकी कर्मभूमि था। शोषितों की सेवा को उन्होनें अपना उद्देश्य बना लिया। वे गाँव-गांव घूमकर कीर्तन के माध्यम से शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते थे। मानव की सेवा एंव कल्याण के लिए बाबा द्वारा कुछ सूत्र दिए गये थें जो निम्न है-

1. भूखे को अन्य दो।
2. स्वच्छता को अपनी आदत बनाओं।
3. प्यासे को पानी पिलाओं।
4. वस्त्रहीन को कपड़े पहनाओं।
5. गरीबों को शिक्षा में मदद करों।
6. बेघर को आश्रय दो।
7. अन्धे, पंगु, दु:खी तथा रोगी को दवा दो।
8. दुखी व निराश लोगों को हिम्मत दो।
9. पशु-पक्षी समेत सभी जीवों पर दया करों।
10. बेकारों को रोजगार दो।
11. गरीब- युवक-युवती की शादी में सहायता करो।

सन्त गाडगे अपने जीवन काल में किसी मन्दिर का निर्माण नहीं करवाए बल्कि उन्होनें मानवता के लिए स्कूल, धर्मशाला, अस्पताल, गोशाला, छात्रावास, बृध्दाआश्रम,परिश्रमालय आदि भवनों का निर्माण कराए। वे अपनें लिए एक कुटिया तक भी नहीं बनवाएं। बच्चों को शिक्षा देने के लिए कहा करते थे कि "शिक्षा एक बड़ी चीज है पैसे की तंगी हो तो खानें के बर्तन बेच दो, महिलायों के लिए कम दाम के कपड़े खरीदों, टूटे- फूटे मकान में रहो लेकिन अपनें बच्चों को शिक्षा दिए बिना मत रहो। शिक्षा से ही जीवन का अन्धकार दूर हो सकता है।" सन्त गाडगे बाबा एक समाज सुधारक एवं घुमक्कड भिक्षुक थे। वे घूमते-फिरते समाजिक शिक्षक भी थे। वे भारतीय गाँव में काफी सुधार किए। वे लोगों को पशुओं पर अत्याचार करने से रोकते थे तथा कहते थे कि उन्हें भी हमारे तरह दर्द होता है। वे पैरों में फटे चप्पल एवं सिर पर मिट्ठी का बना कटोरा रखकर चलते थे। वे समाज में चल रहे रंगभेद तथा जातिभेद की भावना को नहीं मानते थें। वे लोगों की सहायता के लिए हमेशा कहा

करते थे तथा कठिन परिश्रम, मानवता तथा परोपकार के पाठ पढ़ाया करते थे। वे अपनी पत्नी एवं अपने बच्चों को भी मानव सेवा एवं स्वच्छता के कार्यो में लगा दिए थे। सन्त गाडगे बाबा अपने अनुयाईयों से कहा करते थे कि जहाँ मेरी मृत्यु हो जाए वही मेरा अन्तिम संस्कार कर देना, मेरे लिए स्मारक एवं मन्दिर नहीं बनवाना, मेरा कार्य ही मेरा सच्चा स्मारक है इस प्रकार त्याग, परोपकार तथा मानवतावादी भावनाओं के मशीहा सन्त गाडगे बाबा समाज के लिए समाजिक क्रान्ति के अग्रदूत प्रतीत हुए।

सन्त गाडगे का समाज सुधार सम्बन्धी कार्य :

सन्त गाडगे समाज सुधार सम्बन्धी कार्य अपने कीर्तन के माध्यम से तथा लोगों को उपदेश देकर कर रहे थे। वही कार्य डा. अम्बेडकर राजनीति के माध्यम से कर रहे थे। गाडगे बाबा के कार्य ही था कि जहाँ डा. अम्बेडकर साधु-सन्तों से दूर ही रहते थे वही गाडगे बाबा का सम्मान करते थे। वे गाडगे से समय-समय पर मिलते थे तथा समाज सुधार सम्बन्धी मुद्दों पर उनसे सलाह-मशविरा भी करते थे। डा. अम्बेडकर और उनके सम्बन्धों के बारें में प्रो. विवेक कुमार लिखते है कि "आज के दलित नेताओं को इन दोनों से सीख लेनी चाहिए। विशेषकर विश्वविद्यालय एवं कालेज में पढ़े- लिखे आधुनिक नेताओं को, जो समाजिक कार्यकर्ताओं तथा समाज सुधार करने वाले मिशनरी तथा किताबी ज्ञान से परे रहनें वाले दलित कार्यकर्ता को तिरस्कार भरी नजरों से देखते हैं और बस अपने आप में ही मगरूर रहते है।" भारत में बाबा साहेब से ज्यादा कसी के पास डिग्रीरियां नहीं होगी फिर भी बाबा साहेब सन्त गाडगे से सामाजिक आन्दोलन एवं समाजिक परिवर्तन के विषय में मंत्रणा करते रहते थे।

एक दिन डेबू जी अपने खेत में आनाज के फसल पर बैठ कर पक्षियों को भगा रहे थे। उस समय वहां से एक साधू गुजर रहा था। साधू उनकी हरकत को बड़े कुतुहल से देखा। वह डेबूजी से पूंछता है कि क्या वह उस आनाज का मालिक है? डबूजी को एकाएक जैसा बोध होता है कि वह क्या है?, कौनं है?, जगत क्या है?, समाज क्या है? और फिर डेबूजी घर छोड़ देते है। वे इन सब सवालों का उत्तर जानने के लिए निकल पड़े। वह पैदल यात्रा करते, एक गाँव से दूसरे गांव दूसरे गाँव से तीसरे गाँव तथा तिसरे गाँव से चौथे, पाँचवे गाँव घूमा करते। वे निरन्तर चलते रहते और फिर उनके हाथ आती है- झाड़ू।

उनकी खोज पूरी होती है झाड़ू से वे इस निष्कर्ष पर पहुचतें हैं कि उनके आस-पास जैसा है, ठीक नहीं है। यहाँ सफाई की जरूरत है, लोगों की, उनके घर परिवार की, उनके दिमाक के नालियों की। वे झाड़ू पकड़ते है तथा इन सबकी सफाई शुरू कर देते हैं। लोगों के घर के सामाने की गन्दें नालिओं की सफाई करने लगते। उनके अनुसार ये कीचड़ से भरी नालियां है जो लोगो की सोच को गन्दा रखती है।

अगर लोगों के घर आँगन के सामाने कि इस गन्दीं एवं बदबूदार नालियों की सफाई कर दी जाए तो हो सकता है लोगों की सामाजिक सोच बदल सके। इस प्रकार उन क्षेत्रों मे सफाई अभियान चलाकर लोगों को सफाई के प्रति जागरूक किया।

भारत में स्वच्छता अभियान के जनक :

गाडगे बाबा घर छोड़ने के बाद गन्दगी देखी। लोग कूड़ा-कचरा खुले में, रास्तों के किनारे, बस्तियों के पास फेंक देते थे। खुले में और प्राय: रास्तों के किनारे शौच कर देते थे। घर में नहाने-धोने का पानी रास्तों में निकाल देते, गाँवों में सीढ़ीदार कूँए होते। जिसमें जूते पहनकर उतरते थे। उसी से नहाने और पीने के पानी भी प्राप्त करते थे। यही वजह थी कि वे गन्दगी से उपजी बिमारियों के शिकार हो जाते थे। मलेरिया, हैजा, आँतसोथ जैसी बिमारियां इस लिए फैल रही थीं। अपनी जनसेवा का शुभारम्भ उन्होनें स्वच्छता से ही किया। झाड़ू हमेशा उनके हाथ में रहता था। इस प्रकार उन्होनें देश वासियों को मूलमंत्र दिया। गांधीवादियों ने गांधी को महिमामंडित करने के लिए झूठ-मूठ ही यह प्रचारित कर रखा है कि गांधी जी स्वच्छता आन्दोलन के जन्मदाता थे जबकि कालक्रम के आधार पर सन्त गाडगे बाबा इसके जन्मदाता है। गाँधी जी बाबा से प्रभावित थे तथा उनसे भेंट करने को उत्सुक भी थे। जबकि गाडगे बाबा अपने जनसेवा मिशन में जुटे थे, गाँधी न केवल बाबा के नाम से 1935 से पहले परिचित थे बल्कि उनके महान कार्यो के बारें में जानते थे। बाबा से भेंट करने की इच्छा गांधी जी ने पूर्ण किया था। उस समय गाडगे बाबा का कीर्तन था। बी. जी. खैर ने गाँधी जी को सूचित किया तब 31 नवम्बर 1935 को वर्धा के सेवा ग्राम में गाडगे बाबा और गाँधी की मुलाकात हुई। दोनों के बीच अनेक विषयों पर बातें हुई। बाबा को गाँधी जी ने कुटिया के सामाने वाले चबूतरे पर बैठाया। हजारों लोग बाबा को देखने के लिए जुटे थे। कस्तूरबा गाँधी, रामदास गाँधी ने बाबा की रूचि का खाना परोसा। जिसमें मिर्च, प्याज, अरहर की दाल और ज्वार की रोटी थी। गाँधी जी ने गदगद होते हुए कहा कि "गरीब लोंग जैसा भोजन करते हैं, बाबा भी वैसा खातें है।"

सन्त गाडगे बाबा ने देखा कि दलित बस्तीयों में मक्खियां भिनभिना रही थी। इधर-उधर सुअर लोट लगा रहे थे। डेबू बाबा बस्ती के दलितों को संबोधित करते हुए कहा भाइयों और बहनों आप अपने घरों के बगल में इस गन्दगी को देखो यह गन्दगी कई किस्म की बीमारियों का कारण बनती हैं। भाई लोग ताश खेलते है, शराब पीने में लगे रहते है, बहने इधर- उधर की बातों में अपना समय नष्ट करती है, जबकि हमें अपने आस-पास खाली समय में स्वच्छता अभियान चलाना होगा। इसके साथ वह स्वयं सफाई में जुट गयें तो लोग उनका साथ देनें लगे। शाम तक बस्ती चमक गई। इस प्रकार वह एक गाँव की सफाई करते हुए दूसरे गांव की ओर

चलते गए। वे गांव-गांव, चर्चित होने लगे। इस प्रकार अब वह सन्त गाडगे बाबा के नाम से पुकारे जाने लगे।

सन्त गाडगे का धार्मिक सुधार आन्दोलन :

दलित जाति के अन्तर्गत धोबी कहीं पर सछूत तथा कहीं पर अछूत जातियों में शामिल की जाती है। ये धार्मिक कर्मकाण्डों, अन्धविश्वासों तथा समाज में फैली कुरीतियों में विश्वास नहीं करते थे। वे रंग-भेद तथा जाति-भेद का विरोध करते थे। जिससे उन्हें विश्वास हुआ की ईश्वर तीर्थस्थल एवं मूर्तियों में नहीं है। वह तो दरिद्रनाराण के रूप में मानव में व्याप्त है ईश्वर की प्रति तभी सम्भव है जब-

1- भूखें को भोजन, 2- प्यासे को पानी,
3- नग्गे को वस्त्र, 4- अनपढ़ को शिक्षा,
5- बेकार को रोजगार, 6- निराश को हिम्मत,
7- मुक्ति जीवन को अभय, प्रदान किया जाय।

गाडगे बाबा संत कबीर की तरह ही ब्राह्मणवाद, पाखंड़वाद और जातिवाद के विरोधी थे। वे हमेशा लोगों को यही उपदेश देते थे कि सभी मानव एक समान है इसलिए एक दूसरे के साथ भाईचारे एवं प्रेंम का व्यवहार करों। वे स्वच्छता पर विशेष जोर देते थे। वे हमेशा अपने साथ एक झाड़ू रखते जो स्वच्छता का प्रतीक था। वे कहते थे कि सुगन्ध देने वाले फूलों को पात्र में रखकर भगवान की पत्थर की मूर्ति पर अर्पित करने के बजाय चारों ओर बसे हुए लोगों की सेवा के लिए अपना खून खपाओ। भूखे लोगो को रोटी खिलाओं तो ही तुम्हारा जन्म सार्थक होगा। पूजा के उन फूलों से तो मेरा झाड़ू ही श्रेष्ट है। यह बात आप लोगों को समझ में नहीं आयेगी। गाडगे बाबा आजीवन सामाजिक अन्यायों के खिलाफ संघर्षरत रहे तथा अपने समाज को जागरूक करते रहे। उन्होनें सामाजिक कार्य और जनसेवा को ही अपना धर्म बना लिया था। वे व्यर्थ के कर्मकण्डों मूर्तिपूजा व खोखली परम्पराओं से दूर रहे। जाति प्रथा और अस्पृश्यता को बाबा सबसे घृणित और अधर्म कहते थे। उनका मानना था कि एसी धारणाएँ धर्म में ब्राह्मणवादियों ने अपनी स्वार्थसिध्दि के लिए जोडीं है। ब्राह्मणवादी इन्हीं मिथ्या धारणाओं के बल पर आज जनता का शोषण करके अपना पेट भरते है। इसीलिए वे लोगों को अंधभक्ति व धार्मिक कुप्रथाओं से बचने की सलाह देते हैं।

सन्त गाडगे के शिक्षा सम्बन्धी विचार :

भारत में अन्य सन्तों की भाँति गाडगे बाबा को भी औपचारिक शिक्षा ग्रहण करने का अवसर नहीं मिला था। उन्होनें स्वाध्याय के बल पर थोडा बहुत पढ़ना- लिखना सीख लिया था। शायद यह डा. अम्बेडकर का ही प्रभाव था कि गाडगे बाबा शिक्षा पर बहुत जोर देते थे। उन्होनें शिक्षा के महत्व को इस हद तक प्रतिपादित किया कि "यदि खाने की थाली भी बेचनी पड़े तो उसे बेचकर भी शिक्षा

ग्रहण करो। हाथ पर रोटी लेकर खाना खा सकते हो, पर विद्या के बिना जीवन अधूरा है।" वे अपने प्रवचनों में शिक्षा पर उपदेश देते समय डा. अम्बेडकर को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहते थे कि "देखा बाबा साहेब अम्बेडकर अपनी महत्वाकांक्षा से कितना पढ़े। शिक्षा कोई एक ही वर्ग की ठेकेदारी नहीं है। एक गरीब का बच्चा भी अच्छी शिक्षा लेकर ढ़ेर सारी डिग्रियाँ हासिल कर सकता है।" बाबा गाडगे ने अपने समाज में शिक्षा का प्रकाश फैलाने के लिए 31 शिक्षण संस्थाओं तथा एक से अधिक अन्य संस्थाओं की स्थापना की। बाद में सरकार ने इन संस्थाओं के रख-रखाव के लिए एक ट्रस्ट बनाया।

गाडगे बाबा डा. अम्बेडकर से किस हद तक प्रभावित थे? इसके बारे में चर्चा करते हुए संभवत: संघ लोक सेवा आयोग के प्रथम दलित अध्यक्ष डा. एम.एल. शहारे ने अपनी आत्मकथा 'यादों के झरोख' में लिखा है कि "बाबा साहेब अम्बेडकर से गाडगे बाबा कई बार मिल चुके थे। वे बाबा साहेब के व्यक्तित्व एंव कृतित्व से प्रभावित हो चुके थे। बाबा साहेब और संत गाडगे बाबा ने साथ तस्वीर खिंचवायीं थी। आज भी कई घरों में ऐसी तस्वीर दिखायी देती है।"

गाडगे बाबा को शिक्षा से बड़ा लगाव था। वे स्वंय तो अनपढ़ थे लेकिन ज्ञानी थे। वे समाज के सभी वर्गों को अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए प्रेरित करते थे। वे गरीबों से कहते थे- "अपने बच्चों को हर हालत में पढ़ना-लिखना सिखाओ। इसके लिए जरूरत पड़े तो घर के टूटे-फूटे बर्तन भी बेच देना, मिट्ठी के पात्र में रोटी लेकर खा लेना चाहे एक समय भूखा रहना पड़े या फिर कपड़ा कम पहनो लेकिन बच्चों को पढ़ाने-लिखाने का काम अवश्य करो।"

गाडगे बाबा कई शिक्षा संस्थाए स्थापित की। आज भी शहरी-ग्रमीण व आदिवासी क्षेत्रों में उन्हीं के द्वारा शुरू की गई कई शिक्षा संस्थाएं चल रही हैं। उन्होंने आश्रम पद्धति के कई स्कूल चलाएँ। उन्होंने 31 शिक्षण संस्थान स्थापित किये। यही नहीं कर्मवीर भाऊराव पाटिल की रैयत शिक्षण संस्थाएं, बाबासाहेब डा. आंबेडकर की पीपुल्स एजुकेशन सोसायटी तथा डॉ. पंजाब राव देशमुख की शैक्षिणिक संस्थाओं को दिल खोलकर दान किया। डां. पंजाब राव नें इसलिए कहा- गाडगे बाबा का आशीर्वाद मिलने के कारण ही मैं इतना शिक्षा का प्रसार कर सका। आचार्य केचे ने कहा था- "वे स्वंय में एक विद्यापीठ थे।"

एक बार उन्होंने लोगों को शिक्षा का महत्व समझाया। अछूत समाज के गरीब लोग थे। वे बोले बाबा क्या करें? बच्चों पढ़ाना तो चाहते है लेकिन पैसा ही नहीं है, बाबा ने उन्हें ललकारा "कहते हो पैसा नहीं है,पैसा नहीं है तो खाने की थाली बेंच डालों, हाथ पर रोटी खाओ। पत्नी के लिए कम कीमत की साड़ी खरीदो। समधी की खातिरदारी मत करो मगर बच्चों को पाठशाला में डाले बिना मत रहो"। वे कहते भले लोगों "हुक्का, तम्बाकू, पान-बीडी छोडो, शराब पीनी बन्द करो, देवताओं पर

तरह-तरह का चढ़ावा चढ़ाना बन्द करो, पाई-पाई जोडों और बच्चों की शिक्षा पर खर्च करो।"

शिक्षा से वंचित करके रखी हुई हिन्दू समाज के सभी दलित जातियों में अज्ञानता, अन्धविश्वास, गरीबी, फटेहाली, शराब की लत आमतौर पर विद्यमान थी। कुपोषण, बीमारी जैसे इनके लिए ही थी। खुराक की कमी तथा गांवों के सबसे निचले गन्दें हिसों में इनकी झोपड़ियां इसकी मुख्य बजह थी। उपर से बेगार के नाम पर कमरतोड़ मेहनत, जाति के नाम जलालत अलग से झेलनी पड़ती थी। इन आथाह दु:खों को यह शोषित समाज पिछले जन्मों के कर्मो का फल, भाग्य को लिखित समझकर भोग रहा था। विद्रोह करने का साहस ही नहीं बचा था। उसमें इतना विवेक नहीं था कि वह समाज अपने कर्मो को कोशता हुआ पशु के समान जीवन जी रहा था।

गाडगे बाबा जिस धोबी समाज में पैदा हुए थे उसकी भी ऐसी स्थिति थी। इस सन्दर्भ में 1920 में डब्लू ब्रिग्स नें 'द चमार' नामक पुस्तक में लिखी थी कि चमार भी धोबी के हाथ का खाना नहीं खाता था। केवल धोबी समाज की दशा का उन्होंने उस समय अवलोकन किया तथा देखा "सारे गाँव के मैले-कुछैले कपड़े इकट्ठा करना, घाट-घाट पर जा कर उसे धोना, सुखाना फिर उसे घर-घर जा कर पहुचाना। सर्दी हो, गर्मी हो या बरसात हो उन्हें अपना काम करना ही पड़ता था। दुख बीमारी में भी, भूखे पेट भी अपने मेहनत के बल पर उन्हें सवर्णों द्वारा उनके घर की जूठा एवं रूखा-सूखा जो भी मिल जाता था उसे खाकर वे पेट भरते थे। यह आहार उन्हें कुत्तों की तरह दूर से ही फेंकी जाती थी। ऐसी स्थित में दलित वर्ग मानसिक रूप से इतना टूट चुका था कि वह घोर अन्याय का हिंसा बन गया था।"

सन्त गाडगे का शराबखोरी तथा नशा उन्मूलन सम्बन्धी विचार :

सादा जीवन उच्च विचार चलते थे वे फटेहाल, साथ में सोटा तथा हाथ में मिट्ठी का फूटा बर्तन जिसमें खाना खाते तथा पानी भी पीते थे। परम्परागत रूप से धोबी समाज में किसी उत्सव एवं समारोह पर लोग खुशियां मनाकर शराब भी पीते थे। सन्त गाडगे बाबा इस पारम्परिक रिवाज को बन्द करवाने के प्रयास में अपनी बेटी के नामकरण समारोह के दौरान अपने परिचितों एवं सम्बन्धियों के लिए शराब की व्यवस्था नहीं किया। इसके बदले इसके स्थान पर मिठाई के साथ शुध्द शाकाहारी भोजन बनवाकर खिलाया। इस प्रकार वे लोगों को निर्देशित करते हुए कहा करते थे कि "नशे से व्यक्ति का विनाश तो होता ही है लेकिन उसका परिवार भी नष्ट हो जाता है।" वे लोगों को हुक्का एवं बीड़ी पीने से भी मना करते थे। इस प्रकार स्वस्थ्य समाज के निर्माण में अपना वैचारिक योगदान दिया।

सन्तगाडगे बाबा का अस्पृष्यता उन्मूलन सम्बन्धी विचार :

हिन्दू धर्म में फैली बुराईयों, ब्राह्मणवाद तथा पाखन्डवाद के वे विरोधी थे। वे समाज में व्याप्त रंग-भेद एवं जाति-भेद को समाजिक विकास एवं आर्थिक विकास के लिए रोड़ा एवं बांधा मानते थे। उन दिनों जातिवाद की भावना एवं छुआछूत अपने चरम पर था। प्रत्येक जाति का व्यक्ति खान-पान एवं विवाह सम्बन्धों की स्थापना अपने जाति में करने के लिए बाध्य था। जो जिस जाति में जन्म ले लेता था। उसी जाति के व्यवसाय को अपनाना अनिवार्य था। इस प्रकार उसी जाति का आजीवन सदस्य भी बना रहता था। कार्यो का विभाजन जाति के आधार पर हुआ था। किसी भी जाति के द्वारा दूसरी जाति के व्यवसाय को नहीं अपनाया जा सकता था। जातियां ऊँच एवं नीच के क्रम में बटी थीं। जिसमें सबसे निम्न जातियों को दो भागो में बाटा गाया था। एक सछूत जाति तथा दूसरा अछूत जातियां। समाज में सबसे ज्यादा समस्यायें अछूत जातियों में ही व्याप्त था। समाज के सभी बच्चों को शिक्षित करना अति अवश्यक है। अशिक्षा सभी समस्याओं की जननी है अशिक्षा से निर्धनता आती है तथा निर्धनता मानव जीवन का अभिशाप है। निर्धनता से मानव जीवन की सभी समस्यायें जन्म लेती है। सन्त गाडगे बाबा का मानना है कि व्यक्ति को सुशिक्षित बनाकर ही अस्पृष्यता सम्बन्धीं भावनाओं को खत्म किया जा सकता है।

सन्त गाडगे बाबा और डाक्टर अम्बेडकर का मिलन एवं समाजिक सम्बन्ध :

गाडगे बाबा डा. अम्बेडकर के समकालीन थे तथा उनसे उम्र में पन्द्रह साल बडें थे। वैसे तो गाडगे बाबा बहुत से राजनीतिज्ञों से मिलते-जुलते रहते थे। लेकिन वे डा. आंबेडकर के कार्यों से अत्याधिक प्रभावित थे। इसका कारण था जो समाज सुधार सम्बन्धी कार्य वे अपने कीर्तन के माध्यम से लोगों को उपदेश दे रहे थे, वही कार्य डा. आंबेडकर राजनीति के माध्यम से कर रहे थे। गाडगे बाबा के कार्यों की ही देन थी कि जहाँ डा. आंबेडकर तथाकथित साधु-संतों से दूर ही रहते थे, वहीं गाडगे बाबा का सम्मान करते थे। वे गाडगे बाबा से समय-समय पर मिलते रहते थे तथा समाज-सुधार सम्बन्धी मुद्दों पर उनसे सलाह-मशविरा भी करते थें। डा. अम्बेडकर और गाडगे बाबा के सम्बन्ध के बारें में समाजशस्त्री प्रो. विवेक कुमार लिखते है कि "आज कल के दलित नेताओं को इन दोनों से सीख लेनी चाहिएं। विशेषकर विश्वविद्यालय एवं कालेज में पढ़े-लिखें आधुनिक नेताओं को, जो सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा समाज-सुधार करने वाले मिशनरी तथा किताबी ज्ञान से परे रहने वाले दलित कार्यकर्ताओं को तिरस्कार भरी नजरों से देखते हैं और बस अपने आप में ही मगरूर रहते है। क्या बाबा साहेब से भी ज्यादा डिग्रियाँ आज के नेताओं के पास है, बाबा साहेब संत गाडगे से आंदोलन एवं सामाजिक परिवर्तन के विषय में मंत्रणा करते थे। यद्यपि उनके पास किताबी ज्ञान एवं राजसत्ता दोनों थे। अत: हमें समझना होगा कि सामाजिक शिक्षा एवं किताबी शिक्षा भिन्न हैं और प्रत्येक के पास दोनों नहीं होती। अत: इन दोनों प्रकार की शिक्षा में समन्वय की जरूरत है।"

गाडगे बाबा के वैसे तो लाखों अनुयायी थे। जिनमें मजदूर से लेकर मन्त्री तक थे। लेकिन विश्व के महापुरूषों में एक बाबासाहेब डा. आंबेडकर भी उनके प्रशंसक थे। वे यदा-कदा उनसें भेंट भी करते थे। कहते है कि बाबा साहेब डा. आंबेडकर गाडगे बाबा को किसी बोधिसत्व सा सम्मान देते थे। वे उन्हें गुरू ज्योतिबा फुले के बाद सबसे बड़ा त्यागी जनसेवक मानते थे। बाबासाहेब का किसी भी साधु-सन्त में यकिन नहीं था। न ही उनके पास इतना समय था लेकिन गाडगे बाबा में उनकी विशेष श्रध्दा थी क्योकि गाडगे बाबा जन सेवा करने वाले बाबा थे। अछूतोध्दार में लगे थे। वे अगले-पिछले जन्मों के प्रपंच एवं झांसा खड़े नहीं करते थे। आँखें मूंद कर जीवन सुधारने की ढ़कोसलेबाजी नहीं सिखाते थे। यही वजह है कि वे बाबासाहेब डां. आंबेडकर को भाते थे। गाडगे के अन्य कई समकालीन नेताओं से अच्छे सम्बन्ध किसी के साथ भी नहीं थे। लेकिन बाबा साहेब के जैसा सम्बन्ध किसी के साथ नहीं थे। दोनों में अनुयायियों जैसा नहीं बल्कि प्रशंसकों का रिश्ता था। दोनों ही एक दूसरे के प्रशंसक थे। यही वजह है कि गाडगे बाबा ने अछूतों के लिए बनाई गई पंढ़रपुर की चोखामेला धर्मशाला बाद में बाबासाहेब डां. अम्बेडकर को भेंट कर दी थी।

वैसे तो गाडगे बाबा और डॉ. आंम्बेडकर एक दूसरे से कई बार मिले थे लेकिन 14 जुलाई 1949 की उन दो महाशक्तियों की भेंट का विशेषरूप से उल्लेख किया जाता है। गाडगे बाबा तब दादर में बीमार थे। डॉ. आंबेडकर उन दिनों आजाद भारत के पहले कानून मन्त्री थे। बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर गाडगे बाबा के प्रयासों से बहुत प्रभावित थे। कभी-कभी वे उनका कीर्तन-उपदेश सुनने भी जाते थे। जब बाबासाहब डॉ. आंबेडकर चलें जाते तो गाडगे बाबा अपने अनुयाईयों से डॉ. अम्बेडकर की जय के नारे लगवाते। 1942-43 ई. को गाडगे बाबा ने मानवाड़ में बाबासाहेब डां. अम्बेडकर को शोषितों-पीड़ितों का उध्धारक कहा था। बाबा साहेब ने भी कई अवसरों पर गाडगे बाबा को शाल ओढ़ा कर सम्मानित किया था।

जब बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर जी का आकस्मिक परिनिर्वाण (6 दिसम्बर 1956) को हुआ तो वे भीतर से टूट से गए क्योंकि वे मानते थे कि भारत के अछूतों को डां. आंबेडकर के रूप में एक मशीहा मिल गया है। उन्होनें दु:खी मन से कहा "दलित समाज के बाबा साहेब सात करोड़ बालकों को छोड कर चले गए। बाबासाहेब की मृत्यु से ये बच्चें निराधार हुए। अभी-अभी ये बच्चें बाबा साहेब का हाथ पकड़कर चलने लगे थे। वही हाथ भगवान नें निकाल लिया। बाबासाहेब कुछ दिन रहते तो ये बालक चलने-फिरने की हिम्मत करने लगते।"

सन्त गाडगे बाबा द्वारा स्थापित लोकोपयोगी संस्थाएँ :

भारत के इस दलित महापुरूष द्वारा 60 संस्थाओं की स्थापना कराई गयी। उनके अनुयायियों द्वारा लगभग 42 संस्थाओं का भी स्थापना करायी गयी। ये

संस्थाएं गरीब, असहाय, दलित, आदिवासी,अन्धें, लंगड़ें-लूल, कोढी, निराश्रित सभी जातियों के लिए, गरीब बच्चों को पढ़ने के लिए लायब्रेरी, तथा सभी शोषितों के सहायतार्थ एवं कल्याणार्थ निर्मित की गयी थी। गाडगे बाबा के मृत्यु के बाद मिशन द्वारा अनेक संस्थाएँ स्थापित की गयी। इसके अतिरिक्त गाडगे बाबा मिशन की बहुत सारी योजनाएँ सरकारी सहयोग से चलाई जा रही है। इनके मिशन में स्कूल, अस्पताल, धर्मशालाएं,महिलाश्रम,कन्यापाठशाला, वृध्दाश्रम, छात्रावास तथा परीश्रमालय आदि बनवायें गये थे। जो महाराष्ट्र राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित है।

भारत एवं महाराष्ट्र सरकार द्वारा सन्त गाडगे के नाम पर चलाये गये अभियान एवं स्थापना :

सन्त गाडगे का सम्पूर्ण जीवन एवं उनका कार्य केवल महाराष्ट्र के लिए ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत राष्ट्र के लिए प्रेरणा का स्त्रोत रहा है। गाडगे बाबा की मृत्यु के बाद उनके नाम पर चलाये गये कुछ अभियान एवं स्थापनाएँ निम्न प्रकार है-

(1) मई सन 1983 ई. को महाराष्ट्र सरकार ने नागपुर विश्वविद्यालय को स्थापित कर सन्त गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती, महाराष्ट्र की स्थापना की।

(2) गाडगे की 42 वीं पूर्ण तिथि के अवसर पर 20 दिसम्बर 1998 को भारत सरकार ने उनके सम्मान में एक डाक टिकट जारी किया।

(3) सन 2001 में महाराष्ट्र सरकार नें अपनी स्मृति में सन्तगाडगे बाबा ग्राम स्वच्छता अभियान शुरू किया।

अत: अन्तत: कहा जा सकता है कि सन्त गाडगे बाबा 20 वीं सदी के समाज सुधारकों में से एक बिलक्षण प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। वे पढ़े-लिखें नहीं थे लेकिन डॉ. अम्बेडकर से प्रभावित होकर थोडा-बहुत पढ़ना, लिखना सीख लिए थे। वे अपने दलित समाज के बच्चों की शिक्षा के विकास के साथ-साथ सभी समाज के बच्चों की शिक्षा पर बल देते थे। उनका विचार था कि ऐसा करके ही हम स्वस्थ्य सामाज एवं राष्ट्र की कल्पना कर सकते है। वे अपने समाज के साथ-साथ सभी समाजों के हित के लिए अनोखें कार्य किये थे। वे एक सन्त ही नहीं एक समाज सुधारक भी थे। उनके कार्यो का मुख्य विन्दु स्वच्छता एवं जनजागरूकता अभियान तथा दलितों, शोषितों एवं पिछडों को मानवतावादी समानता के माध्यम से विकास की मुख्य धारा से जोड़ना था। सन्त गाडगे का विचार कबीर एवं रैदास की विचारधारा से मिलती-जुलती है। आज बाबा का शरीर हमारें बीच में नहीं है। लेकिन उनकी शिक्षाएँ आज भी प्रासांगिक है। जिससे हमें प्रेरणा की जरूरत है।

सन्दर्भ :

1. डां. विमलकीर्ति, गाडगे बाबा सचित्र जीवनी,(तृतीय संस्करण-2013), सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली, पृ0-10
2. दास, भगवान एवं सिंह, सतनाम, धोबी समाज का संक्षिप्त इतिहास(2011) सम्यक, प्रकाशन, नई दिल्ली,पृ-88-109
3. राजेन्द्र प्रसाद, सन्तगाडगे: जीवन और दर्शन,(मासिक पत्रिका- अगस्त-2013), फारवर्ड प्रेस, सं. आयवन कोस्का, पृष्ठ-52
4. डां. विमलकृर्ति, गाडगे बाबा सचित्र जीवनी,(तृतीय संस्करण-2013) सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली- पृष्ठ-05एवं54
5. शहारे, डा0. एम. एल., यादों के झरोखें(आत्मकथा),(2005) नटराज प्रकाशन, नई दिल्ली-पृष्ठ-25
6. Internet Data Collected (गाडगे महराज की जीवनी),(Publised By: Jivani.org) avlabal on 4-02-2022

***

वासुदेव कृत युधिष्ठिरविजयम् महाकाव्य में परिलक्षित राजनीति के विविध पक्ष

*परशुराम तिवारी**

अंग्रेजी का पालटिक्स (POLITIC) शब्द युनानी के पॉलिस (POLIS) शब्द से बना है जिसका अर्थ है नगर या राज्य। राजनीति की यह व्युत्पत्ति संकुचित अर्थ में है। विस्तृत अर्थ में राजनीति से तात्पर्य है कि सम्पूर्ण धर्माधर्म का ज्ञान,कर्तव्य–अकर्तव्य, पाप–पुण्य कराने वाली पद्दति जो संगठित एवं विस्तृत भूभाग में अपना आधिपत्य रखती है उसे राजनीति एवं इस प्रकार के शासन को राजा की नीति के नाम से जाना जाता है। आचार्य चाणक्य ने लिखा है कि श्रेष्ठ मनुष्य इस राजनीति को विधिवत पढ़कर लोक व्यवहार में दक्ष हो जाते हैं। वेद, पुराण, स्मृति आदि इसके स्रोत होते हैं। आचार्य चाणक्य कहते हैं कि इसको जानने वाला सब अर्थात् सर्ववेत्ता हो जाता है –

अधीत्येदं यथाशास्त्रं नरो जानाति सत्तमः ।
धर्मोपदेश विख्यातं कार्याकार्यं शुभाशुभम् ।।
तदहं सम्प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया ।
येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते ।।[1]

राजशेखर ने चार विद्याओं (तर्क, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति) में दण्डनीति को प्रमुख स्थान दिया है। इस दण्ड नीति को स्मृति ग्रन्थों में राज्य की उत्पत्ति से पूर्व ही उत्पन्न माना गया है और वो भी ईश्वरीय सत्ता से प्रणीत –

ब्रह्मतेजोमयं दण्डसृजत्पूर्वमीश्वरः।।[2]

मनुस्मृति में कहा गया है कि– राजाग्निसम्पूर्ण सम्पत्ति को नष्ट कर देती है। अग्नि तो उसी को जलाती है जो उसके सम्पर्क में आता है, जबकि राजारूपी क्रोधाग्नि सम्पूर्ण परिवार को जला डालती है–

एकमेव दहत्यिनर्नरं दुरूपसर्पिणिम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम्।।[3]

राजनीति या दण्डनीति के सात अंग होते हैं–

स्वाम्यमात्यो जनपदा दुर्गादण्डस्तथैव च।
कोषो मिंत्र च धर्मज्ञं सप्तांगं राज्यमुच्यते।।[4]

---

* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सातों प्रकार के दण्डों से युक्त 'युधिष्ठिरविजयम् महाकाव्य' में राजनीति के विविध पक्ष दिखाई देते हैं। चतुर्थ–आश्वास में द्रोपदी युधिष्ठिर को कठोरतापूर्ण नीति दुर्योधन के साथ अपनाने को कहती है–

भवति महाराज नता तीक्ष्णे न मृदौकृतोपहारा जनता।
त्रिजगद्भानुं नमति त्रिसंध्यमिन्द्रं न तत्प्रभानुन्नमति।[5]

अर्थात् उपहारों को लिए हुए जनसमूह कठोर और क्रुर पुरुष के सामने ही नत होता है कोमल व्यक्ति के सामने नहीं यह जगत त्रय सूर्य की प्रभा से प्रेरित हुआ तीन सन्ध्याओं वाले भानु को नमस्कार करता है।

राजनीति में धर्मनीति को श्रेष्ठ बतलाया गया है। मनु ने तो ''धर्मो रक्षति रक्षितः'' का उद्घोष ही किया है। यहाँ भी द्रौपदी के द्वारा बार–बार युद्ध करने के लिए प्रेरित किये जाने पर भी युधिष्ठिर धर्मनीति की चर्चा करते हुए कहते हैं–

इह नाम तनुमहे यं गुर्वनुचर्येति धर्म मतमनुमहेयम्।
अत्र सबाधाः स्यामः स्फुटं यदि रणं क्षणादिवाधास्यामः।।[6]

इस वनवास में हम लोग गुरुओं के अनुसार जिस महान् अत्याज धर्म का पालन कर रहे हैं, उसमें हम लोग सबाध हो जाऐंगे।

राजनीति के चार अंग (साम, दाम, दण्ड और भेद) लोक स्वीकृत माने गये हैं। जिनमें साम प्रेम की नीति होती है अर्थात् शत्रु को प्रेम से समझाया जाए। युधिष्ठिरविजयम् महाकाव्य में दोनों ओर से अर्थात पाण्डव पक्ष से भी तथा कौरव पक्ष से भी साम नीति का परिचय दिया गया है जहाँ धृतराष्ट्र संजय को पाण्डवों के पास भेजे है, वहीं दूसरी ओर पाण्डवों के पक्षधर बनकर श्रीकृष्ण गये थे। युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण से हस्तिनापुर जाने की प्रार्थना करते हुये कहते हैं कि आप वहाँ जाकर मेरे स्वजनों के साथ सन्धि उत्पन्न किजिए–

विह्वलवपुरङ्गः त्वा याचे यदुवीर कौरवपुरं गत्वा।
सन्धि पंकजनयन स्वयधिया स्वैर्जनैरपङ्कः जनय नः।।[7]

श्रीकृष्ण ने साम नीति का परिचय देते हुये पहले आधा राज्य की माँग की पर दुर्योधन द्वारा अस्वीकार कर दिये जाने पर केवल पाँच राज्य मांगे–

अपि विरसं ग्रामाणां पञ्चकमथ वा शमाय संग्रामाणाम्।
तेभ्यः पौरव देहि प्रीति प्रीतेषु पौरवदेहि।।[8]

दुर्योधन से जब युधिष्ठिर हार गये तब शर्त के अनुसार द्रौपदी को दुर्योधन के हवाले करना पड़ा। दुःशासन ने जब चीर हरण शुरू किया तब सभी पाण्डव एवं धृतराष्ट्र समेत कौरव, भीष्म पितामह, कृपाचार्य सभी उस सभा में थे, परन्तु कोई भी आगे रक्षार्थ नहीं आया।

द्रौपदी का रूद्रन यद्यपि युधिष्ठिर को डिगा नहीं सका पर लोक स्वीकृ ति द्रोपदी के पक्ष में थी और यही लोक स्वीकृति राजनीतिक दृष्टि से युधिष्ठिर की पहली विजय थी क्योंकि सभी दुर्योधन की निन्दा कर रहे थे–

नमतिं सा रोदा कम्पयद्धर्मजस्य सारोदात्ताम्।
जयति तदा वै रिपुमांल्लोकाक्रुष्टो भवेद्यदा वैरिपुभान्।[9]

राजनीतिक दृष्टि से क्षमा कर देना, शरण में अपना लेना एक महत्वपूर्ण नीति है। भगवान राम ने विभीषण को शरण में ले लिया था यद्यपि वह शत्रु का भाई था। ''युधिष्ठिरविजयम्' के पञचम उच्छवास में जब भीम अपने बल के अद्वितीय पराक्रम लगाने के बाद भी हनुमान की पूंछ नहीं हटा सके तो शरण मे आ गये–

कपिवर म तत्त्वेन ब्रूह्यमात्मानं कृपासमेतवेन।
भक्तिरसादङ्ग त्वं नमामि शरणं च याभि सादं गत्वा।।[10]

पलायन करना अर्थात भाग जाना युद्ध नीति का ही अंग माना गया है। भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा इस नीति को अपनाये जाने के कारण उन्हें रणछोण कहा जाता है। इस महाकाव्य में भी इस नीति को विराट पुत्र उर अपनाता है। जब शत्रुओं के विशाल समूह को देखता है तो वह घबड़ा जाता है, और अपनी जान पर खतरा समझ भागने लगता–

सोऽथाभियानादरिभिः प्रदिश्यमानोऽवरुह्य यानादररिभिः।।
व्यपयातः समहासिः सुघनुस्त्यक्त्वा जनैस्ततः समहासि।।[11]

युद्धधर्म राजनीति का एक हिस्सा है। इसके अन्तर्गत संग्राम भूमि में केवल अपनी ही रक्षा नहीं करनी चाहिये, बल्कि जिसके लिये जो लड़ रहा हो, उसे उसकी रक्षा का भी ध्यान आवश्य रखनी चाहिये। स्वपक्ष की रक्षा होने से संग्राम में राजा की रक्षा होती है। कौरव–पाण्डव युद्ध के दौरान जब कौरव पक्ष का भूरिश्रवा पाण्डव पक्ष के सात्यकि को घसीट कर जैसे ही मारना चाहा अर्जून ने उसकी भूजा काट दी–

तस्य तु स महावलयं भूरिश्रवसो भुजंग समहा वलयम्।
अहरत्सासिं हस्तं पार्थो बाणेन रंहसा सिंहस्तम।।[12]

यदि अर्जुन सात्यकि की रक्षा नहीं करते तो उन्हें पाप लगता है, क्योंकि वह तब उनके सामने ही मारा जाता, अतः राजनीतिक दृष्टि से योद्धा का यह भी धर्म उचित ही है। भेदनीति के तहत कुटनीति का प्रयोग होता है। युद्ध जीतने के लिये यहाँ सबसे बड़ा हथियार होता है। जब द्रोण को मारना कठिन हो गया था तब श्रीकृष्ण ने कुटनीति

का प्रयोग किया और युधिष्ठिर से कहलावा कि ''अश्वत्थामा मारा गया''

अथ परसेनागस्य द्रोणाय वधं न वैशसे नागस्य।
अश्वत्थामानमयं नृपतिर्हतमभ्यधाद् व्यथमानमयन्।।[13]

इसी प्रकार छलनीति भी राजा नीति का ही एक अंग होता है। जब पुत्र मोह में पड़कर शोक संतप्त द्रोण ने धनुष बाण रख दिया और बैठ कर विलाप करने लगे तब दुरुपद पुत्र धृष्टधुम्न ने खड़ग से द्रोणाचार्य की गर्दन को अलग कर दिया–

अथ समर करालोऽलं खड्गं विभ्रद्यिवाकरकरालोलम्।
ग्रीवां कृत्तां तस्य द्रुपदसुतो व्यधित पापकृन्तस्य।।[14]

सात्यकि ने भी भूरिश्रवा को निहत्थे अनशन करते रहने पर ही छल से मार दिया एवं इसी प्रकार रात्री के अन्धेरे में सोते समय अश्वत्थामा ने भी द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को मार डाला था।

शत्रुप्रंशसा युद्ध की एक नीति है जिसमें स्वजनों या अपनों में बैर होने पर शत्रु की प्रशंसा बढ़ा चढ़ाकर की जाती है जिससे साथ का रहने वाला योद्धा हतोत्साहित होकर या तो युद्ध करने की अभिलाषा छोड़ देता है या फिर भय से मारा जाता है। युधिष्ठिर विजयम् में कर्ण के सेनापति शैल्य कर्ण को धिक्कारता है और अर्जुन की प्रशंसा करके कर्ण को हतोत्साहित कर रहा है वह कहता है कि हे निर्लज्ज कर्ण! जब तुम्हारे राजा दुर्योधन को, शत्रु वन समूह के लिए दावाग्नितुल्य अर्जुन (गन्धर्वों से छुड़ाकर) आवेग के साथ लाये उस समय तुम कहा थे? हर्ष को त्याग दो, यम की ओर आँख मत उठाओं। जिस अर्जुन ने देवताओं के पति इन्द्र को भी जीता है भला उसे जीतने के लिये इस पृथ्वी पर कौन पुरूष समर्थ हो सकता है?

अरिवनसंचयदावः पार्थावरमहृत सरभसं च यदा वः।
गतवान् पाप क्व त्वं तदा तवाहो गतत्रपापकत्वम्।।
हितगिरमाकर्णय मन्नियच्छदर्प प्रपश्य मा कर्ण यमम्।
येन जितो नाकौकः पतिर्जये तस्य समुचितो ना कौ कः।।[15]

इसी प्रकार द्वेषनीति राजनीति के अन्तर्गत न होते हुए भी शत्रु को नष्ट करने के लिए ज्वालाऽग्नि होती है तभी तो धृत राष्ट्र उसी ईष्याऽग्नि के वशीभूत होकर भीम को चूर्ण कर देने के भाव को चूर्ण कर देने के भाव से आलिंगन करने की इच्छा से लौह भीम को चूर्ण कर देते हैं –

अथ रूषित तमायायः स्थापितमददान्नृपाययतमायाय।
भीमं नकारिरजः स चामुना शिलष्यता पुनरकारिरजः।।[16]

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि राजनीति द्वेष से की जाये या प्रेम से, कहीं धर्म के लिये होती है तो कहीं अधर्म के लिये। जहाँ धर्म के लिये हो वह श्रेष्ठ मानी जाती है तथा अधर्म वाली अश्रेष्ठ, ''युधिष्ठिरविजयम्'' महाकाव्य में दोनों प्रकार की नीतियाँ भरी पड़ी है। महाकवि वासुदेव इस महाकाव्य में राजनीति के पक्षों का जैसा सुन्दर वर्णन करते हैं वैसा अन्यत्र दुर्लभ जान पड़ता है। अतः हम कह सकते हैं कि कवि ने अपनी लेखनी से समाज के सम्मुख एक सुन्दर झांकी समाज के विविध पक्षों का प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. चा0 नीति, 1/2 3
2. 'मनुस्मृति', 7/18
3. मनुस्मृति 7/1
4. अग्निपुराण, 225/11
5. युधिष्ठिरविजयम् 4/25
6. वही, 4/38
7. वही, 6/77
8. वही, 6/115
9. वही, 3/79
10. वही, 5/19
11. वही, 6/39
12. वही, 7/111
13. वही, 7/133
14. वही, 7/135
15. वही, 8/14,15
16. वही, 8/96

***

स्त्री स्वाधीनता की चेतना और बंग महिला

*शाज़िया बी**

स्त्री स्वाधीनता का अर्थ स्त्री की दैहिक और वैचारिक स्वाधीनता दोनों से है। इस संदर्भ में यदि सरसरी तौर पर देखा जाए तो स्त्री स्वाधीनता सम्बन्धी महत्वपूर्ण विषय को उभारने में साहित्यकारों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज स्त्री स्वतंत्र तो है लेकिन पूरी तरह से नहीं क्योंकि वह आज भी सामन्ती और पितृसत्तात्मक घेरों से मुक्त नहीं हो पायी है। पितृसत्तात्मक समाज स्त्री को स्वाधीन तो करना चाहते हैं पर खुद से नहीं.... 'तुम कहीं भी जाओ पर रहो मेरी हदो में1 जबकि। A Relationsip fo freedom, out fo freedom and into freedom यह पाना तो अभी बाकी है।

जॉन स्टुअर्ट मिल स्त्रियों की पराधीनता पर विचार करते हुए लिखते हैं 'प्राचीन काल में बहुत से स्त्री-पुरूष दास थे। फिर दास प्रथा के औचित्य पर प्रश्न उठने लगे और धीरे-धीरे यह प्रथा समाप्त हो गई लेकिन स्त्रियों की दासता धीरे-धीरे एक किस्म की निर्भरता में तबदील हो गई'2 मिल स्त्री की निर्भरता को पुरातन दासता की चली आ रही परम्परा को ही आधार मानते हैं। जिसमें तमाम सुधारों के बावजूद आज भी स्त्री-पुरूष असमानता के मूल में वही आदिम नियम है जिसके तहत ताकतवर ही सबकुछ होता है। लेकिन बुद्ध काल तक आते-आते स्त्री-पुरूष में असमानता की स्थिति कम दिखाई देने लगती है। इस सम्बन्ध में डा0 सुनिता लिखती हैं ''नर से पृथक नारी की सत्ता नहीं तो, नारी से पृथक नर की भी कोई सत्ता नहीं है।''3

भारतीय समाज में स्त्री-अधीनस्थता की समूची सामाजिक व्यवस्था एकांगी अनुभव व सिद्धांत पर आधारित है। 19वीं शताब्दी में समाज में सामान्यतः लोग स्वतंत्रता, न्याय और तर्कबुद्धि संगत अवधारणाओं को आत्मसात कर चुके थे लेकिन स्त्री-पुरूष सम्बन्ध को लेकर उनकी धारणा थी कि शासन करने, निर्णय लेने और आदेश देने की स्वभाविक क्षमता पुरूष में ही है। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही समाज के विविध क्षेत्रों में स्त्री ने अपनी एक अलग पहचान बनानी शुरू कर दी थी। आज ऐसा कोई क्षेत्र नहीं

---

* शोधार्थी- (पीएच.डी.), हिन्दी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली

है जहाँ स्त्रियाँ अपनी स्वतंत्रता और अधिकारों के लिए संघर्ष करती नहीं दिखाई देती हैं। इतिहास में ऐसी अनेक विदुषियाँ जैसे घोषा, अपाला, लोपा, मुद्रा, विश्वतरा, गार्गी, मैत्रेयी, अनुसूया, अरूंधती मध्ययुग में मीराबाई, रत्नावली और रानी दुर्गावती आदि चिंतनशील छवियां भी दिखाई देती हैं जिन्होंने अपने विचारों एवं साहित्य के माध्यम से पितृसत्तात्मक समाज को स्त्री स्वतंत्रता के लिए सोचने पर विवश कर दिया था।

हिंदी कहानी की पहली स्त्री लेखिका बंग महिला (राजेंद्र बाला घोष) को कहा जाता है भवदेव पांडये ने बंग महिला के लिए लिखा है ''बंग महिला हिंदी-नवजागरण की पहली छापामार लेखिका थी।''6 हिंदी में स्त्री विमर्श का आरंभ महादेवी वर्मा की 'श्रृंखला की कड़ियां' (1942) से माना जाता है। भारतीय स्त्री के सम्बन्ध में वह लिखती है कि ''नारी में परिस्थितियों के अनुसार अपने बाह्य जीवन को ढाल लेने की जितनी सहज प्रवृत्ति है अपने स्वभावगत गुण न छोड़ने की आंतरिक प्रेरणा उससे कम नहीं है। इसलिए भारतीय नारी पुरूष से अधिक सतर्कता के साथ अपनी विशेषताओं की रक्षा कर सकी है। दुख को वह शक्ति परीक्षा के रूप में ग्रहण कर सकती है।''4 महादेवी वर्मा स्त्री के व्यक्तित्व में कोमलता व सहानुभूति के साथ साहस व विवेक की अपेक्षा भी रखती है। तभी स्त्री अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अपेक्षित स्वाधीनता पा सकेंगी। इसी साहस और विवेक के साथ बंग महिला साहित्य में कदम रखती हैं और अपने लेखन के माध्यम से स्त्री को उसकी स्वाधीनता के लिए ललकारती हैं, वह देश से पहले स्त्री स्वतंत्रता की बात करती हैं, उसके सम्पूर्ण अधिकारों और शिक्षा की बात करती हैं। ''स्त्री का लिखना मात्र ही एक अनकहा क्रांतिकारी कदम है क्योंकि जब स्त्री लिखती है तो वह सामाजिक शिरकत कर रही होती है। यह सामाजिक शिरकत बिना किसी स्पष्ट धारणा और विचार के संभव नहीं। यहां तक कि रूढ़िवादी धारणाएँ और विचार भी स्त्री के अनुभव का हिस्सा है और अगर वे स्त्री के लेखन में दर्ज हो रही है, तो उनकी एक ऐतिहासिक भूमिका है।''5

साहित्य में हिंदी की आरंभिक सशक्त महिला कहानीकार के रूप में बंग महिला महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जो अपने लेखन द्वारा पुरूष सत्तात्मक समाज की रुढ़ परम्पराओं पर कटू प्रहार तो करती ही हैं साथ ही स्त्रियों की शिक्षा और उनके विकास की भी बात करती है। ''जहाँ मनुष्य के

विकास की बात हुई, वहीं जागृति है''--7 यह जागृति के लेखन में भी दिखाई देती है। जहाँ वह स्त्रियों को रूढ़ तथा जड़ परम्पराओं के शिकंजे में कसने वाली शास्त्रीय व्यवस्थाओं को नकारती हुई, स्त्री शिक्षा को एक नई दिशा प्रदान करती हैं। 19वीं शताब्दी के आखिरी दशकों में स्त्री शिक्षा के प्रति व्याप्त रूढ़ जकड़बन्दी का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। उस समय का पुरूष वर्ग नारी-शिक्षा को लेकर छद्म मर्यादा की खाल ओढ़े था, नारियों को शुद्धता एवं शुचिता के नाम पर शिक्षा प्राप्त करने नहीं दिया जाता था। इसलिए आगे चलकर बंग महिला ने पुरूष वर्ग की ओछी धारणाओं को नकारते हुए अशिक्षा और जड़ता से आक्रांत स्त्रियों को जगाने की पुरजोर कोशिश की। उन्होंने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक लिखा है, ''शिक्षित हो जाने से लज्जाहीन हो जाने का कोई कारण नहीं है|''8

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उनके इस कथन पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि ''जो शिक्षा मनुष्य को मेम या निर्लज्ज बना दे, वह शिक्षा नहीं वरन् कुशिक्षा है। स्त्री शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है, नम्र, सहिष्ण और शांत बनाना, गृह कार्यों में दक्ष करना। साथ ही उचित-अनुचित का ज्ञान पैदा करना। जो शिक्षा निर्लज्ज बनाती है उसके हम विरोधी हैं।''9 आचार्य शुक्ल की इस टिप्पणी से स्पष्ट होता है कि नारी-शिक्षा के प्रति उनकी अवधारणा रूढ़िवादी और पारम्परिक मान्यताओं से पूरी तरह से मुक्त नहीं हो पाई थी बल्कि नारियों की शिक्षा के प्रति उनकी दृष्टि सीमित थी। उनकी इस टिप्पणी से यह प्रतीत होता है मानो वह दबी जबान में स्त्री शिक्षा का ही विरोध कर रहे हों। इस सन्दर्भ में सुमन राजे अपने शोध ग्रंथ में लिखती हैं- ''सबसे पहली बात तो यह कि उन्नीसवीं सदी का नवजागरण एक प्रकार से स्त्री केन्द्रित था। पहली बार, नारी को एक मानवी की तरह पहचानने की कोशिश की जा रही थी। जैसे ही यह कोशिश शुरू हुई, यह साफ दिखाई देने लगा कि साहित्येतिहास से स्त्री निर्वासित है।''10 वे आगे लिखते हैं - ''आधुनिक काल तक आते-आते रामचन्द्र शुक्ल परिस्थतियों के अनुकूल साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या का अपना संकल्प भूल जाते हैं और अपनी पूरी शक्ति गद्य के विकास को दिखाने में लगा देते हैं। इस समय तक महिलाएं गद्य और पद्य दोनों में ही अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही थीं लेकिन साहित्येतिहास में उन्हें वह जगह नहीं दी गई जिसकी वे हकदार थीं।''11

मूलतः अहिंदी-भाषी होते हुए भी बंग महिला का हिंदी के प्रति विशेष अनुराग था। प्रारंभ में उन्होंने बंग्ला कहानियों का हिंदी अनुवाद किया। तत्पश्चात हिंदी में मौलिक कहानियां लिखी- 'दुलाईवाली' तथा 'भाई-बहन'। इनकी रचनाएं 'सरस्वती' तथा' 'कन्या मनोरंजन' आदि सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। जिनका संग्रह शुक्ल द्वारा संपादित 'कुसुम संग्रह' में किया गया है। कहानी परम्परा को लेकर सुमन राजे लिखती हैं ''...इसके उपरान्त बंग महिला का स्थान है जो मिर्जापुर निवासी प्रतिष्ठित बंगाली सज्जन बाबू राम प्रसन्न घोष की पुत्री और बाबू पूर्णचन्द की धर्मपत्नी थीं। उन्होंने बहुत सी कहानियों का बंग्ला से अनुवाद तो किया ही, हिंदी में कुछ मौलिक कहानियाँ भी लिखीं, जिनमें से एक थी 'दुलाईवाली'। इतिहासकार 'दुलाईवाली' को मौलिक कहानी मानते हैं, और यह भी स्वीकार करते हैं कि इस विधा को बंग महिला ने समृद्ध किया परन्तु उसे प्रथम कहानी का दर्जा नहीं देते। कारण बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिए।''12

पहली कहानीकार न सही, कहानीकार के रूप में बंग महिला का जिक्र तो किया गया। परन्तु उसके बाद तो किसी महिला कथाकार का सन्दर्भ ही नहीं है। जबकि उस समय सामाजिक प्रक्रिया के केन्द्र में स्त्री थी। 'ब्रह्मसमाज' ने स्त्रियों के लिए अलग से निकालनी शुरू कर दी थी। जिसमें 'वामा बोधिनी' 'अबला बान्धव', 'महिला', 'अन्तःपुर', 'भारती', 'भारत महिला' एवं 'सुप्रभात' कुछ महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ हैं। वहीं आर्य समाज, प्रार्थना समाज और दकन एजूकेशन सोसायटी जैसी संस्थाओं ने स्त्री शिक्षा में सक्रिय भूमिका निभाई थी। ''आश्चर्य है कि तब भी साहित्य का सरोकार मात्र पुरूष से था। लेखक पुरूष, पाठक पुरूष और समीक्षक पुरूष''13 तत्कालीन समाज में स्त्री शिक्षा के प्रति इतना विरोध था कि बंग महिला भी स्त्रियों की उच्च शिक्षा का समर्थन नहीं कर पाई थीं, फिर भी उन्होंने लिखा ''यदि लड़कियों को और कुछ नहीं तो मातृ भाषा की शिक्षा मिल जाया करे तो एक पत्र लिखने के लिए उनको दूसरों का मुँह न ताकना पड़े''14

''स्त्री-लेखन की वैचारिकी का मुख्य बिंदु उसके अनुभव से तय होता है। अनुभव आधारित लेखन स्त्री के लिए जगह बनाता है। स्त्री लेखन और उसकी वैचारिकी की कोई शास्त्रबद्ध पद्धति नहीं है।''15 यही विशेषता बंग महिला की है, उनके लेखन में उनका अनुभव स्पष्ट दिखाई देता है वे

अपने लेखन में बाल-विवाह, पर्दापर्था, पतिव्रता धर्म जैसी मान्यताओं का जमकर विरोध करती हैं, वे लिखती हैं ''हिन्दू ललनाओं को तो बाल्यावस्था में ही माता-पिता से अलग होना पड़ता है।''16 उन्होंने पर्दा-प्रथा को स्त्रियों के विकास में सबसे बड़ी बाधा माना है, विवाह के बाद उन्हें भी पर्दा-प्रथा जैसी क्रूर प्रथा का निर्वाह करना पड़ा था। वे लिखती हैं- ''ब्रह्म समाजियों और पादरियों में पर्दे का अधिक चलन न रहने के कारण उनकी स्त्रियाँ प्रायः शिक्षित होती हैं।''17 बंग महिला पतिधर्म को महत्वपूर्ण मानती हैं इस सम्बन्ध में वह 'हमारे देश में स्त्रियों की दशा' शीर्षक अपने लेख में लिखती हैं- ''विवाह के उपरान्त हिन्दू बालिका जिस गुरूभाव से पति को देखती है वह भाव चिर काल तक उसके मन में बना रहता है।.... जिस पतिदेव के लिए हिन्दू नारी इतना त्याग स्वीकार करती हैं, उस पर उसकी प्रगाढ़ प्रीति पर क्या सन्देह?''18 ये बातें उन्होंने शास्त्रीय परम्पराओं को ध्यान में रखकर लिखी थीं, लेकिन पति-पत्नी की समकक्षता को लेकर जब उनकी प्रगतिवादी विचारधारा उन्हें उद्वेलित करती है तब उनके सामने स्त्रियों का विवश रूप ही उभर कर आता था। इस सन्दर्भ में 'पतिव्रता धर्म' को लेकर 'सीमन्तनी उपदेश' की लेखिका कहती हैं-

''ग्राह ग्रसित पुन बात रस तेह पर बीछू मारय
ताह पियासी वारणी कहो कवन उपचारे ?''19

अर्थात ''क्या इनको अविधा के ग्राह ने नहीं घेरा है? क्या इन पर जबरदस्ती नहीं? क्या बगैर पसंद किए हुए शादी बिच्छू के जहर से कम दुःख देती है? जिस पर इस धर्म की शराब मिलाना। क्या इससे भी बढ़कर दुनिया में कोई पास होगा? यह पतिव्रता धर्म नहीं, खुद-मतलबी धर्म है।''20 उक्त संदर्भ में यह कहना अनुचित न होगा कि स्त्री के लेखन में स्त्री के अनुभूति का आधार अलग-अलग होता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बंग महिला में स्त्री स्वाधीनता की चेतना कूट-कूट कर भरी हुई है। उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से प्रायः स्त्री शिक्षा, बाल-विवाह, पर्दाप्रथा, पतिव्रता धर्म से जुड़ी सभी समस्याओं को उठाया है, साथ ही उन्होंने तत्कालीन साहित्यकारों की पुरूषवादी मानसिकता का खण्डन भी किया है। यद्यपि वह हिन्दी की पहली महिला सशक्त कहानीकार थीं लेकिन तत्कालीन आलोचकों ने उनके योगदान का यथोचित मूल्यांकन नहीं किया। स्त्री स्वाधीनता के विषय में बंग महिला के चिंतन के

जो गहन, मौलिक, बहुआयामी और प्रगतिशील विचार थे उस पर हिन्दी साहित्य के सुधी आलाचकों ने काफी कम लिखा है। यह सचमुच एक दुखद विडंबना है और विचार का प्रश्न भी।

सन्दर्भ ग्रंथ :

1. डा. जया जादवानी, 'स्त्री आजादी में साहित्यकारों की कैसी भूमिका है?' (लेख), सं. राकेशरेणु, फरहत परवनी, अंक 11, मार्च, 2016, बहस में स्त्री विशेषांक, आजकल प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, पृष्ठा सं0-39
2. जॉन स्टुअर्ट मिल, अनुवाद प्रगति सक्सेना, स्त्रियों की पराधीनता, सं. कात्यानी, सत्यमय राजकमल प्रकाशन, दरियागंज,नई दिल्ली, पहला संस्करण-2002,पृ0 सं. 6
3. डॉ. सुनीता, 'साहित्य विमर्श बनाम स्त्री विमर्श' (लेख), सं. राकेशरेणु, फरहत परवीन, अंक 11, मार्च, 2016, बहस में स्त्री विशेषांक, आजकल प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, पृष्ठ सं0-33
4. प्रकाश शुक्ल, 'महादेवी वर्मा रचना और विवेचना ' (लेख), सं. नानक चंद, अंक-4, अक्टूबर-दिसम्बर, 2006, इन्द्रप्रस्थ भारतीय हिन्दी अकादमी, दिल्ली, संस्करण 1988, पृष्ठ सं. 32
5. डॉ. सुधा सिंह, 'स्त्री लेखन की वैचारिका' (लेख), सं. राकेशरेणु, फरहत परवीन, अंक 11, मार्च, 2016, बहस में स्त्री विशेषांक, आजकल प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, पृष्ठ सं0-7
6. डॉ. भवदेव पाण्डेय, बंग महिला नारी-मुक्ति का संघर्ष वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008, पृष्ठ सं. 7
7. प्रो. हेमलता महिश्वर, 'हिन्दी नवजागरण और दलित' (लेख) सं. राकेशरेणु, जय सिंह, अंक 1, मई 2017, भारतीय नवजागरण और हिंदी विशेषांक, आजकल प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, पृष्ठ सं0-37
8. डॉ. भवदेव पाण्डेय, बंग महिला नारी-मुक्ति का संघर्ष वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ी, द्वितीय संस्करण, 2008, पृष्ठ सं. 10
9. वही, पृष्ठ सं. 19
10. डॉ. सुमन राजे, 'इतिहास में स्त्री' , (शोध), भारतीय ज्ञानपीठ लोधी रोड, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण-2015, पृष्ठ सं. 16

11. वही, पृष्ठ सं. 17
12. डॉ. सुमन राजे, 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' , भारतीय ज्ञानपीठ लोधी रोड, नई दिल्ली, पांचवां संस्करण-2015, पृष्ठ सं. 282
13. वही, पृष्ठ सं. 13
14. डॉ. भवदेव पाण्डेय, बंग महिला नारी-मुक्ति का संघर्ष वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008, पृष्ठ सं. 11
15. डॉ. सुधा सिंह, 'स्त्री लेखन की वैचारिका' (लेख), सं. राकेशरेणु, फरहत परवीन, अंक 11, मार्च, 2016, बहस में स्त्री विशेषांक, आजकल प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, पृष्ठ सं0-7
16. डॉ. भवदेव पाण्डेय, बंग महिला नारी-मुक्ति का संघर्ष वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008, पृष्ठ सं. 17
17. वही, पृष्ठ सं. 18
18. वही, पृष्ठ सं. 19
19. एक अज्ञात हिन्दू औरत, सीमन्तनी उपदेश, सं. डॉ. धर्मवीर वाणी प्रकाशन, दरियांगंज, नयी दिल्ली, पहला मूल संस्करण-1982, 2004, 2006, पृष्ठ सं. 107
20. वही, पृष्ठ सं. 107

***

यूपीए सरकार द्वारा शिक्षा के विकास पर किये गये खर्च का अध्ययन

*कामेश सिंह**

सारांश

शिक्षा को प्रकाश व शक्ति का ऐसा स्रोत माना जाता है जो हमारी शारीरिक, मानसिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों तथा क्षमताओं का निरन्तर एवं सामंजस्यपूर्ण विकास करके स्वभाव को परिवर्तित करती है और उसे उत्कृष्ट बनाती है। शिक्षा निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ अन्य राज्य स्तरीय पार्टियों के गठबंधन को यू.पी.ए. संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन कहा जाता है। सरकार द्वारा शिक्षा पर व्यय उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना रक्षा उत्पाद या बाँध बनाने या नदियों को जोड़ने पर होने वाला व्यय है। यूपीए सरकार ने अपने शासनकाल में में कुल 1969382.0 करोड़ रूपये व्यय किये। यूपीए सरकार मनमोहन सिंह द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा 1–8 पर 50.86. प्रतिशत, माध्यमिक शिक्षा 9–12 पर 30.03 प्रतिशत, प्रौढ़ शिक्षा पर 0.44 प्रतिशत, भाषा विकास पर 0.41 प्रतिशत, उच्च शिक्षा विश्वविद्यालय शिक्षा पर 12.52 प्रतिशत, तकनीकी शिक्षा पर 4. 73 प्रतिशत, सामान्य शिक्षा पर 1.00 प्रतिशत व्यय किया गया। अधिकांश 50.86 प्रतिशत प्रारम्भिक शिक्षा 1–8 पर व्यय किया गया। शोधपत्र का उद्देश्य यूपीए सरकार द्वारा शिक्षा के विकास पर किये गये खर्च को ज्ञात करना है। शोधपत्र की शोधविधि ऐतिहासिक एवं मात्रात्मक है।

कुंजी – यूपीए गठबन्धन, शिक्षा व्यय, शिक्षा स्तर, कल्याणकारी राज्य।

प्रस्तावना

शिक्षा सामाजिक बदलाव एवं गतिशीलता की गति, प्रकृति और स्वरूप तीनों को प्रभावित करती है, वहीं दूसरी ओर शिक्षा की प्रकृति विस्तार एवं गुणक्ता दोनों स्तर पर सामाजिक बदलाव और गतिशीलता से प्रभावित होती है। शिक्षा न केवल बदलाव का एक सशक्त माध्यम ही बनती है, बल्कि उस बदलाव की दशा एवं दिशा भी निर्धारित करती है, उसके विकल्प को तय करती है। किसी भी सामाजिक–सांस्कृतिक– आर्थिक–राजनीतिक आयामों में विस्तारित हो रहा समाज शिक्षा से उसमें संचरण होने की उम्मीद करता है। किसी भी देश के सामाजिक, आर्थिक एवंराजनैतिक विकास में शिक्षा का अद्वितीय योगदानहोता है। इसलिए राष्ट्रीय विकास एवं सामाजिकपुनर्निर्माण की गति में तीव्रता लाने के लिए शिक्षा पर व्यय आवश्यक है। आधुनिक भारतीय शिक्षा पर व्यय विविध स्तरों पर संचालित है, यथा– प्राथमिक स्तर, माध्यमिक स्तर, उच्च स्तर एवं प्राविधिक स्तर।

---

* शोधार्थी, शिक्षाशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

शिक्षा को प्रकाश व शक्ति का ऐसा स्रोत माना जाता है जो हमारी शारीरिक, मानसिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों तथा क्षमताओं का निरन्तर एवं सामंजस्यपूर्ण विकास करके स्वभाव को परिवर्तित करती है और उसे उत्कृष्ट बनाती है। शिक्षा निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। बालक जन्म से लेकर मृत्यु तक लगातार कुछ न कुछ सीखता रहता है। शिक्षा शब्द का बहुत ही सीधा–सादा और सरल अर्थ है – सीखना–सिखाना। परन्तु अपने लक्ष्यों, सीखने–सिखने की प्रक्रियाओं, कार्यों, अपेक्षाओं, प्रभावों और वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्यों में यह एक बहुत ही व्यापक और साथ ही, जटिल प्रक्रिया है। इसे एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया माना जाता है, परन्तु इसके उद्देश्यों का स्वरूप इतना उलझा हुआ और अस्पष्ट रहता है कि अंततः यह एक उद्देश्यहीन प्रक्रिया बन कर रह जाती है। जहाँ इससे एक ओर इतिहास की धरोहर को संभाले रखने की अपेक्षा की जाती है, वहीं दूसरी ओर, माना जाता है कि यह वर्तमान का पथ अवलोकित करे परन्तु इसकी दृष्टि किसी अज्ञात पथ की ओर हो, यानि इसका स्वरूप भविष्यद्रष्टा का हो। इसका कार्य भविष्यवक्ता हो। इसी प्रकार जहाँ एक ओर इसे व्यक्ति के विकास के सशक्त साधन के रूप में देखा जाता है, तो वहीं 'सामाजिक विकास' का साधन भी यही मानी जाती है। एक ओर इसे अपने आस–पास की भौगोलिक परिस्थितियों एवं पर्यावरण से जोड़ने का प्रयास किया जाता है, तो दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय समझ, सहयोग व शांति का उत्तरदायित्व भी इसी के कंधे पर रहता है।[1] महात्मा गाँधी के अनुसार, शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक और आदमी में, शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में जो कुछ सर्वोत्तम है उसे समग्र रूप से अभिव्यक्त करना है। साक्षरता शिक्षा का न तो अन्त है और न आरम्भ ही है। वह उन साधनों में से एक है जिससे पुरूष और स्त्री को शिक्षित किया जा सकता है। साक्षरता स्वयं कोई शिक्षा नहीं है।[2]

शिक्षा व्यवस्था व स्वरूप

शिक्षा वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति के लिए ही नहीं अपितु सभ्यता, संस्कृति आदि के विकास के लिए भी अनिवार्य है। भारतीयों ने शिक्षा के इस गहन महत्त्व को समझ लिया था और इसीलिए भारत में सुदूर अतीत में भी शिक्षा का सुंदर प्रबन्धन किया गया था। 26 जनवरी, 1950 ई. को में जब भारतीय संविधान लागू हुआ तो उसके अन्तर्गत शिक्षा के उत्तरदायित्व का विभाजन इस प्रकार किया गया – 1. केन्द्र सरकार के शैक्षिक कार्य, 2. राज्य सरकार के शैक्षिक कार्य, एवं केन्द्र व राज्य सरकारों के समेकित उत्तरदायित्व। शिक्षा व्यवस्था के लिये शिक्षा मंत्रालय बना और उसकी सहायता के लिए केन्द्र स्तर पर कई संस्थायें बनीं, जैसे – केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद्, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, आल इण्डिया काउंसिल ऑफ टेक्निकल एजूकेशन, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद्, राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् आदि। राज्यों में शिक्षा की देखभाल

शिक्षामंत्री करता है। इसकी सहायता के लिये शिक्षा सचिव और शिक्षा निदेशक होते हैं। प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था स्थानीय निकाय और राज्य सरकार दोनों मिलकर करते हैं।

प्राथमिक शिक्षा

21वीं सदी प्राथमिक शिक्षा के नाम है। प्राथमिक शिक्षा दो भागों में विभक्त है, 1. प्राथमिक स्तर (कक्षा 1 से 5 तक) एवं 2. उच्च प्राथमिक स्तर (कक्षा 6 से कक्षा 8 तक)। अध्ययन में इन दोनों स्तरों को प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। इसका कार्य छात्रों की बुनियाद मजबूत करना है। प्राथमिक शिक्षा औपचारिक शिक्षा की आरम्भिक कड़ी व आधारशिला है जो बालक के समाजीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। औपचारिक शिक्षा का आधारभूत स्तम्भ होने के कारण इसे प्राथमिक शिक्षा, बेसिक शिक्षा, प्रारम्भिक शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, आधारभूत शिक्षा आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। इन सभी का मुख्यतः एक अर्थ है यद्यपि समय–समय पर लेखकों, समितियों, आयोगों ने विभिन्न शब्दावलियों का प्रयोग किया है। बालकों को 6 वर्ष से 14 वर्ष तक दी जाने वाली शिक्षा प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत आती है जो कक्षा एक से कक्षा 8 तक चलती है।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा 10+2 की शिक्षा प्रणाली का एक स्तर है, जिसमें हाईस्कूल एवं इण्टरमीडिएट की शिक्षा आती है। इसके दो सोपान हैं हाईस्कूल एवं इण्टरमीडिएट। माध्यमिक शिक्षा व्यावसायिक शिक्षा, उत्पादन कार्य, रोजगार तथा शिक्षण क्रियाओं के बीच कड़ी का काम करती है। इस स्तर की शिक्षा से विद्यार्थियों को जहाँ एक ओर उच्च शिक्षा प्राप्तकरने के लिए तैयार किया जाता है वहीं दूसरी ओर उन्हें कार्य की दुनिया में प्रवेश दिलाने के योग्य बनाया जाता है।[3] माध्यमिक शिक्षा शैक्षिक संरचना की मध्यस्त कड़ी है, जिसके नीचे प्रारम्भिक शिक्षा और ऊपर विश्वविद्यालयीय शिक्षा होती है। माध्यमिक शिक्षा में 14 से 18 वय वर्ग के बालक–बालिकायें शिक्षा प्राप्त करते हैं। इसके अन्तर्गत कक्षा 9 से 12 तक शिक्षा दी जाती है। कक्षा 9 एवं 10 को उच्च माध्यमिक तथा कक्षा 11 और 12 को उच्चतर माध्यमिक स्तर कहा जाता है। इसलिये कक्षा 9 से 12 तक की शिक्षा देने वाले विद्यालयों को उच्चतर माध्यमिक विद्यालय कहा जाता है।

प्रौढ़ शिक्षा

स्वतन्त्र भारत में विद्यालय बाहर की शिक्षा के लिए जो कार्यक्रम चलाये गये, वे प्रौढ़ शिक्षा एवं समाज शिक्षा के नाम से प्रचलित हुए। भारत तथा दूसरे देशों में भी जहाँ निरक्षरता की समस्या गम्भीर थी। प्रौढ़ शिक्षा का तात्पर्य सामान्यतः साक्षरता से लिया गया, जिसका कार्य विद्यालय की सामान्य शिक्षा के अभाव की पूर्ति करना था। इसके अन्तर्गत सामान्य पढ़ना–लिखना और साधारण गणित का शिक्षण सम्मिलित किया जाता था।

धीरे–धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि प्रौढ़ शिक्षा को अब साक्षरता तक ही सीमित नहीं रखना चाहिये, अपितु उसमें स्वास्थ्य, सामाजिक ज्ञान, कृषि, तकनीकी ज्ञान, नागरिकता, उद्योग आदि को भी सम्मिलित किया जाना चाहिये। 2 अक्टूबर 1978 को राष्ट्र स्तर पर प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का शुभारम्भ हुआ। इसके तीन तत्त्व हैं – जागरूकता, व्यवहारिकता एवं साक्षरता का समावेश किया गया।

उच्च शिक्षा

कॉलेज एवं विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा को उच्च शिक्षा के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। भारत में उच्च शिक्षा 12वीं कक्षा की स्कूली शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् कॉलेज एवं विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा को उच्च शिक्षा के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है।[4] इसके अन्तर्गत सामान्यतया स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा आती है। वर्तमान उच्च शिक्षा का सकारात्मक पहलू यह है कि इसने भारत में लोकतंत्र की स्थापना, राजनीतिक चेतना, ज्ञान प्राप्ति के प्रति ललक, अन्तर्राष्ट्रीयता की भरावना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सृजनात्मकता एवं कलात्मकता को प्रोत्साहन, ख्याति लब्ध वैज्ञानिक, साहित्यकार, शिक्षाशास्त्री, न्यायविद्, प्रशासक देकर, भारत के सामाजिक आर्थिक, वैज्ञानिक, शैक्षिक उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।[5] उच्च शिक्षा राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र को विकसित करती है और हर एक क्षेत्र को शिक्षित करके देश में समृद्धि लाती है। उच्च शिक्षा का स्तर ही देश की प्रगति और समृद्धि का मापदण्ड है। देश के सर्वांगीण विकास में महिलाओं की विशेष भूमिका होती है। विश्वविद्यालयों को महिलाओं की शिक्षा उन्हें कौशल और ज्ञान से सुसज्जित करने के लिए निरन्तर कार्य करना चाहिए।[6]

वर्तमान में, विश्वविद्यालय/विश्वविद्यालय स्तरीय संस्थाओं के मुख्य घटक हैं – केन्द्रीय विश्वविद्यालय, राज्य विश्वविद्यालय, समविश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय स्तरीय संस्थाएँ। इनका वर्णन इस प्रकार है–

केन्द्रीय विश्वविद्यालय – केन्द्रीय अधिनियम द्वारा स्थापित अथवा निगमित विश्वविद्यालय।

राज्य विश्वविद्यालय – प्रान्तीय अधिनियम द्वारा अथवा राज्य अधिनियम द्वारा स्थापित अथवानिगमित विश्वविद्यालय।

निजी विश्वविद्यालय – ऐसे विश्वविद्यालय जो किसी राज्य/केन्द्रीय अधिनियम के माध्यम से किसी प्रायोजक निकाय अर्थात् सोसायटी पंजीकरण अधिनियम 1860 अथवा राज्य में उस समय लागू किसी अन्य सम्बन्धित कानून के तहत पंजीकृत सोसायटी अथवा सार्वजनिक न्यास अथवा कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 25 के अन्तर्गत पंजीकृत कम्पनी द्वारा स्थापित किया गया है।

समविश्वविद्यालय – विश्वविद्यालयवत संस्था, जिसे सामान्यतः समविश्वविद्यालय के नाम से जाना जाता है, का आशय एक ऐसी

उच्च–निष्पादन करने वाली संस्था से है जिसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) अधिनियम, 1956 की धारा 3 के अन्तर्गत केन्द्र सरकार द्वारा उस रूप में घोषित किया है।

राष्ट्रीय महत्व की संस्था – संसद के अधिनियम द्वारा स्थापित और राष्ट्रीय महत्व की संस्था के रूप में घोषित संस्था।

राज्य विधानमण्डल अधिनियम के अन्तर्गत संस्था – किसी राज्य विधानमण्डल अधिनियम द्वारा स्थापित अथवा निगमित कोई संस्था।

तकनीकी शिक्षा

वर्तमान युग विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का उत्कर्ष काल है। नित्य नई प्राविधियाँ विकसित हो रही हैं तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्पर्द्धा से श्रेष्ठता व गुणवत्ता के नवीन आयाम जन्म ले रहे हैं। प्राविधिक शिक्षा विभाग द्वारा निजी क्षेत्र के सहयोग से उत्तरोत्तर सुधार की प्रतिबद्धता के साथ उच्च स्तर के तकनीशियन विकसित करके कार्य क्षेत्र की आकांक्षाओं के अनुरूप उनकी सुसंगत आपूर्ति करने हेतु प्रयास किये जा रहे हैं। इसका कार्य कौशल में विस्तार कर विद्यार्थियों को आत्मनिर्भर बनाना है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ अन्य राज्य स्तरीय पार्टियों के गठबंधन को यू.पी.ए. संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन कहा जाता है। वर्ष 2004 में लोक सभा चुनावों में न तो एनडीए और न ही कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत मिला, जिसके कारण कुछ राज्य स्तरीय दलों और कांग्रेस ने संधि कर ली और इस संधि यानी गठबन्धन को यूनाइटेड प्रोग्रेसित एलायंस यूपीए नाम दिया गया। इसमें आईएनए (भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस), द्रमुक, भारतीय संघ मुस्लिम लीग, केरल कांग्रेस, क्रांतिकारी समाजवादी पार्टी, कम्युनिस्ट मार्क्सवादी पार्टी, भारत की शांति पार्टी, राष्ट्रीय लोकदल, महान दल अपने सदस्यों के रूप में सम्मिलित थे। इस गठबन्धन के कारण कांग्रेस 2004 में दुबारा सत्ता में आयी। 2004 से 2009 एवं 2009–2014 मनमोहन सिंह ने नेतृत्व में प्रधानमंत्री के रूप में सरकार बनायी।

सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण

संतोष मेहरोत्रा एवं एनरिक डेलामोनीका (1998)[7] ने अपने अध्ययन 'पांच कम आय वाले देशों में प्राथमिक शिक्षा पर घरेलू लागत और सार्वजनिक व्यय : एक तुलनात्मक विश्लेषण' में पाया कि 1993 और 1995 के बीच यूनिसेफ ने पांच देशों – बुर्किना फासो, भूटान, म्यांमार, युगांडा और वियतनाम में प्राथमिक शिक्षा की लागत का विश्लेषण प्रायोजित किया। निजी और सार्वजनिक लागत के सापक्ष महत्व के संदर्भ में उन अध्ययनों में से कुछ परिणाम इस अध्ययन में प्रस्तुत किए गए हैं। यह लागत संरचना प्रत्येक शिक्षा प्रणाली में प्रमुख समस्या क्षेत्र से जुड़ा है। उच्च कुल लागत वाले देशों में कम नामांकन पाए जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति आय के सापेक्षा उच्च शिक्षक मजदूरी से उच्च कुल लागत का परिणाम होता है। लागत को

कम करने, अधिक संसाधनों और बढ़ती दक्षता बढ़ाने के उद्देश्य से कुछ नीतियों का भी विश्लेषण किया जाता है।

यूसुरा मेकदाद एवं अज़ीज़ दहमानी (2014)[8] ने अपने अध्ययन 'अल्जीरिया में शिक्षा और आर्थिक विकास पर खर्च : औपचारिक परीक्षण' में शिक्षा और आर्थिक विकास के बीच सम्बन्धों का अध्ययन किया गया है। अध्ययन में पाया कि शिक्षा पर सार्वजनिक खर्च अल्जीरिया में सकारात्मक आर्थिक विकास को प्रभावित करता है। हालांकि आर्थिक विकास पर सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव शिक्षा के लिए है। शिक्षा पर व्यय आर्थिक विकास प्रभावित करता है।

ईएस उरी (2014)[9] ने अपने अध्ययन 'राष्ट्रीय आय, शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय और शैक्षिक प्राप्ति : एक तुलनात्मक विश्लेषण' ने अपने अध्ययन में शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय आय समूहों में शैक्षणिक प्राप्त के साथ कमजोर सहसम्बन्ध पाया गया। तथ्य यह है कि संसाधनों के कुशल उपयोग के मुद्दों, अन्य कारकों को छोड़कर शिक्षा पर व्यय का प्रभाव शैक्षिक प्राप्ति को और अधिक प्रभावी लगते हैं।

प्रवेश तमांग (2011)[10] ने अपने अध्ययन पत्र भारत के आर्थिक विकास पर शिक्षा व्यय का प्रभाव में व्यक्त किया है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में शिक्षा और आर्थिक विकास में खर्च के बीच सम्बन्धों को फिर से परिभाषित करने की आवश्यकता है। शिक्षा एवं आर्थिक विकास के बीच लम्बे समय से सम्बन्ध रहा है। यह पत्र भारतीय अर्थव्यवस्था में शिक्षा और आर्थिक विकास में खर्च के बीच संबंधों को फिर से परिभाषित करने की कोशिश करता है। इससे पहले अनुभवजन्य परिणाम भारतीय संदर्भ में संबंधों के बारे में मिश्रित परिणाम बताते हैं। एक अर्थमितीय मॉडल 1980–2008 से समय श्रृंखला के विश्लेषण के लिए लागू किया जाता है, और प्राप्त परिणामों से संकेत मिलता है कि शिक्षा के खर्च और आर्थिक विकास के बीच लंबे समय तक संबंध है। त्रुटि–सुधार के अनुमान बताते हैं कि प्रति श्रम शारीरिक पूंजी की तुलना में शिक्षा पर आर्थिक व्यय का आर्थिक विकास पर कम प्रभाव पड़ता है। यह देखा जा सकता है कि प्रति श्रम भौतिक पूंजी में 1: की वृद्धि से सकल घरेलू उत्पाद में प्रति श्रम जीडीपी में 0.28: की वृद्धि होगी, और प्रति श्रम शिक्षा पर सरकारी खर्च में 1: की वृद्धि से प्रति श्रम जीडीपी में 0.11: की वृद्धि होगी।

एजूकेशन एक्सपेन्डीचर एण्ड इकोनॉमिक ग्रोथ (2012)[11] यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है कि, शिक्षा आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण निर्धारक कारक है। प्रसिद्ध एडम स्मिथ, रोमर, लुकास और सोलो जैसे शास्त्रीय और नवशास्त्रीय अर्थशास्त्री ने योगदान पर जोर दिया उनके आर्थिक विकास के सिद्धांतों और मॉडलों को विकसित करने में शिक्षा का पत्र शिक्षा और सरकार के खर्च के बीच लंबे समय तक चलने वाले रिश्ते और कार्य–कारण पर केंद्रित है मलेशियाई अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास।

समय श्रृंखला डेटा का उपयोग 1970 से 2010 की अवधि के लिए किया जाता है अधिकृत स्रोत। उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए, वेक्टर ऑटो रिग्रेशन (वीएआर) विधि का एक अनुमान है आवेदन किया है। अध्ययन से पता चलता है कि आर्थिक वृद्धि (जीडीपी) सकारात्मक रूप से चयनित के साथ मेल खाती है वैरिएबल निश्चित पूंजी निर्माण (सीएपी), श्रम बल भागीदारी (एलएबी) और सरकारी व्यय शिक्षा (इडीयू। ग्रेंजर कारण संबंध के संबंध में, यह पाया गया है कि आर्थिक विकास एक है अल्पावधि ग्रेंजर शिक्षा चर और इसके विपरीत के लिए कारण। इसके अलावा, इस अध्ययन ने यह साबित कर दिया है कि मानव मलेशिया में आर्थिक विकास को प्रभावित करने में शिक्षा चर जैसी पूंजी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कीवडर्स मलेशियाई, शिक्षा पर खर्च, आर्थिक विकास, वेक्टर त्रुटि सुधार मॉडल।

अध्ययन उद्देश्य

1. यूपीए सरकार द्वारा शिक्षा के विकास पर किये गये खर्च को ज्ञात करना।

परिकल्पना

1. यूपीए सरकार द्वारा सभी शिक्षा स्तरों के विकास पर खर्च किया गया है।

शोध विधि

शोधपत्र की अध्ययन विधि ऐतिहासिक एवं मात्रात्मक है। ऐतिहासिक शोध विधि में भविष्य को समझने के लिये भूत से सम्बन्धित समस्याओं का विश्लेषण किया जाता है। मात्रात्मक शोध सांख्यकीय सूचनाओं, संख्यात्मक तथ्यों पर आधारित होता है।

अध्ययन स्रोत

शोधपत्र में प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों का प्रयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोत के अन्तर्गत सरकारी आँकड़ों का एवं द्वितीयक स्रोत के अन्तर्गत सहायक ग्रन्थों, जर्नल, पत्र–पत्रिकाओं का प्रयोग किया गया है।

सारणियन एवं विश्लेषण

सारणी 1

यू.पी.ए. सरकार द्वारा शिक्षा के विकास पर किये गये खर्च

स्तर/वर्ष	प्रारम्भिक शिक्षा 1–8	माध्यमिक शिक्षा 9–12	प्रौढ़ शिक्षा	भाषा विकास	उच्च शिक्षा विश्वविद्यालय शिक्षा	तकनीकी शिक्षा	सामान्य शिक्षा	योग
2004&05	44083.34	25817.75	368.93	474.17	9998.34	3274.88	1620.85	85638.26
2005&06	50952.04	27709.10	407.53	466.98	10688.51	3720.06	2234.96	96179.18
2006&07	59755.50	32176.64	380.92	556.82	12176.71	4166.85	2614.55	111828
2007&08	68883.26	37748.90	591.78	535.76	15577.04	7020.36	1229.00	131586.1
2008&09	80494.49	45299.02	710.89	720.45	18355.87	7377.10	1346.10	154303.9
2009&10	97255.23	59705.48	738.78	853.32	24831.94	9469.35	1633.99	194488.1
2010&11	110591.57	69774.80	1882.51	1020.33	28788.18	11009.78	1877.19	224944.4
2011&12	140900.96	85857.61	1115.68	979.38	36234.04	13436.15	2076.99	280600.8
2012&13	163103.80	97276.20	1188.47	1139.67	42504.61	16249.97	2387.26	323850
2013&14	185614.92	109992.63	1324.07	1365.97	47460.52	17522.93	2682.72	365963.8
योग	1001635	591358.1	8709.56	8112.85	246615.8	93247.43	19703.61	1969382
प्रतिशत	50.86	30.03	0.44	0.41	12.52	4.73	1.00	100.00

Sources - Analysis of Budgeted Expenditure on Education, Government of India Ministry of Human Resource Development (Department of Higher Education) Planning & Monitoring Unit New Delhi

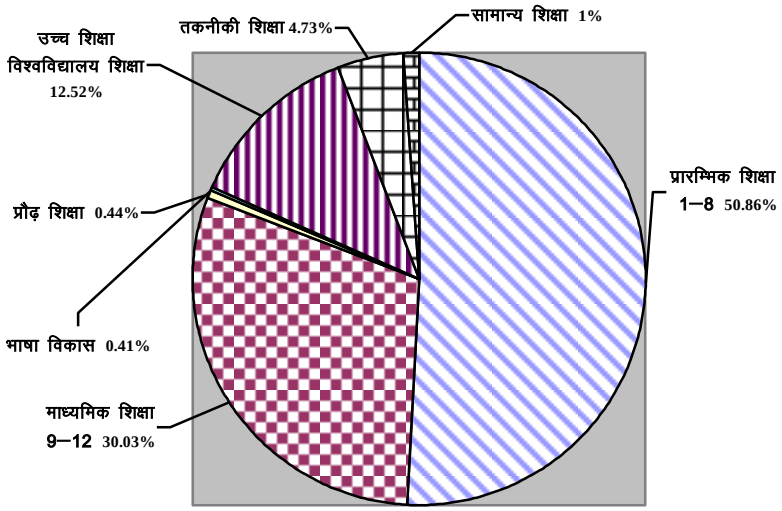

सारणी एवं ग्राफ के अवलोकन से स्पष्ट है कि एनडीए. सरकार के शासनकाल में प्रारम्भिक शिक्षा 1–8 पर 49.90 प्रतिशत, माध्यमिक शिक्षा 9–12 पर 30.75 प्रतिशत, प्रौढ़ शिक्षा पर 0.30 प्रतिशत, भाषा विकास पर 0. 46 प्रतिशत, उच्च शिक्षा विश्वविद्यालय शिक्षा पर 12.81 प्रतिशत, तकनीकी शिक्षा पर 4.81 प्रतिशत, सामान्य शिक्षा पर 0.96 प्रतिशत व्यय किया गया। अधिकांश 30.75 प्रतिशत प्रारम्भिक शिक्षा 1–8 पर व्यय किया गया। स्पष्ट है कि प्रारम्भिक शिक्षा 1–8 पर सबसे अधिक खर्च किया।

उपसंहार

सरकार द्वारा शिक्षा पर व्यय उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना रक्षा उत्पाद या बाँध बनाने या नदियों को जोड़ने पर होने वाला व्यय है। यूपीए सरकार ने अपने शासनकाल में में कुल 1969382.0 करोड़ रूपये व्यय किये। यूपीए सरकार मनमोहन सिंह द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा 1–8 पर 50.86. प्रतिशत, माध्यमिक शिक्षा 9–12 पर 30.03 प्रतिशत, प्रौढ़ शिक्षा पर 0.44 प्रतिशत, भाषा विकास पर 0.41 प्रतिशत, उच्च शिक्षा विश्वविद्यालय शिक्षा पर 12.52 प्रतिशत, तकनीकी शिक्षा पर 4.73 प्रतिशत, सामान्य शिक्षा पर 1.00 प्रतिशत व्यय किया गया। अधिकांश 50.86 प्रतिशत प्रारम्भिक शिक्षा 1–8 पर व्यय किया गया।

सन्दर्भ :

1 किरण, चाँद, शिक्षा दार्शनिक परिप्रेक्ष्य, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2006, पृ. 16–19.

2 गाँधी, एम.के., हरिजन, 31.07.1937.

3 माध्यम, शिक्षा निदेशालय, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, पृ. 19–20.

4 गुगल ई–बुक ऑफ इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका.

5 सिंह, रघुराज, वैश्वीकरण एवं उच्च शिक्षा की सम्भावनाएँ, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ. 291–92.

6 महामहिम राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील के अभिभाषण से, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का 91वें दीक्षांत समारोह, 13 मार्च, 2009.

7 Santosh Mehrotra Enrique Dela Monica, Household costs and public expenditure on primary education in five low income countries: A comparative analysis, International Journal of Educational Development, Volume 18, Issue 1, January 1998, Pages 41-61

8 Yousra Mekdad Aziz Dahmani Monir Louaj, Public spending on education and Economic Growth in Algeria: Causality Test, International Journal of Business and Management Vol. II (3), 2014

9 Ese Urhie, National Income, Public Expenditure on Education and Educational Attainment: A Comparative Analysis, Covenant Journal of Business and Social Sciences (CJBSS) Vol. 6, No.2, Dec. 2014

10 Tamang, Pravesh (2011). The Impact of Education Expenditure on India's Economic Growth, Journal of International Academic Research, Vol.11, No.3, 31 December.

11 Education Expenditure and Economic Growth: A Causal Analysis for Malaysia, Journal of Economics and Sustainable Development www.iiste.org ISSN 2222-1700 (Paper) ISSN 2222-2855 (Online) Vol.3, No.7, 2012

***

शिक्षा के नवीन आयामों के संस्थापक महामना पं. मदन मोहन मालवीय

*डॉ. शिशिर कुमार यादव**

सारांश

पं. मदन मोहन मालवीय एक शिक्षाविद्, महान देश भक्त, राजनेता, अद्भुत वक्ता, सुविख्यात निर्भीक पत्रकार, समाज सुधारक, हिन्दी के सबसे बड़े प्रवर्तक तथा पोषक, अपने समय के प्रयाग उच्च न्यायालय के शीर्ष सफलतम अधिवक्ता, आर्थिक सुधारों के प्रखर चिन्तक तथा अत्यंत कोमल हृदय वाले संवेदनशील मृदभाषी आदर्श आचरण के व्यक्तित्व के धनी महानुभाव थे महामना पं. मदन मोहन मालवीय वर्तमान विश्व में एक स्थापित शिक्षाविद् के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में शिक्षा पर विचार कर समाज के अनुरूप शिक्षा की आवश्यकता का विश्लेषण किया। वर्तमान संदर्भ में उसे नवीन आयाम प्रदान किये। अपनी शैक्षिक संकल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया। महामना का यह विश्वास था कि शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार की हो कि एक विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास हो सके। विद्यार्थी अपनी शारीरिक, मानसिक शक्तियों का पूर्ण विकास कर एक सुंदर, कलापूर्ण जीवन के साथ समाज में एक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर सके। मालवीय जी शिक्षा शब्द को व्यापक दृष्टि से ही प्रयोग करते हैं। शिक्षा के अंतर्गत उन्होंने एक ओर धर्म एवं अध्यात्म ज्ञान को लिया है और दूसरी ओर चरित्र की शिक्षा, शारीरिक उत्कर्ष की शिक्षा तथा देश एवं राष्ट्र के लिये त्याग की शिक्षा की ओर संकेत मिलता है। विज्ञान तथा कौशल की शिक्षा, कृषि शिक्षा, गंधर्व एवं ललित कलाओं की शिक्षा आदि पर भी विशेष बल दिया है।

कुंजी : पं. मदन मोहन मालवीय, शैक्षिक चिन्तन, सृजनात्मकता, भाषा।

परिचय

पं. मदन मोहन मालवीय एक शिक्षाविद्, महान देश भक्त, राजनेता, अद्भुत वक्ता, सुविख्यात निर्भीक पत्रकार, समाज सुधारक, हिन्दी के सबसे बड़े प्रवर्तक तथा पोषक, अपने समय के प्रयाग उच्च न्यायालय के शीर्ष सफलतम अधिवक्ता, आर्थिक सुधारों के प्रखर चिन्तक तथा अत्यंत कोमल हृदय वाले संवेदनशील मृदभाषी आदर्श आचरण के व्यक्तित्व के धनी महानुभाव थे, जिसकी वजह से उन्हें 'महामना' कहा गया।[1]

* प्राचार्य, श्री रामकृष्ण सारदा आश्रम, शिक्षक प्रशिक्षण कॉलेज, हजारीबाग

शिक्षा के नवीन आयाम

पं. मालवीय जी ऐसे विद्यालय की कल्पना करते थे जो अत्याधुनिक शैक्षिक एवं शोध सम्बन्धी उपकरणों से युक्त हो, जहाँ उच्चतम ज्ञान दिया जा सके, सृजनात्मक खोजों को जहाँ प्रेरणा मिल सके। विद्यालय के प्रति उनका बड़ा विस्तृत दृष्टिकोण था। वे विद्यालय को किसी सीमित ज्ञान से नहीं बांधना चाहते थे अपितु समस्त प्राचीन एवं आधुनिक ज्ञान–विज्ञान का उसे केन्द्र बनाना चाहते थे।[2] उन्होंने प्राचीन संस्कृति से जुड़े तथा आधुनिक विचार के पथ पर अग्रसर, दोनों प्रकार के समान विषयों को पढ़ने की योजना बनायी। यथा – धर्मदर्शन, ज्योतिष, भाषा, कला, संगीत, रसायन, भौतिक विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, गणित, भूगोल, इतिहास, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, टेक्नॉलाजी, कौशल, व्यापार, कृषि, वाणिज्य इत्यादि। इसके अतिरिक्त पाठ्य–विषयान्तर क्रियाओं को भी महत्व दिया।

धर्म एवं विज्ञान की उच्चतम शिक्षा प्रदान करने वाला काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उन्हीं की अमर देन है। महात्मा गाँधी कहा करते थे कि मैं मालवीय जी महाराज का पुजारी हूँ। शिवधनी सिंह अठारह वर्षों तक महामना के सानिध्य में निजी सचिव के रूप में रहे। उनके अनुसार मालवीय जी महाराज की भारतीय संस्कृति–परिचायिका, सुन्दर वेषभूषा, मोहनी और आकर्षक आकृति, चन्दन–चर्चित ललाट, मधुर स्वभाव, निरभिमानिता, सरलता, सहृदयता, निश्चितता, बुद्धिमत्ता प्रत्युत्पन्नमतित्व आदि में न केवल भारतीयों के हृदय में आदर और सम्मान का स्थान बना लिया था, बल्कि विदेशियों के हृदय में भी उच्च श्रद्धा का भाव पैदा कर दिया था।[3] उनके अनुसार "हम लोग अंधविश्वास की तरह एक ऐसी प्रणाली का अनुसरण करते चले आ रहे हैं जिनका निर्माण अन्य जातियों के लिये हुआ था और जिसका उन लोगों ने बहुत दिन हुए परित्याग कर दिया था। हमारे यहाँ की स्त्रियों की शिक्षा–प्रणाली इसका ज्वलन्त उदाहरण है। हम लोग अपनी बालिकाओं को, बिना यह सोचे हुए कि उनकी शिक्षा से हमें किस प्रकार के फल की आवश्यकता है, वही विषय पढ़ाने के लिए बाध्य करते हैं, जो नवयुवकों के लिये निर्धारित किए गये हैं। पुरुषों की शिक्षा से स्त्रियों की शिक्षा का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वे ही भारत की भावी संतानों की माता हैं। वे हमारे भावी राजनीतिज्ञों, विद्वानों, तत्वज्ञानियों, व्यापार तथा कला–कौशल के नेताओं आदि की प्रथम शिक्षिका हैं। उनकी शिक्षा का प्रभाव भारत के भावी नागरिकों की शिक्षा पर विशेष रूप से पड़ेगा। महाभारत में कहा गया है कि, 'माता के समान कोई शिक्षक नहीं है।' अतएव हमें चाहिए कि सर्वप्रथम हम उनकी शिक्षा का उद्देश्य निर्णीत कर लें और इस विषय में सर्वसम्मति लेकर यह निश्चय करें कि किस प्रकार की शिक्षा उनके योग्य होगी, किस प्रकार हम अपने प्राचीन साहित्य तथा संस्कृति के उत्तम ज्ञान के साथ–साथ वर्तमान साहित्य तथा विज्ञान की शिक्षा को उन

तक पहुँचा सकते हैं, किस प्रकार हम उन्हें जीव–विज्ञान, चित्रकला, संगीतादि की शिक्षा दे सकते हैं और देश की स्त्री–जाति में किस प्रकार शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा अध्यात्मिक उत्थान ला सकते हैं? क्या आप चाहते हैं कि हमारे देश में सावित्री, अरुन्धती, मैत्रेयी, लीलावती और सुलभा आदि प्राचीन समय की स्त्रियों के समान अथवा सुराज्य प्रबन्ध करने वाली अहिल्याबाई अथवा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के समान निर्भीक सैनिकों को पुनः पैदा करें? क्या आप ऐसी स्त्रियों को जन्म देना चाहते हैं, जिनमें प्राचीन तथा नवीन सभ्यता के सभी सद्‌गुणों का सुन्दर संयोग हो, और जो अपनी शिक्षा के द्वारा भावी भारत के पुनर्निर्माण में आपसे पूर्ण रूप से सहयोग कर सकें? जब तक हमारे देश की स्त्रियों की शिक्षा के लिये एक राष्ट्रीय कार्यक्रम का निर्माण नहीं हो जाता, तब तक इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों पर विचार प्रगट करने की आवश्यकता पड़ेगी। राजनीतिज्ञों तथा विद्वानों को ऐसी योजनाओं पर सम्मति तथा स्वीकृति देने के लिये एक ही साथ बैठकर विचार करना पड़ेगा।"[4]

महामना ने विद्यार्थियों को उपदेश दिया कि सत्य बोलो, शुद्धता से रहो तथा सत्य ही सोचो। ईश्वर को सदैव स्मरण रखना चाहिए। उसे कभी न भुलाओ। सभी धार्मिक आदेशों तथा निषेधों का इन्हीं दो वाक्यों से पालन हो जाता है। यदि आप यह याद रखेंगे कि परमात्मा विद्यमान है और वही सभी जीवधारियों में विद्यमान है तो ईश्वर तथा अपने अन्य जीवधारी भाइयों से आपका सच्चा सम्बन्ध सदा बना रहेगा। इसी विश्वास से, कि परमात्मा सभी प्राणधारियों में विद्यमान है, मूल उपदेशों का निर्माण हुआ है, जिनमें सभी प्रकार के मानव–धर्म के आदेशों तथा धर्मों का समावेश हो जाता है। जैसे –

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात्, दूसरों के प्रति कोई भी ऐसा आचरण न करो जिसे तुम अपने प्रति किए जाने पर अप्रिय समझते हो तथा

यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्।

अर्थात्, जो कुछ तुम अपने प्रति चाहते हो, वैसा ही तुम्हें दूसरों के प्रति भी करना आवश्यक है, ऐसा समझना चाहिए।[5]

पं. मालवीय के अथक प्रयासों से बनारस में इंजीनियरिंग कालेज की स्थापना की गयी जहाँ यंत्र, बिजली और धातु सम्बन्धी विज्ञानों की शिक्षा बी.ए. तथा एम.ए. उपाधियों तक देने की व्यवस्था हुई। उद्योग तथा व्यावसायिक रसायन–विज्ञान विभाग भी स्थापित किये गये। एम.एस.सी. तक उच्च कोटि की शिक्षा दी गयी। भारतवर्ष में कोई भी ऐसा विद्यालय नहीं था जहाँ इस प्रकार सर्वतोमुखी उच्चकोटि की शिक्षा व्यवहारिक विज्ञान में दी जाती हो। देश में एक ऐसे विद्या–मंदिर की नितान्त आवश्यकता थी और बनारस को इस बात का गौरव है कि इसने इस कमी को पूरा कर दिया। बनारस में पढ़ने के लिये भारतवर्ष के सभी प्रान्तों तथा देशी रियासतों से

विद्यार्थी आये। आलोच्य काल में बनारस में औद्योगिक शिक्षा का परीक्षाफल प्रायः बानबे प्रति सैकड़े से चौरानबे प्रति सैकड़े तक रहा।

महामना ने धर्म और नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर विद्यार्थियों के चरित्र–निर्माण के विकास पर बल दिया। हिन्दू विद्यार्थियों को धार्मिक विषयों पर नियमानुकूल व्याख्यान दिए गये। प्रत्येक एकादशी के दिन धर्म–सम्बन्धी कथाओं का पाठ होता था, जिससे विद्यार्थियों में उत्कृष्ट धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावों का संचार हो। उस दिन सभी अध्यापक तथा विद्यार्थियों को कथा के समय उपस्थित रहना पड़ता था। अन्य सुअवसरों पर भी धार्मिक सम्भाषण दिए जाते थे और यह प्रयत्न किया जाता रहा कि विद्यार्थियों के हृदय पर धर्म और नीति के मूल तत्वों की छाप पड़े। तत्कालीन मनीषी धर्म को चरित्र–निर्माण का सीधा मार्ग और सांसारिक सुख का सच्चा द्वार समझते तथा देशभक्ति को सर्वोत्तम शक्ति मानते थे, जो मनुष्य को उच्चकोटि की निःस्वार्थ सेवा करने की ओर प्रवृत्त करती थी।[6]

पं मालवीय जी ने नवयुवकों में चरित्र–निर्माण के लिये शारीरिक व्यायाम का प्रबन्ध विशेष रूप से किया। प्रत्येक विद्यार्थी के लिये इसमें शामिल होना प्रायः आवश्यक था। उल्लेख मिलता है कि छात्रावासों में सोलह सौ विद्यार्थी एक साथ रहते थे। शिक्षकों के निवास स्थान भी छात्रावास ही में थे। सम्पूर्ण व्यवस्था इस प्रकार से की गई कि शिक्षक और विद्यार्थी, तथा एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी के परस्पर सम्पर्क में रहें। विद्यार्थी स्वयं अपनी सामाजिक तथा साहित्यिक सभाएँ, नाटक–मण्डलियों तथा खेल–समितियों की स्थापना करते थे। इनमें से कुछ विद्यार्थी सैनिक शिक्षा–दल के सदस्य थे, जहाँ उन्हें उत्तम रीति की सैनिक शिक्षा दी जाती थी, जिसके लिये वे बहुत लालायित रहते थे। शिक्षण संस्थाओं में सामान्य जीवन का क्रमशः विकास पाया जाता था, जिसके फलस्वरूप बहुतों के सहयोग से एकता का संचार होता रहा। शिक्षण संस्थाओं का वातावरण शुद्ध और समृद्धिकारी होता था। गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करने के अतिरिक्त प्रत्येक विद्यार्थी स्वयं अपना गुरु होता था तथा अपने सहपाठियों को भी शिक्षा देता था। आत्मगौरव का भाव इस प्रकार विद्यार्थियों में बढ़ा जो भविष्य के लिये अच्छा शकुन रहा।[7] प्रत्येक प्रान्त से विद्यार्थी शिक्षा के लिए आते थे – काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सन् 1929 में आसाम से बीस, बिहार व उड़ीसा से एक सौ छिहत्तर, बंगाल से दो सौ तैंतालीस, बम्बई से एक सौ पाँच, ब्रह्मा से पाँच, मध्य प्रान्त से (इन्दौर तथा ग्वालियर को लेकर) उनतालीस, मध्यप्रान्त से दो सौ इकतीस, बरार से दस, मद्रास से एक सौ तैंतालीस, उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, बीकानेर, अलवर, कोटा तथा राजपूजाना और पटियाला आदि रियासतों से एक सौ पाँच, हैदराबार (दक्खिन) से छः, नेपाल से छः, काश्मीर से पन्द्रह, मैसूर से दो, संयुक्त प्रान्त से एक हजार एक सौ तेरह, ट्रावंकोर से सत्रह, बलोचिस्तान से दो, दक्षिणी कनाडा से एक, कोचीन से पाँच, आन्ध्र से इकतीस और देहली से तीन विद्यार्थी आये। एक विद्यार्थी

मौरिशस टापू से आया। ये विद्यार्थी सब मिलकर भारतवर्ष के दो सौ बाइस जिलों से आए। एक वृहद भारत का सा वातावरण था।[8]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के समय बनारस स्वतंत्रता आन्दोलन का प्रथम प्रहरी था। पं. मालवीय जी ने अशिक्षा को स्वराज्य में सबसे बड़ी बाधा अनुभव किया। उनके अनुसार, "भारत की स्वराज्य–प्राप्ति के मार्ग में शिक्षा का अभाव भी एक बहुत बड़ा रोड़ा है। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि बिना स्वराज्य प्राप्ति के शिक्षा–सम्बन्धी यह अभाव दूर भी नहीं हो सकता। यह भी कहा गया है कि अधिकांश जनता अशिक्षित होने के कारण समझ कर वोट देने में असमर्थ हैं। परन्तु यहाँ भूल यह होती है कि यद्यपि उनमें अधिकांश अशिक्षित हैं, पर उनकी बुद्धिमता में कोई कमी नहीं है और वे कुछ ही समय में शिक्षित बनाए जा सकते हैं। यह भी कहा जाता है कि इस देश में धार्मिक उन्मत्तता तथा साम्प्रदायिक भाव इतना अधिक है कि वह भारतीयों को स्वराज्य लाने वाला एकीकृत राष्ट्र बनने में बाधा डालता है। हमारे साथी शिक्षा–प्रेमियों के साथ मेरे हाथ में आप लोग पर्याप्त धन देकर देश की शिक्षा का भार दे दीजिए और मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि कुछ ही वर्षों में मैं इस भूमि से अशिक्षा को हटा दूँगा और अपने नवयुवकों में नागरिकता की शिक्षा तथा प्रेमभाव का ऐसा विस्तार कर दूंगा कि राष्ट्रीयता रूपी सूर्य के सामने साम्प्रदायिकता का कुहासा कभी टिक नहीं सकता और अपने देशवासियों के हृदय में इसी भाव को जमाना हम लोगों का लक्ष्य तथा अभिमान का विषय होगा।"[9]

पं. मालवीय जी ने कहा था, "हिन्दू विश्वविद्यालय की यह फैली हुई भूमि, हरी मखमली दूब से भरे सुहावने बड़े–बड़े खेल के मैदान, स्वच्छन्द उन्मुक्त वायु, माँ पतितपावनी गंगा का पुनीत पावन तट, संसार में कहीं भी ऐसा दूसरा स्थान तुम्हारे लिये नहीं। प्रकृति के साथ जीवन को मेल में लाने वाला, इतना विशाल क्षेत्र संसार में अन्यत्र है तो मुझे मालूम नहीं। यहाँ के पवित्र वातावरण से हृदय को पवित्र बना लो, मन को विमल बना लो, आत्मा को शुद्ध कर लो, संसार में जहाँ जाओगे वहाँ मान के अधिकारी होंगे।"[10] यह आज भी अक्षरशः सत्य है।

उपसंहार

महामना पं. मदन मोहन मालवीय वर्तमान विश्व में एक स्थापित शिक्षाविद् के रूप में प्रतिष्ठित हैं, उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में शिक्षा पर विचार कर समाज के अनुरूप शिक्षा की आवश्यकता का विश्लेषण कर वर्तमान संदर्भ में उसे नवीन रूप देकर अपनी संकल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया। महामना का यह विश्वास था कि शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार की हो कि एक विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास हो सके। विद्यार्थी अपनी शारीरिक, मानसिक शक्तियों का पूर्ण विकास कर एक सुंदर, कलापूर्ण जीवन के साथ समाज में एक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर सके। मालवीय जी शिक्षा शब्द को व्यापक दृष्टि से ही प्रयोग करते हैं। शिक्षा के अंतर्गत उन्होंने एक

ओर धर्म एवं अध्यात्म ज्ञान को लिया है और दूसरी ओर चरित्र की शिक्षा, शारीरिक उत्कर्ष की शिक्षा तथा देश एवं राष्ट्र के लिये त्याग की शिक्षा की ओर संकेत मिलता है। विज्ञान तथा कौशल की शिक्षा, कृषि शिक्षा, गंधर्व एवं ललित कलाओं की शिक्षा आदि पर भी विशेष बल दिया है।

सन्दर्भ :

1 सिंह, बृजबाला, आधुनिक भारत के निर्माता महामना पं. मदन मोहन मालवीय, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 1.

2 सिंह, ओ.पी., शिक्षा दर्शन एवं शिक्षाशास्त्री, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 211–212.

3 सिंह शिवधनी, महामना की छाया में 18 वर्ष, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1989, पृ. 20–22.

4 तिवारी, उमेशदत्त, महामना के भाषण, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2004. दीक्षान्त भाषण 14 दिसम्बर सन् 1929.

5 तिवारी, उमेशदत्त, महामना के भाषण, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2004. दीक्षान्त भाषण 14 दिसम्बर सन् 1929.

6 तिवारी, उमेशदत्त, महामना के भाषण, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2004. दीक्षान्त भाषण 14 दिसम्बर सन् 1929.

7 डॉ. उमेशदत्त तिवारीः महामना के भाषण, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2004, दीक्षान्त भाषण 14 दिसम्बर सन् 1929.

8 तिवारी, उमेशदत्त, महामना के भाषण, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2004. दीक्षान्त भाषण 14 दिसम्बर सन् 1929

9 तिवारी, उमेशदत्त, महामना के भाषण, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2004. दीक्षान्त भाषण 14 दिसम्बर सन् 1929.

10 तिवारी, उमेशदत्त, महामना के भाषण, महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी, 2004, पृ. 47.

***

आधुनिक समाज में महिलाओं की भूमिका

*डॉ. नमिता अग्रवाल**

आधुनिक वातावरण में महिलाएँ किसी भी मामले में पुरुषों से कम नहीं हैं। आकाश की ऊँचाई से लेकर समुद्र तल तक महिलाओं का योगदान रंचमात्र भी कम नहीं है। अतीत में उसकी जीवन चर्या घर की चारदीवारी से बन्धी थी तथा उसे निम्न स्तरीय समझा जाता था। निर्विवादता, इसकी जड़ में पुरुष का अहम ही था। गतिशील समय के प्रवाह में महिलाओं की स्थिति में सम्यक परिवर्तन निर्दिष्ट हो रहा है।

आज प्रशासन सम्बन्धी कार्य हों अथवा राजनीति की उर्वरा भूमि हो, इनका योगदान विस्मृत नहीं किया जा सकता है। भविष्य का खुला द्वारा इनकी सजग साधना का स्वागत करने हेतु उद्धत है। खेल जगत में जहाँ महिलाओं का योगदान श्लाघनीय है, वहीं पत्रकारिता, इंजीनियरिंग, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में ये पुरुष से कमतर नहीं। निम्न वर्गीय महिलाएँ अन्य छोटे–छोटे कार्यों में जैसे–बीड़ी बनाना, माला बनाना, पापड़ बनाना, अचार, मुरब्बा बनाना आदि कार्यों में सनद्ध हो, कृषि कार्यों में अपना योगदान प्रदान कर रहीं हैं, विभिन्न कार्यों में स्वकार्यशैली को उद्घाटित कर रही हैं।

संवैधानिक व्यवस्थान्तर्गत संप्रति महिलाओं को पुरुषों के सदृश अधिकार प्राप्त हैं। आज महिलाएँ प्रत्येक क्षेत्र में स्वात्मोत्कर्ष की चिन्ता कर रही हैं। स्वतन्त्रतोत्तर नारी के विकास पर विशिष्ट रूप से बल दिया जा रहा है। संविधान के अनुच्छेद–15 में यह उद्घाटित है कि, ''राज्य किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं करेगा''।

समान वेतन अधिनियम में यह व्यवस्था की गयी है कि महिला और पुरुष कर्मियों को समान वेतन मिले। रोजगार में लिंग के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव न किया जाय। 1987 में कानून में संशोधन के द्वारा कानून का उल्लंघन करने पर दोषी के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी है।[1]

रही इनके शैक्षिक परिवेश की बात तो इसमें भी आशातीत सुधार परिलक्षित हो रहा है। इस हेतु सह–शिक्षा के साथ–साथ अलग–अलग विद्यालयों की व्यवस्था प्रशासन द्वारा सुनिश्चित की जा रही है। स्वतन्त्रता के समय जहाँ महिलाओं का साक्षरता प्रतिशत 6 प्रतिशत था, वहीं आज 65. 46 प्रतिशत है। निश्चित रूप से यह सरकार के सफल प्रयास का परिणाम है। लगभग 75 वर्ष पूर्व नारी शिक्षा की ओर ध्यानावस्थित नही थी।

---

* एसो. प्रो.संस्कृत, अतर्रा पी.जी. कालेज, अतर्रा बाँदा (उ.प्र.)

स्वतन्त्र शैक्षिक वातावरण में आज महिलाएँ साक्षरता के शिखर की ओर उन्मुख हैं। इस साक्षरता ने उन्हें आर्थिक क्षेत्र में भी स्वावलम्बी बना दिया है। आर्थिक क्षेत्र में भी महिलाओं का योगदान अविस्मरणीय है। सतत् प्रयास से इनका भविष्य उज्जवल होता जा रहा है।

सम्प्रति नारियाँ जिन पदों को सुशोभित कर रही हैं, देखा जाय तो पुरुषों से किसी भी स्तर पर बुद्धिमता का परिचय दे रहीं हैं। जहाँ पर सेवाभाव इनमें प्रारम्भ से ही समाविष्ट है, वहीं शिक्षा व्यापार, प्रशासनिक कार्य आदि उत्तरदायित्वों का बखूबी निर्वहन कर रही हैं। सुरक्षा क्षेत्र भी अब इनसे अछूता नहीं रहा। पुलिस आफीसर, जलपोत संचालक, पायलट इत्यादि कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पादित कर रही हैं।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी, श्रीमती माओ भण्डारनायके, श्रीमती मार्गरेट थैचर, श्रीमती चन्द्रिका कुमार तुंगे एवं श्रीमती गोल्डमायर आदि ऐसी नारियों ने नारी समाज का मान–सम्मान अपने नेतृत्व एवं कृतत्व से बढ़ाया। इसी श्रृंखला में कुछ ऐसी महिलायें भी हैं, जिन्होंने वैश्विक धरातल पर सर्वोच्च शिखर माउन्ट एवरेस्ट पर भी अपनी आत्म गाथा लिखकर गौरव प्राप्त किया। इसमें बछेन्द्री पाल एवं संतोष यादव का नाम अविस्मरणीय है। क्रीड़ा क्षेत्र की यदि बात की जाय तो पी0टी0 ऊषा जिसे उड़नपरी की संज्ञा से विभूषित करते हैं, समादृत है। एक सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि विकासशील देशों में अनाज के उत्पादन में 50 प्रतिशत अवदान महिलाओं का है। तंजानियाँ की बात करें तो श्रमिकों में 32.2 प्रतिशत है और क्यूबा में 95 प्रतिशत स्त्रियाँ, पुरुषों के साथ कृषि एवं कारखानों में सहभाग कर रही हैं। वहीं अफ्रीका में 70 प्रतिशत पशुपालन कार्य महिलाओं द्वारा हो रहा है। कृषि क्षेत्र में भारत में महिलाओं का योगदान कम नहीं है। एक आँकड़े के अनुसार हरियाणा में महिलाएँ कार्य घण्टे 16 की दर से दैनिक मजदूरी करती हैं।

यदि हम ग्रामीण परिवेश पर चिन्तन और मंथन करें तो महिलाएँ गृह कार्य के साथ–साथ गाय, भैंस को चारा–पानी, उनसे दूध निकालना आदि ऐसे कार्य हैं, जिसमें सम्पूर्ण दिवस वे सनद्ध रहती हैं। अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिससे स्पष्ट है कि बावजूद इसके वे पतियों के द्वारा किये गये अत्याचारों को चुपचाप सहन कर जाती हैं। सम्प्रति महिलाएँ शिक्षित होने के बाद भी इन अत्याचारों को सहन करने हेतु अभिशप्त हैं।

स्वतन्त्रतोत्तर सरकार के प्रयास से महिलाओं को प्रशिक्षित करने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर प्रोग्राम तैयार किये गये हैं। महिलाओं के प्रशिक्षण हेतु नारेड द्वारा कार्यक्रमों का निर्धारण किया गया, जिसका सम्बन्ध महिलाओं को रोजगार परक बनाया जाय, उन्हें स्वावलम्बी व आत्मावलम्बी बनाया जाय। इसे क्रान्ति स्तर पर लागू किया गया।

''नये युग की महिला केवल सुरक्षा हेतु विवाह की ओर नहीं देखती, बल्कि वह मैत्री और साथ भी चाहती है, ताकि उसको आगे जाने का मौका

मिले, वह पुरुषों अथवा अपने परिवार के दबदबे को नकारने के साथ समान रूप से उनको चुनौती भी दे रही है।''[2]

सरकार इनके अकर्ष हेतु सतत् प्रयासरत है, तथापि प्रयासानुकूल परिणाम प्राप्त नहीं हैं। इनके मौलिक कारण की मीमांसा करें, तो यह निसृत होता है कि संविधान सृष्टाओं ने उदारतापूर्वक महिलाओं हेतु जो बनाया, उसे अशिक्षा, रुढ़िवादिता और धार्मिक कठमुल्लाओं ने इसे कार्यरूप में परिणित नहीं होने दिया। इससे सम्बन्धित समानता और अधिकारों सम्बन्धी जो व्यवस्था प्रदान की गयी, वह मात्र कागज में ही समिट कर व्हाइट एलीफैन्ट (सफेद हाँथी) साबित हुई। आजादी के 75 वर्ष पूरे होने जा रहे हैं, परन्तु आज भी बाल विवाह, दहेज की कुप्रथा समाप्त न होकर बल्कि प्रगति के मार्ग को ही प्रशस्त कर रही है। दहेज का दानव सम्प्रति सीधी–सादी बालाओं को चिता की आगोश में ले रहा है। दहेज न चुका पाने के कारण लाचार माँ–बाप समयानुसार हाथ पीले नहीं कर पा रहा है। इसका हस्र यह हो रहा है कि परिस्थितिवश लड़कियाँ मृत्यु का संवरण कर रही हैं।

भारतीय धर्मग्रन्थ– 'दुर्गा सप्तशती' में एक आदर्श वाक्य आया है ''विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः, स्त्रीयः समस्ताः सकला जगत्सु। अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत में समस्त विद्यायें तथा सम्पूर्ण स्त्रियाँ उस एक परमात्म शक्ति दुर्गा माँ के ही रूप हैं''।[3]

महिलाओं की प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति का यह आशय नहीं कि भारतीय महिलाओं का संसार परिवर्तित हो गया। करोड़ों से ऊपर महिलाएँ आज भी मध्ययुग (Dark Age) का जीवन जीने हेतु विवश है। पत्थर तोड़ने वाली, खेत–खलिहानों में कार्य करने वाली, खदानों में अपना कार्य सम्पादित करने वाली महिलाओं को शोषण से अवमुक्त नहीं किया जाता, तब तक यह कहना अनौचित्यपूर्ण होगा कि महिलाओं की स्थिति बदल गयी है।

यद्यपि देखने से ऐसा महसूस हो रहा है कि महिलाओं की स्थिति पूर्व की भाँति चारदीवारी तक सीमित नहीं है। माडर्न महिलाओं ने पुरुषों को उनके प्रत्येक कार्यक्षेत्र में चुनौती दी है, बावजूद इसके अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों, जुल्मों के विरूद्ध अपना स्वर मुखर कर पायेंगी, यह एक यक्ष प्रश्न सा है।

नारियाँ यदि पुरुष के हाथों शोषित होती रहीं, उनके द्वारा ढायें गये जुल्मों को चुपचाप सहन करती गयीं, तो वे अपने अधिकारो का उपयोग कभी नहीं कर पायेंगी। स्वाधिकारों के उपयोग में वे किसी प्रकार पुरुष का अवलम्बन न लें, स्वयं जागरुक महिला बनें, तभी प्रगति के मार्ग को प्रशस्त कर पायेंगी।

संविधान ने स्त्री–पुरुष दोनों को समानता की श्रेणी दे रखी है। कानूनन दोनों बराबर के हकदार हैं, परन्तु विडम्बना यह रही है कि समाज

ने उसे बराबर की स्वीकारोक्ति कभी नहीं दी। जब तक समाज इसे व्यवहार में नहीं लायेगा, इस समस्या से निजात नहीं मिलेगी।

मौलिक समस्या यह है कि कानून और व्यवहार के बीच जो अन्तराल है, उसे समाप्त किया जाय और कानून को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया जाय। एतदर्थ लोगों को शिक्षित किया जाय, लोगों का हृदय परिवर्तन किया जाय। जब तक मानसिक स्तर पर परिवर्तन नहीं होगा, तब तक परिणाम की अपेक्षा करना बेईमानी होगा। निर्विवादितः शिक्षा की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका होगी।

सम्प्रति इस बात की परम आवश्यकता है कि स्त्री–पुरुष अपना पूर्वाग्रह परित्याग कर एक–दूसरे के पूरक बनें, दोनों एक–दूसरे के सहभागी बने। समय के अनुरूप अपने आपको परिवर्तित कर गाड़ी के दो पहिये सदृश जीवन भार को वहन करें। पुरुष को अपने अत्याचार और शोषण पर लगाम लगानी पड़ेगी। स्त्रियों को अपना सहभागी समझना पड़ेगा।

महिलाओं से भी अपेक्षा है कि मार्ग में आने वाली अनेक बाधाओं का सामना कर स्वयं उसका समाधान ढूढ़े। अनुकूल वातावरण का निर्माण करे। नेपोलियन नारी में अनेक सम्भावनाओं को सम्भावित देख कहा था, ''मुझे एक योग्य (नारी) माता दो, मैं तुमको एक योग्य राष्ट्र दूंगा।'' अतः यह कहना सर्वथा औचित्यपूर्ण होगा कि आधुनिक समाज में महिलाओं के महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। इसी श्रृंखला में अपने अभिमत को प्रकट करती हुई भारत की तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ0 प्रतिभा देवी सिंह पाटिल के भाषण का एक अभ्यंश–

एक राष्ट्र के रूप में हमारी पूरी क्षमता का उपयोग तभी हो सकेगा, जब महिलाएँ, जो हमारी आबादी का लगभग आधा हिस्सा हैं, अपनी पूरी क्षमता का उपयोग कर सकें। यदि ऐसा नही होता है तो प्रतिभा का आधा हिस्सा, प्रगति का आधा भाग बर्बाद होता रहेगा। भारतीय महिलाओं की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करती ये पंक्तियाँ–

हटा दो सब बाधायें मेरे पथ की,
मिटा दो आशंकायें सब मन की,
जमाने को बदलने की शक्ति को समझो,
कदम से कदम मिला के चलने तो दो मुझको।[4]

संदर्भ :

1. योजना, अक्टूबर, 2008, पृ0सं0 41
2. योजना, अक्टूबर, 2008, पृ0सं0 16
3. दुर्गा सप्तशती, सिद्ध संपुट के मंत्र, पृ0सं0 236
4. 16 फरवरी, 2008 को पटना में मुख्यमंत्री 'कन्या विवाह योजना' नामक कार्यक्रम के उद्घाटन के समय भारत की तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ0 प्रतिभा देवी सिंह पाटिल के भाषण से उद्धृत अंश।

***

राग प्रकृति और रस : एक विश्लेषण

*शिवा राठौर**
*शशि शुक्ला***

सार - वर्तमान राग, भारतीय शास्त्रीय संगीत की एक प्राचीन परिकल्पना है जिसमें समय के साथ परिवर्तन होते रहे। भरत काल में प्रचलित जाति गायन कई बदलावों से होते हुए वर्तमान समय के राग के रूप में दृष्टिगत होता है। प्राचीन काल का जाति गायन हो या वर्तमान समय का राग गायन , दोनों का उद्देश्य ईशोपासना और जन - मन - रंजन था। भरत काल में जब संगीत नाट्य कला के अंतर्गत प्रयुक्त होने वाली एक सहायक कला के रूप में प्रचलित था तब नाट्य में चल रहे दृश्य को प्रभावी बनाने हेतु, दृश्य के भाव तथा प्रकृति के अनुसार उसी प्रकार के रस - भावों को उद्वेलित करने में सक्षम व विशेष रूप से चुनी हुई जातियों का गायन किया जाता था , जिससे दर्शकों के लिए वह दृश्य और अधिक हृदयग्राही बन जाता था।

जातियों के समान ही वर्तमान राग गायन भी मानव के भावों को उद्वेलित करने में सक्षम है। किसी राग को सुनने से होने वाली अनुभूति के अनुरूप ही उसके व्यक्तित्व, प्रकृति व भाव मूर्ति की कल्पना की जाती है तथा वह किस र स से संबंधित है, यह भी अनुमान लगाया जा सकता है। संगीत विद्वानों ने कई रागों के र स - भाव व प्रकृति को बताया है, किंतु कुछ रागों के रस - भावों को अभिव्यक्त करना कठिन हो जाता है।वह राग निश्चित रूप से बहुत सुंदर व हृदय को मोह लेने वाले हैं, किंतु उन रागों को सुनने से हृदय में कौन सा भाव उठ रहा है, यह समझना और उसे शब्दों में बांधने में असमंजस सा प्रतीत होता है। इस प्रकार जो राग मुख्य राग में मिश्रण करके बनाए जाते हैं या उन की मुख्य स्वरावली को लेकर बनाए जाते हैं, ऐसे राग किसी निश्चित रस भाव से जुड़ ही जाएं ऐसा आवश्यक नहीं है। कभी-कभी ऐसे राग जिन में किसी राग का मिश्रण नहीं किया गया है, उनकी प्रकृति समझने में भी कठिनाई होती है जैसे राग देशकार।

इस प्रकार प्रत्येक राग के रस - भाव को निर्धारित करने से पूर्व यह समझना आवश्यक होगा कि हृदय को मिलने वाले आनंद की प्रत्येक दशा को शब्द देना संभव हो यह आवश्यक नहीं है। किंतु कुछ राग ऐसे अवश्य हैं जिनको सुनने मात्र से ही यह निश्चित हो जाता है कि मन में किस प्रकार के भाव उठ रहे हैं या किस रस की सृष्टि हो रही है।

इस विषय को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि जिस प्रकार एक रंग में अन्य रंग के मिल जाने से नया रंग बन जाता है उसी प्रकार एक राग में अन्य स्वर प्रयुक्त करके

---

* शोध छात्रा-संगीत, रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली, उत्तर प्रदेश,
** विभागाध्यक्षा-संगीत विभाग, साहू राम स्वरूप महिला महाविद्यालय, बरेली उत्तर प्रदेश

अथवा अन्य राग की मुख्य स्वरावलियाँ मिश्रित कर देने से एक नवीन राग की सृष्टि होती है। अब यदि मुख्य राग किसी रस से संबंधित है तो उसमें कुछ बदलाव करके उत्पन्न हुए नए राग से किसी एक विशेष रस की सृष्टि हो ही जाए या वह नवरस के अंतर्गत आ ही जाए, ऐसा संभव नहीं है।

मुख्य शब्द- संगीत, राग, राग प्रकृति, रस भाव, राग स्वरूप, रंग।

प्रस्तावना - भारतीय शास्त्रीय संगीत का आधा र रा ग को माना जाता है ।कई शास्त्रीय नियमों में बंधे होने के उपरांत भी राग द्वारा रस तथा भावों की सुंदर अभिव्यक्ति संभव है। शास्त्रीय संगीत के यह नियम रा ग के स्वरूप को स्थायित्व देने का कार्य करते हैं , जिससे वह राग विशेष जिस रस - भाव की प्राप्ति हेतु गाया बजाया जा रहा है उसमें बदलाव नहीं आ पाता। इस प्रकार इन शास्त्रीय नियमों में बाँधकर राग गायन करने से राग की एक भाव - मूर्ति तथा व्यक्तित्व बन जाता है। गायन का समय भी राग की प्रकृति व रस - भाव को दर्शाता है, जैसे यदि कोई राग रात्रिकालीन है तब उसके श्रंगारिक होने की संभावना बढ़ जाती है एवं शांत तथा भक्ति रस को दर्शाने वाले राग प्रायः प्रातः-कालीन होते हैं।

जब किसी राग को सुनते समय मानस पटल पर एक भाव - चित्र बनता है तब वह स्वाभाविक रूप से हृदय में निहित , सुषुप्तावस्था में पड़े हुए स्थाई भावों को उद्वेलित करता है जैसे यदि राग प्रस्तुति सुनकर भाग चित्र में एक ऐसी नायिका उभरती है जो वियोग से दुखी है, अपने इष्ट के बिना उसे संसार की प्रत्येक वस्तु महत्वहीन लग रही है, तब श्रोता के हृदय में अवस्थित स्थाई भाव 'रति' सुषुप्तावस्था से निकलकर जागृत अवस्था में आ जाएगा तथा वियोग श्रृंगार का भाव उत्पन्न होगा। अतः राग द्वारा मानवीय संवेदना व भावों को सुगमता से दर्शाया जा सकता है। किंतु कुछ राग ऐसे भी हैं जिनको सुनकर हृदय आनंद तो प्राप्त करता है किंतु बुद्धि उस आनंद को शब्दों में बांधने के लिए स्वयं को असहाय पाती है।

साहित्य समीक्षा - पाठक (1989) ने अपने अध्ययन में राग के ऐतिहासिक विकास के विषय में बताते हुए कहा है कि जातियों से ही कालांतर में राग अस्तित्व में आया। उन्होंने विभिन्न प्राचीन ग्रंथों में उल्लेखित रागों के विषय में भी बताया है । साथ ही राग वर्गीकरण, राग तथा रस, राग गायन का समय तथा ऋतु से संबंध के विषय पर भी प्रकाश डाला है।दीक्षित (1984) ने अपनी पुस्तक 'सरस' में स्वर - राग और रस के संबंध पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, जिसमें उन्होंने राग तथा उनके स्वरूप, रागों के गायन समय के अनुसार उनका चलन तथा रागों के माध्य म से उत्पन्न होने वाले विभिन्न भा वों का वर्णन किया है। भटनागर (1994) ने अपने अध्ययन में राग के शृंगार गार तत्वों, लय, ताल तथा बंदिश के विषय में विस्तार पूर्वक चर्चा की है । साथ ही राग की प्रकृति के अनुरूप बंदिश के सिद्धांत और उसके सौंदर्य गुणों का विवेचन किया है। दीक्षित (2007)

ने अपनी पुस्तक में नायक - नायिका भेद और राग - रागिनी वर्गीकरण के विषय में बताते हुए राग की प्रकृति और व्यक्तित्व का बहुत गहनता से वर्णन किया है। इसके साथ ही उन्होंने बंदिशों में निहित नाट्य तत्व का भी विश्लेषण किया है।

शोध पत्र के उद्देश्य - प्रस्तुत शोध पत्र के उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1- भारतीय शास्त्रीय संगीत में राग तथा राग के व्यक्तित्वव स्वरूप के महत्व को जानना।

2- रागों के स्वरूप का निर्माण करने में सहायक सभी घटकों को समझना एवं उनका विश्लेषण करना।

3- राग प्रस्तुतीकरण द्वारा हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव तथा हृदय में निहित स्थाई भावों व रस के अंतर्संबंधों का विश्लेषण करना।

4- जिन रागों के रस व भाव सरलता से स्पष्ट नहीं हो पाते हैं, उनका विश्लेषण कर संभावित निदान करने का प्रयत्न करना।

अनुसंधान क्रियाविधि - यह शोध पत्र विश्लेषणात्म क, खोजपूर्ण व वैचारिक चिंतनपूर्ण प्रकृति का है। इस शोधपत्र में द्वितीयक डाटा के माध्यम से जानकारी एकत्र की गई है जिसमें पुस्तकें, पत्रिकाएं एवं ऑनलाइन व ऑफलाइन प्रकाशित सामग्री का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत लेख में लेखिका के निजी विचार भी सम्मिलित हैं।

विषय प्रवेश - भारतीय शास्त्रीय संगीत में राग बहुत महत्वपूर्ण है । वर्तमान में हमारे शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत रागों का ही गायन -वादन किया जाता है। राग गायन रस अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। भारतीय शास्त्रीय संगीत इतना समृद्ध है कि भाव, मनोदशा या प्रकृति के अनुसार अनेकों रा ग व रचनाएं मिलती हैं, जो कि श्रोताओं व दर्शकों को रसानुभूति कराने में सक्षम हैं। श्री एच0 पी0कृष्णराव के अनुसार - "राग स्वराष्टक के स्वरों का एक ऐसा गीत्यात्मक विधान है, जो एक निश्चित मूड (मनःस्थिति) को व्यक्त करने के लिए बनाया जाता है ।"[1] राग न केवल हृदय में रस रूपी सौंदर्य को प्रकाशित करता है वरन् मनुष्य को कुछ क्षणों के लिए सांसारिक बंधनों से मुक्त भी कर देता है।

रागों के स्वरूप को उनके लक्षण और नियम आदि से पहचाना जा सकता है, जिससे उन रागों का अपना एक स्वरूप बन जाता है। किंतु एक राग के संपूर्ण स्वरूप को केवल उसके लक्षणों और नियमों से नहीं समझा जा सकता । लक्षणों और नियमों के साथ-साथ रागों की पहचान उस में प्रयुक्त स्वरों के उच्चा रण, स्वर लगाव, और कौन सा स्वर कितनी मात्रा में लगेगा आदि बातों से भी होती है। इन्हीं सब तथ्यों पर राग का रस - भाव और प्रकृति भी निर्भर करती है।

राग की प्रकृति निर्धारित करना स्वयं में एक बड़ा प्रश्न है । भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रत्येक राग की प्रकृति का उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि कुछ रागों की प्रकृति को

पहले से ही तय मान लिया गया है , जैसे मालकौंस – शांत, बागेश्वरी – श्रंगारिक, शंकरा – वीर, नीलांबरी – करुण, दरबारी – प्रौढ़, राजसी , गंभीर; जोगिया –भक्ति, करुण; हिंडोल – उत्तेजित, वीर; बहार – उत्साह, उमंग; अड़ाना –चंचल, उद्दाम, नटखट, अल्हड़, कामातुरा, माया कौशिक – निर्वेद, शांत; तोड़ी – विरह, वेदना, मौन विलाप[2] आदि। इन कुछ रागों का प्रभाव इतना स्पष्ट है कि इनसे उत्पन्न भाव तथा रस संबंधी कोई मतभेद नहीं मिलते और सभी विद्वानों द्वारा इन रागों के रस भाव तथा प्रकृति को मान्यता प्राप्त हैं परंतु इन मान्यताओं को भी कुछ आधार हैं। पहला आधार है, बंदिश में निहित भाव द्वारा राग की प्रकृति का आँकलन करना- बंदिश में निहित काव्य में उपस्थित नाट्य तत्व द्वारा दिखाई प ड़ने वाली किसी परिस्थिति विशेष का अनुमान करके उससे उत्पन्न भाव को किसी रस के साथ जोड़कर राग की प्रकृति की कल्पना करना॥

दूसरा आधार है, विभिन्न ग्रंथों में प्राप्त राग-ध्यानों के आधार पर राग की भाव मूर्ति बनाना- हमारे कुछ संस्कृत व हिंदी के ग्रंथों में रागों के स्वरूप बताने हेतु तांत्रिक - ध्यान दिए गए हैं , जिसमें सोमनाथ का ग्रंथ 'राग विबोध', शिवराम का ग्रंथ 'राग - रस - सार', महाराणा कुम्भा का 'संगीत - राज', वाचनाचार्य सुधाकलश का 'संगीतोपनिषत्सारोध्दार' आदि प्रमुख है। इन राग-ध्यानों में राग-रागिनियों की विभिन्न परिस्थितियों और प्रकृति को दर्शाया गया है । उन्हीं परिस्थि तियों और मनोदशा ओं के आधार पर श्लो कों को र चा गया है। इस प्रकार राग-ध्यानों से भी राग की प्रकृति का अनुमान लगाया जा सकता है।

तीसरा आधार है , राग - रागिनी वर्गीकरण को आधार मानते हुए उसी के अनुरूप राग - रागिनी के चित्र बनाकर , जो कि विभिन्न शैलियों (मुगल शैली, कांगड़ा शैली, दकिनी शैली, राजपूत शैली के अंतर्गत-राजस्थानी तथा पहाड़ी) में बनाए गए हैं, उनके आसपास की परिस्थिति , भाव व अवस्था को प्रदर्शित करना। इन चित्र मालाओं और उनकी प्रतिलिपियों को देश और विदेश के संग्रहालयों में संग्रहित किया गया है। इन चित्रों को देखने से भी राग अथवा रागिनी की प्रकृति का अनुमान लगाया जा सकता है।

चौथा आधार है , राग के स्वरूप को आत्मसात करके भाव मूर्ति बनाकर उसे विशेष रस के साथ अनुभव करना या जोड़ देना । इसमें राग को सुनकर उसके भावों रस आदि तत्वों को सहृदय श्रोता स्वयं अनुभव करता है। वह स्वयं ही यह तय करता है कि राग को सुनकर उसके हृदय में किस प्रकार के भाव उत्पन्न हुए तथा वह भाव किस रस से संबंधित है।

इन चारों मापदंडों द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि अमुक राग किस रस से संबंधित होगा। किंतु फिर भी अनेक राग ऐसे हैं जिनका रस निश्चित करना अत्यंत कठिन कार्य है, उदाहरण के लिए बिलावल, पटदीप, गोरख कल्याण आदि। ऐसा क्या

कारण है जो कुछ रागों के तो रस भाव निश्चित है किंतु कुछ राग इस परिधि में नहीं लाए जा सके हैं।

विद्वानों ने नौ प्रकार के रस और 33 प्रकार के संचारी भाव बताए हैं। जिसमें संचारी भाव अपने मुख्य भाव के साथ ही जन्म लेते हैं और विलुप्त हो जाते हैं। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि विद्वानों के अनुसार संगीत में मुख्य रूप से मात्र पांच रस ही प्रयोग में लाए जा सकते हैं - श्रंगार, करुण, वीर, शांत तथा सभी कलाओं में व्याप्त अद्भुत रस। इसके अतिरिक्त सभी 33 संचारी भाव भी संगीत में प्रयुक्त नहीं होते। शम, ग्लानि, चपलता, हर्ष, मंद, श्रम, विषाद, आवेग, उग्रता, शंका आदि भाव ही शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त किए जा सकते हैं। ऐसा नहीं है कि अन्य रसों का संगीत में कोई स्थान नहीं है किंतु स्वर-लय जैसे सूक्ष्म तत्वों की उपस्थिति के कारण , आश्रयगत मर्यादाएं होने से शास्त्रीय संगीत में सभी रसों की अभिव्यक्ति हेतु उतनी स्वतंत्रता नहीं है , जितनी कि साहित्य में।अतः देखा जाए तो शास्त्रीय संगीत का भाव क्षेत्र साहित्य के भाव क्षेत्र से कुछ सीमित हो जाता है और सभी रागों को दोष रहित ढंग से रस के अंतर्गत रखना कठिन प्रतीत होता है।

मुख्य रागों की संख्या कितनी मानी जाए जिससे यह सिद्ध हो सके कि इन्हीं स्वरावलियों में उलटफेर करके ही अन्य कई रागों का जन्म हुआ होगा। परंतु इसका कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है क्योंकि अब तक कोई भी राग वर्गीकरण सर्व स्वीकृत नहीं हो पाया है। किंतु फिर भी वर्तमान काल में प्रचलित 10 थाटों के स्वरों के आधार पर 10 राग अपनी व्यक्तिगत विशेषता लिए हुए हैं और इन्हीं 10 थाटों के अंतर्गत अन्य राग भी आते हैं (कुछ राग ऐसे भी हैं जो किसी थाट के अंतर्गत नहीं आते) तथा यदि रागांग को राग वर्गीकरण का आधार माना जाए तब 30 रागांग हैं जिनके स्वर समुदायों के आधार पर मुख्य राग और उनके सम प्रकृति राग जन्म लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि थाट के अनुसार 10 स्वरावलियाँ ऐसी हैं जिनके आधार पर या जिनमें कुछ अन्य स्वरों को घटा या बढ़ा करके अन्य रागों को जन्म दिया गया है। इस प्रकार यदि हम रागांग की स्वरावलियों को मुख्य राग के अतिरिक्त अन्य रागों को जन्म देने वाली मान लें, तब यह संख्या 30 होगी यानी मुख्य राग 30 होंगे। और इन 30 रागों से ही अनेक रागों की उत्पत्ति हुई है, ऐसा माना जा सकता है।

गणितीय आधार से 1 थाट से 484 राग उत्पन्न माने गए हैं अतः 10 थाटों से 484×10=4840 राग उत्पन्न हो सकते हैं। किंतु यह एक गणितीय संख्या है। समय-समय पर कुछ राग अधिक प्रचलित तथा कुछ राग कम प्रचलित होते रहे हैं व कुछ रागों के मौलिक स्वरूप समय के साथ विलुप्त भी हो गये हैं।अतः यह आवश्यक नहीं कि जो राग वर्तमान में प्रचलित हैं वह प्राचीन काल में भी प्रचलित रहे हों, क्योंकि नवीन रागों का

सृजन भी होता जाता है और प्राचीन राग विस्मृत भी होते जाते हैं। मोटे तौर पर देखा जाए तो मुश्किल से 150 – 200 राग ही वर्तमान काल में प्रचलित होंगे । किंतु यह केवल प्रचलित रागों की संख्या है यदि हम ग्रंथों द्वारा प्राप्त सभी रा गों का रस के अंतर्गत वर्गीकरण करना चा हें तब रागों की संख्या काफी अधिक होगी । ऐसे में रागों की अधिकता होना भी रस के अनुसार रागों का वर्गीकरण करने में दुरूहता उत्पन्न करता है।

इन सभी मुख्य बिंदुओं के अति रिक्त कुछ अन्य बातें भी हैं जिनके कारण रागोंद्वारा होने वाली अनुभूति या आनंदा नुभव को वर्गीकृत करने तथा उनको किसी रस के अंतर्गत जोड़ने में कठिनाई आती है , जैसे 1-प्राचीन काल में प्रचलित राग और वर्तमान काल के रागों के नामों में समानता होने के बाद भी उनके स्वरूप में परिवर्तन आ गया है जिसके कारण उस राग के रस का निर्धारण करना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए राग बसंत जो एक प्राचीन राग माना जाता है। विद्वानों का ऐसा मानना है कि पहले केवल शुद्ध मध्यम का प्रयोग होता था किंतु आज इस राग में दोनों माध्यमों का प्रयोग इस राग में किया जाता है । 2- राग द्वारा बनाए गए भाव चित्रों को जांचने का कोई भी वैज्ञानिक परीक्षण नहीं है। जिससे यह सिद्ध हो सके कि किसी राग विशेष से यह निश्चित रस ही उद्दीप्त होता है। 3- वर्तमान काल में उत्तम वाग्गेयकार का मिलना भी थोड़ा कठिन है। कारण यह है कि जो विद्वान साहित्य को भली-भांति जानते हैं उन्हें संगीत का समुचित ज्ञान नहीं होता तथा जो संगीतकार होते हैं वह साहित्य की गहरी समझ नहीं रखते। ऐसे में यदि कोई संगीतकार किसी बंदिश को बनाता है तब वह राग के अनुरूप साहित्य चुनने में अपनी रुचि नहीं दिखाता। 4- वर्तमान समय के कुछ विद्वान प्राचीन ग्रंथों में वर्णित राग-रस के संबंध से एकमत नहीं हैं। इसका कारण यह भी है कि समय के साथ राग के स्वरूपों में भी कुछ बदलाव आ जाता है क्योंकि स्वर और लय जोकि संगीत को प्रकट करने का माध्यम है, वह चल तथा अमूर्त हैं।

इस विषय को इस उदाहरण से समझा जा सकता है। एक मतानुसार मुख्य रंग तीन माने गए हैं - लाल, पीला और नीला। इन्हीं तीन मुख्य रंगों से संसार के सभी रंगों का जन्म हुआ है। जैसे गुलाबी रंग बनाने के लिए सफेद और लाल रंग मिलाना होता है, इसी प्रकार अन्य रंग भी बनते हैं। यदि किसी रंग में उसे हल्का रंग बनाने के लिए सफेद मिलाते जाएं तो एक सीमा पर आकर वह सफेद रंग ही बन जाएगा इसी प्रकार यदि उस रंग को गहरा करने के लिए काला रंग मिलाते जाएं तो वह एक सीमा पर आकर काला रंग ही बन जाएगा। किंतु इस बीच उस रंग के अनेकों रंग बन जाएंगे। यह कल्पना करना कठिन है कि कुल कितने प्रकार के रंग हो सकते हैं किंतु फिर भी उन रंगों में वह मुख्य तीन रंग निश्चित रूप से निहित हैं।

अतः जो राग किसी रस से सीधे-सीधे जुड़े माने गए हैं जैसा की पहले बताया जा चुका है, उन्हीं में स्वरों का कुछ फेरबदल करके नवीन रागों का यदि निर्माण किया जाएगा तब यह संभव है कि वह राग मिश्रित भावों को उद्वेलित करने वाले हों या उन्हें नवरस में से किसी के भी अंतर्गत रखे जाने में कठिनाई हो। संभवतः यही कारण है कि ऐसे रागों की संख्या गिनी-चुनी ही है जो किसी निश्चित रस से संबंधित हों अथवा किसी निश्चित रस को प्रदर्शित करने वाले भाव मूर्ति का निर्माण करते हों। इसके विपरीत राग बिलावल, पटदीप, शुद्ध कल्याण आदि कुछ ऐसे राग हैं जो बहुत सुंदर हैं किंतु फिर भी किसी विशेष रस के अंतर्गत नहीं रखे जा सकते । जैसे राग भैरवी, इस राग को सुनने से हृदय में कभी श्रंगार कभी भक्ति कभी प्रसन्नता तो कभी दुख का भाव उठता है । राग मालकौंस राग में नी कोमल है और चंद्रकौंस में नि शुद्ध है, किंतु फिर भी दोनों के रस और भाव में पर्याप्त अंतर है । जहां मालकौंस राग गंभीरता को प्रकट करता है वहीं राग चंद्रकौंस व्यग्रता और तनाव युक्त प्रभाव डालता है। मालकौंस का चलन पूर्वांग में है जब के चंद्रकौंस का चलन उत्तरांग में शोभा देता है। इस प्रकार मात्र एक स्वर के अलग हो जाने से राग का संपूर्ण स्वरूप ही बदल जाता है । इसी प्रकार भैरव गंभीर है और कालिंगड़ा चंचल है। राग का सौंदर्य उसकी प्रकृति के अनुसार स्वरोच्चार से ही निखरता है।[3] राग का स्वरूप निर्माण गायक के प्रस्तुतीकरण पर भी निर्भर करता है । गायक अपने कला कौशल द्वारा राग के स्वरों में निहित स्वर भावों के प्रभाव को और अधिक प्रभावी बना देता है।

निष्कर्ष - स्वरूप यह कहा जा सकता है कि कुछ मुख्य रागों को तो किसी निश्चित रस से जोड़ा जा सकता है किंतु उससे उत्पन्न प्रत्येक राग को जो कि मुख्य राग में छोटे -छोटे परिवर्तन करके बनाए गए हैं, उन सभी को किसी विशेष रस से जोड़ पाना कठिन प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य तथ्य यह भी है की साहित्य की तुलना में संगीत में साधारणतः पांच रस ही प्रयोग में लाए जाते हैं तो ऐसे में रस क्षेत्र और भी सीमित हो जाता है। स्वरों के बदल जाने से मुख्य राग के रूप व सौंदर्य में बदलाव आ जाता है, तो उस राग को बुद्धि -बलपूर्वक कर किसी रस के अंतर्गत बाँधना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। वैसे भी संगीतविदों ने संगीत से उत्पन्न होने वाले आनंद को ब्रह्मानंद सहोदर कहा है जो अनिर्वचनीय है, अर्थात जिसका वर्णन न किया जा सके। ऐसे में यदि कुछ ऐसे राग जिन्हें सुनने से आनंद प्राप्त होता है, वे रंजक हैं और उस आनंद को शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता है तब भी उस राग का अपना एक अस्तित्व है, स्वरूप है। यदि गायक अपने कला कौशल से काकु भेद का समुचित प्रयोग करते हुए राग को अपनी कल्पना के अनुसार किसी रस के साथ जोड़ने में सफल हो जाए तब उस राग को उसी रस से संबंधित माना जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. राव, एच0 पी0 कृष्णा, 2008 साइकोलॉजी ऑफ इंडियन म्यूजिक ', लो प्राइस पब्लिकेशन, बेंगलुरू।
2. दीक्षित, डॉ. प्रदीप कुमार, 1984, 'स'रस' संगीत', प्रकाशक- डॉ प्रदीप कुमार दीक्षित 'नेहरंग', मुद्रक- वर्धमान मुद्रणालय, वाराणसी।
3. भटनागर, डॉ. मधुर लता, 1994, भारतीय संगीत का सौंदर्य-विधान, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
4. पाठक, डॉ. सुनंदा, 1989, हिंदुस्तानी संगीत में राग की उत्पत्ति एवं विकास, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
5. मित्रा, सुश्री बुलबुल, 1940, संगीत और साहित्य, संगीत कला, जनवरी-फरवरी, यमन अंक।
6. शर्मा, स्वतंत्र, 2010, सौंदर्य, रस और सं गीत, अनुभव पब्लिशिंग हाउस , इलाहाबाद।
7. शर्मा, महारानी, 2011, संगीत मणि (भाग 1) , श्री भुवनेश्वरी प्रकाशन, इलाहाबाद।
8. चौरसिया, ओम प्रकाश, 2001, संगीत - रस परंपरा और विचार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. www.tanrang.com
10. www.google.com

***

बिहार में ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य में आने वाली बाधाए

ममता कुमारी *

किसी भी देश एवं राज्य के लिए वहाँ के नागरिकों का स्वस्थ होना अत्यावश्यक है। यद्यपि, पत्येक समाज के द्वारा अपने सदस्यों के स्वस्थ जीवन के लिये प्रयास किये जाते हैं, लेकिन यह भी एक वास्तविकता है कि अधिकतर समाजों, विशेषकर भारतीय समाज में महिला एवं पुरुष के स्वास्थ्य स्थिति में न केवल अंतर पाया जाता है बल्कि एक स्वस्थ समाज के लक्ष्य को प्राप्त करने हेत् किये गये प्रयासों में भी लैंगिक आधार पर भेदभाव के तत्व उपस्थित रहते हैं।

भारतीय समाज में महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति समय के साथ परिवर्तित होती रही है, हालाँकि परिवर्तन भारतीय समाज के सभी पक्षों में हुए हैं। भारतीय महिलाओं का स्वास्थ्य स्तर समाज में उनकी प्रस्थिति से जुड़ी हुई है। यहाँ की महिलाएँ विभिन्न सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से संबंधित हैं तथा जब मूलभूत स्वास्थ्य सुविधाओं की उपलब्धता की बात हो तो वे कभी-कभी समांत अथवा तिरिष्कृत स्थिति में रहती है। महिलाएँ समाज की मेरूदंड मानी जाती है तथा एक स्वस्थ समाज के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु उन्हें पर्याप्त स्वास्थ्य सुविधाओं को उपलब्ध कराना आवश्यक है।[1] किसी राष्ट्र के विकास को केवल तकनीकी एवं भौतिक विकास एवं उन्नति के माध्यम से मापा नहीं जा सकता, बल्कि इसका वास्तविक माप उस राष्ट्र में निवास करने वाले लोगों के जोवन की गुणवत्ता के स्तर के आधार पर ही संभव हो सकता है। महिलाएँ, जो हमारे देश की आधी जनसंख्या है, सामान्यत: कमजोर श्रेणी की मानी जाती है।[2] महिलाओं को पुरुषों की तुलना में दोयम दर्जे के मानने के पीछे कई कारण हो सकते हैं। महिलाओं के प्रति लैगिक भेदभाव की स्थिति, समाज और राष्ट्र में जेंडर डेवलपमेंट इंडेक्स का ह्यूमेन डेवलपमेंट इंडेक्स से नीचे होना, महिलाओं के अवसर में समानता की कमी, गृह कार्य तक उनकी क्षमताओं का सीमित होना, जन्म से पुरुषों के समान क्षमता रहने के बावजूद उनमें सक्रिय जीवन का अभाव, पुरुषों में उनकी योग्यता को स्वीकार करने का अभाव, महिलाओं के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण इत्यादि ऐसे कारण हैं जिनसे महिलाओं को पुरुषों की तुलना में निम्न मानने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

किसी भी परिवार की धुरी महिला होती है। महिलाओं के कंधों पर माँ, बेटी, बहन व पत्नी आदि के रूप में अनेक दायित्वों का भार होता है। अत: महिला के स्वास्थ्य का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण परिवार के स्वास्थ्य, विकास व

---

* शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

खुशहाली पर पड़ता है। अतः परिवार, समाज व देश के समग्र व संतुलित विकास में महिलाओं के स्वास्थ्य की अहम होती है। महिलाओं के स्वास्थ्य एवं पोषण की स्थिति उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक कारकों से बंधी होती है जिनसे उनके जीवन के सभी पक्ष प्रभावित होते हैं तथा इसका प्रभाव न केवल महिलाओं पर स्वयं पड़ता है बल्कि यह उनके बच्चों के पालन-पोषण एवं गृहस्थी को भी प्रभावित करता है।[3]

भारतीय महिलाओं का स्वास्थ्य समाज में उनकी सामाजिक-प्रस्थिति पर आधारित होती है। महिलाओं पर किये गये कई शोध इस तथ्य को बताते हैं कि परिवार में भारतीय महिलाओं के योगदान को नजरअंदाज किया जाता है तथा उन्हें एक आर्थिक बोझ के रूप में भी देखा जाता है। पुरुष प्रधान समाज होने के कारण परिवार में पुत्रों को अधिक महत्व दिया जाता है तथा पुत्रियों की देखभाल को दोयम दर्जे पर रखा जाता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा एवं औपचारिक श्रम-बल में महिलाओं की स्थिति पुरुषों की स्थिति की तुलना में निम्न स्तर पर है। परम्परागत रूप से उन्हें स्वतंत्रता से वंचित कर पुत्री के रूप में पिता, पत्नी के रूप में पति एवं माता के रूप में पुत्र के नियंत्रण में रखा गया। इन सभी कारकों का उनके स्वास्थ्य स्तर पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। कमजोर स्वास्थ्य की महिलाओं कम वजन वाले बच्चों को जन्म देती है। वे स्वयं एवं अपने बच्चों को पोषण युक्त आहार से वंचित रहती है। इस प्रकार महिला-स्वास्थ्य का प्रभाव उनके गृहस्थी के आर्थिक पक्षों को भी प्रभावित करती है तथा कमजोर स्वास्थ्य के कारण वे श्रम-बल के रूप में निम्न उत्पादक की श्रेणी में आ जाती हैं।[4]

महिला-स्वास्थ्य के पक्ष जटिल होते हैं तथा यह कई कारकों पर निर्भर करते हैं। सामाजिक एवं पर्यावरणात्मक कारकों से एक साथ महिलाओं के स्वास्थ्य प्रभावित होते हैं। लैंगिक पक्ष महिला-स्वास्थ्य को न केवल प्रभावित करते हैं बल्कि इनकी तीव्रता में जाति एवं वर्ग के आधार पर भिन्नता भी उत्पन्न होती है। महिलाओं पर उत्पादन एवं पुनर्उत्पादन की जिम्मेदारियाँ भी उनके स्वस्थ जीवन को प्रभावित करती है।

महिलाओं की स्थिति

भारतीय समाज परिवर्तन के साथ-साथ महिलाओं की स्थिति में भी परिवर्तन होते रहे हैं जिससे उनके स्वास्थ्य की स्थिति एवं उपलब्धता में भी बदलाव हुए हैं। वर्तमान भारतीय समाज रूपांतरण की प्रक्रिया से गुजर रहा है। अंग्रेजों के साथ भारत में पाश्चात्य शिक्षा, नई कानूनी व्यवस्था, राजनीतिक विचारधारा तथा सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का आगमन हुआ, जिसने भारतीय समाज की परम्परागत मूल्य व्यवस्था एवं कर्मकांडीय व्यवस्था को कमजोर बनाने का कार्य किया। स्वतंत्रता की प्राप्ति ने भारत में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को किसी-न-किसी रूप में तीव्र कर दिया।[5] नई तकनीकी एवं वैज्ञानिक खोजों ने तो परिवर्तन की इस प्रक्रिया की गति को और भी तेज कर

दिया। औद्योगिकीकरण, जो कि तकनीकी खोजों का परिणाम है, ने भारतीय जीवन पद्धति एवं परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को पूरी तरह से बदलने का कार्य किया।[6]

सम्पूर्ण आधुनिक सामाजिक शक्तियों एवं सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों ने भारतीय मूल्य-व्यवस्था एवं संस्थागत जटिलताओं का बदल दिया। प्रस्थिति के निर्धारण का आधार, प्रस्थिति के संस्तरण एवं प्रत्येक प्रस्थिति-व्यवस्था से जुड़ी हुई भूमिकाएँ, परिवर्तन की इस प्रक्रिया से प्रभावित हुई। इस स्थिति से भारतीय समाज की महिलाएँ भी अछूती नहीं रही। समाज के प्रत्येक वर्ग की महिलाओं की स्थितियों में बदलाव होने लगे। ये बदलाव न केवल समाज की आंतरिक शक्तियों से स्वयं उत्पन्न हुए बल्कि कई लक्षित एवं नियोजित परिस्थितियों एवं कार्यों का भी परिणाम बना।

ऐतिहासिक दृष्टि से जब हम भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति पर ध्यान देते हैं हम यह पाते हैं कि उनको स्थिति में समय एवं काल के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। वैदिक काल में महिलाओं की स्थिति बहुत हद तक पुरुषों के ही समान थी। उन्हें न केवल गृहस्थ जीवन का बल्कि समूचे सामाजिक संगठन का भी आधार माना जाता था। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने कभी पर्दा नहीं किया; उन्हें जीवन साथी चुनने की आजादी थी, शिक्षा प्राप्ति से वे वंचित नहीं थी तथा घर एवं बाहर में स्वतंत्र थी। आर्थिक क्षेत्र में उन्हें माँ व पत्नी के रूप में सम्पत्ति में सीमित अधिकार प्राप्त थे परन्तु वे नौकरी नहीं करती थी और पारिश्रमिक प्राप्त नहीं करती थी क्योंकि ऐसा करना उनके लिए आवश्यक नहीं थी। राजनैतिक क्षेत्र में उनकी प्रस्थिति तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था पर निर्भर करती थी। धार्मिक क्षेत्र में उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त थे और वे नियमित रूप से धार्मिक समारोहों में भाग लेती थी।

पौराणिक, ब्राह्मण एवं मध्यकाल में महिलाओं की स्थिति उनपर अनेक प्रतिबंधों के लगने कारण निम्न हो गयी थी। पूर्व-यौवनारम्भ काल में ही विवाद होने लगे, विधवा पुनर्विवाह निषिद्ध हो गया, पति को पत्नी के लिए देवता का दर्जा दिया गया, शिक्षा पूर्ण से अस्वीकृत कर दी गयी, सती प्रथा प्रारंभ हो गई, पर्दा प्रथा प्रचलित हो गयी, बहुपत्नी विवाह सहन किया जाने लगा, महिलाओं को बलि चढ़ाने, प्रार्थना करने व धार्मिक पुस्तकें पढ़ने की अनुमति नहीं दी गयी। मुस्लिम काल में जाति प्रथा के कठोर प्रतिबंधों को थोपने तथा सम्पूर्ण समाज पर ब्राह्मणी शुद्धता थोपे जाने के कारण उनपर अधिक प्रतिबंध लागू किये गए।

परन्तु भक्ति आंदोलन के कारण उनकी स्थिति में कुछ परिवर्तन आया जिसके कारण महिलाओं को कुछ सामाजिक और धार्मिक स्वतंत्रता मिली। ब्रिटिश काल में महिलाओं की प्रस्थिति में कुछ सुधार आया। कुछ समाज सुधारकों एवं नेताओं द्वारा सामाजिक आंदोलनों को चलाने एवं ब्रिटिश सरकार द्वारा महिलाओं के हितों में बनाए

गये कुछ अधिनियमों के कारण महिलाओं की स्थिति में सुधार की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। इन प्रयासों से महिला उत्थान एवं विकास का रास्ता तैयार होने लगा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् महिलाओं की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन, पूर्व में इसके लिए बनाये गये नींव की वजह से होने प्रारंभ हुए। इसके लिए कई सकारात्मक एवं प्रभावशाली कदम उठाये गये। इनमें मुख्य रूप से संवैधानिक व्यवस्था के तहत महिलाओं को प्रदत्त अधिकार एवं महिलाओं के हितों में बनाए गये कई अधिनियमों को शामिल किया जा सकता है। संवैधानिक व्यवस्था के तहत लिंग-समानता लाने का प्रयास किया गया। इसमें भारतीय संविधान में उल्लेखित लिंग-विषयक सिद्धांत महत्वपूर्ण है। महिलाओं की समानता का उल्लेख संविधान के भाग-III (मौलिक अधिकार) में किया गया तथा लैंगिक समानता की स्थिति प्राप्त करने एवं लिंग-भेदभाव को समाप्त करने के लिए संविधान के कुछ अनुच्छेद जैसे-अनुच्छेद 14, 15, 16, 39(ए), 39(ई), 39(एफ), 42, 44 243डी(3), 243डी.(4), 243टी.(3), 243टी.(4), इत्यादि महत्वपूर्ण अनुच्छेद हैं।

इसके अतिरिक्त, कुछ विशेष अक्षमताओं पर विचार करते हुए राज्य रचनात्मक कार्यवाही द्वारा उनको दूर करने का प्रयास करता है जो भारत के संविधान का भाग-IV 'राज्य नीति-निर्देशक सिद्धांतों' से संबंधित है। इसमें राज्य से इन सिद्धांतों के अनुसार महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए उपाय करने की अपेक्षा की गयी है।[7] लेकिन दूसरी तरफ संविधान की कुछ अन्य धाराओं पर विचार करने से हमें महिलाओं से संबंधित कुछ विपरीत पक्ष भी दिखाई पड़ते हैं। संविधान की अन्य कई धाराएँ जैसे-धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार जैसा कि अनुच्छेद 25 से 28 में दिया गया है, जिसे राज्य विधायिका द्वारा पर्सनल लॉ के रूप में दिया गया है, महिलाओं को उनके जीवन के लगभग सभी पहलुओं में मौलिक रूप से समानता से वंचित किया गया है। उन्हें व्यक्तिगत, आर्थिक, लैंगिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक समानता और यहाँ तक कि अपने शरीर पर अधिकार के साथ-साथ कुछ मान्यताओं, मूल्यों और मानकों तथा व्यक्तिगत आचार संहिता को मानने का भी अधिकार नहीं दिया है।

दूसरी ओर, महिलाओं की सुरक्षा एवं विकास से संबंधित सरकार के स्तर पर कुछ विशेष कानून भी बनाए गए हैं। वास्तव में ये कानून सामाजिक विधान है। सामाजिक विधान विभिन्न सामाजिक आदर्श नियमों का संकलन है जिसे एक सक्षम विधायकी अभिकरण द्वारा तैयार किया जाता है। ये आदर्श नियम सामान्य रूप से उस समाज के इच्छित लक्ष्यों को पूरा करने हेतु प्रयोग में लाये जाते हैं। इन्हीं लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए सामाजिक विधानों द्वारा निम्न स्तर के व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूहों को उपर उठाने का प्रयास किया जाता है। इसलिए सामाजिक विधानों द्वारा समाजिक

संस्थाओं एवं उस समाज की संरचना में सुधार लाने के लिए कदम उठाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, सामाजिक विधान 'सामाजिक-अस्वस्थता' को रोकने आर 'सामाजिक-स्वस्थता' को बनाए रखने एवं उपर उठाने का भी प्रयास करता है। सामाजिक विधानों के द्वारा समाज के परम्परागत मूल्यों एवं वर्तमान आवश्यकता के बीच दूरी हटाकर समाज में संतुलन की स्थिति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। ऐसे विधान जो वर्तमान नियमों एवं समाज की वर्तमान आवश्यकताओं की खाई के बीच में एक पुल का काम करता है, वही सामाजिक विधान कहलाता है।[8] ऐसे ही कुछ सामाजिक विधान बनाये गये हैं जिनका प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव न केवल महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति पर पड़ा बल्कि, इससे उनकी सम्पूर्ण जीवन भी प्रभावित हुआ। ऐसे ही कुछ सामाजिक विधान है- विवाह से संबंधित कानून, सम्पत्ति से संबंधित कानून, महिला विकास एवं सुरक्षा के कुछ संस्थागत तंत्र जैसे महिला आयोग, मानवाधिकार आयोग आदि। इसके माध्यम से महिलाओं की स्थिति में समानता लाने एवं उनके विकास के प्रयास किये गये। साथ ही, विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में महिला कल्याण, विकास एवं सशक्तिकरण की कई नीतियाँ केन्द्र एवं राज्य स्तरों पर बनाई एवं लागू की गयी तथा उसी के अनुरूप कई योजनाओं को संचालित किये जा रहे हैं। उन योजना के सकारात्मक प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से महिला विकास के साथ ही उनकी स्वास्थ्य की स्थिति पर भी पड़ा। इसके अतिरिक्त, महिला एवं बालिका स्वास्थ्य की कई योजनाएँ भी चलाई जा रही है।

स्वतंत्रता के समय देश की महिलाओं का स्वास्थ्य चिन्ताजनक व निराशाप्रद स्थिति में था। तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या, निरक्षरता, निर्धनता, कुपाषण व अल्पपोषण, महिला वर्ग की निम्न सामाजिक स्थिति एवं स्वास्थ्य सुविधाओं की अपर्याप्तता के कारण महिलाएँ स्वास्थ्य संबंधी अनेक जटिलताओं से जूझ रही थी तथा महिलाओं के स्वास्थ्य पर खतरे के बादल मंडरा रहे थे। शहरी क्षेत्र की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में चिकित्सा सुविधाएँ नगण्य होने की वजह से ग्रामीण क्षेत्र हैजा, पेचिश, प्लेग तथा मलेरिया जैसी महामारियों से ग्रस्त थे। ग्रामीण महिलाओं व बच्चों को इनके दुष्परिणाम अधिक झेलने पड़ते थे। देश में ग्रामीण महिलाएँ लिंग-भेद का शिकार होने की वजह से अल्प पोषण, कुपोषण के कारण 'रक्ताल्पता' से ग्रस्त पाई जाती थी। इसके अतिरिक्त पुरुषों की अपेक्षा उनका कार्यभार दुगुना था जिससे उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। विभिन्न शोध रिपोर्टों के निष्कर्षों के अनुसार भी यह तथ्य उभरकर सामने आया कि हमारे यहाँ ग्रामीण महिलाओं का स्वास्थ्य देश के आम नागरिकों की तुलना में कहीं अधिक निम्नस्तरीय था।[9]

स्वतंत्रता के पश्चात देश में महिलाओं के स्वास्थ्य के प्रति समाज में जागरूकता, संवेदनशीलता व सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करने की दिशा में अनेक कदम उठाये गये। इसी भाँति, महिलाओं के स्वास्थ्य में सुधार सुनिश्चित करने हेतु अनेक कार्यक्रम संचालित किये गये। प्रथम पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य सुविधाओं के विस्तार को प्राथमिकता प्रदान करते हुए स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है 'समस्त प्रकार के संसाधनों का भरपूर उपयोग तभी संभव है जब आम आदमी के लिए चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध हो। अत: ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाओं का प्रसार सरकार का मुख्य प्रयास होना चाहिए।'

महिलाओं के लिए स्वास्थ्य सुविधाओं की उपलब्धता सुनिश्चित करने हेतु सरकार के विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान विविध कार्यक्रमों को संचालित किया है। इसी कड़ी में महिला स्वास्थ्य के कई कार्यक्रम महत्वपूर्ण रहे हैं। इनमें 'समेकित बाल परियोजना', 'मातृ एवं शिशु रक्षा कार्ड', 'जननी सुरक्षा योजना', मातृ स्वास्थ्य कार्यक्रम', 'राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन', 'राष्ट्रीय प्रसव लाभ योजना' इत्यादि महत्वपूर्ण है। 'समेकित बाल परियोजना' के तहत जहाँ माता व बच्चों के स्वस्थ जीवन के लिए पोषाहार की व्यवस्था करने हेतु आंगनबाड़ी केन्द्रों में कई सुविधाएँ व सेवाएँ प्रदान की जाती है वहीं 'मातृ एवं शिशु रक्षा कार्ड योजना' के द्वारा माता व बच्चे को जीवन रक्षक टीकाएं लगाए जाते हैं।

'जननी सुरक्षा योजना' के अन्तर्गत गरीबी रेखा से नीचे के परिवार की गर्भवती महिला द्वारा अस्पताल में प्रसव करवाने पर नकद राशि प्रदान किये जाते हैं तथा 'मातृ स्वास्थ्य कार्यक्रम' के माध्यम से मातृ मृत्यु दर व रूग्णता में कमी लाने के प्रयास किये जात हैं। राष्ट्रीय प्रसव लाभ योजना के अन्तर्गत 19 वर्ष या इससे अधिक आयु की महिलाओं के लिए पहले दो बच्चों के जन्म पर प्रसव-पूर्व और प्रसवोत्तर मातृत्व लाभ हेतु 500 रुपये वित्तीय सहायता प्रदान करने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त, दूरवर्ती ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं को सस्ती, सुगम और गुणवत्तायुक्त चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराने के दृष्टिकोण से 'राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन' का शुभारंभ 12 अप्रैल, 2005 को किया गया।

महिलाओं के विकास के कई कार्यक्रमों के संचालन, महिला स्वास्थ्य की योजनाओं एवं कार्यक्रमों के संचालन, शिक्षा में विकास, इत्यादि के प्रभाव से ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य के प्रति समाज की जागरूकता एवं संवेदनशीलता बढ़ी है, ग्रामीण क्षेत्र में भी चिकित्सा सुविधाओं का विस्तार हुआ है, संक्रामक रोगों पर काफी हद तक नियंत्रण किया गया है। इन सब उपलब्धियों के बावजूद इस दिशा में अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। गाँव में अभी भी पर्याप्त ढाँचागत स्वास्थ्य सुविधाओं

की कमी है। स्वास्थ्य सुविधाओं के दृष्टिकोण से ग्रामीण क्षेत्रों की स्थिति शहरों की तुलना में काफी निराशाजनक है।

महिला स्वास्थ्य के निर्धारक

स्वास्थ्य की स्थिति जटिल जैवकीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों, जो कि आपस में अंतर्संबंधित है, के द्वारा प्रभावित होती है। ये सभी कारक पुरुष एवं महिलाओं के स्वास्थ्य को अलग-अलग तरीकों से प्रभावित करते हैं। निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति वाली महिलाओं के जैवकीय पुनर्उत्पादक के गुण उनमें असुरक्षित यौन-संबंधों, बीमारियों एवं अनचाहे गर्भ की समस्याओं को जन्म देती है। अत: महिलाओं की जैविक एवं सामाजिक स्थिति उनके समूचे जीवन को एक संचयी प्रक्रिया के तहत प्रभावित करती है। वास्तव में महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति का आकलन उनके सम्पूर्ण जीवन-चक्र को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है।

संदभ :

1. मनीषा ए. मेहरोत्रा एवं सौम्या चाँद; 'एन एक्युलेशन ऑफ मेजर डिटरमिनांट्स ऑफ हेल्थ केयर फैसिलिटीज फॉर वीमेन इन इंडिया', प्रकाशित लेख, आई.ओ.एस.आर. जर्नल ऑफ ह्यूमिनीटज एण्ड सोशल साइंस (जे.एच.एस.एस.), वो-2, इश्यू 5 (सितम्बर-अक्टूबर), 2012 नई दिल्ली, पृ.-1
2. पुष्पा तरफदार, पॉलिसीज एण्ड प्रोग्राम्स फॉर वीमेन्स इम्पावरमेंट इन दी साउथ एशियन कॉनटेक्स्ट' इन 'न्यू डायमेंसन्स ऑफ वीमेन इम्पावरमेंट (सं.) अजीत कुमार सिन्हा, दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नई दिल्ली, 2008, पृ.-25
3. आर. हरिहरण, 'हेल्थ स्टेट्स ऑफ रूरल वीमेन इन इंडिया : एन ओवरभ्यू ऑफ लिट्लेचर्स' : प्रकाशित लेख, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ रिसर्च इन इकॉनोमिक्स एण्ड सोशल साइसेंस (आई.जे.आर.ई.एस.एस.), खंड-6, इश्यू-8, अगस्त, 2016, पृ.-109
4. एस.एम. कालपुर एवं एस. रेड्डी, 'वीमेन हेल्थ इन इंडिया', प्रकाशित लेख इंटरनेशनल रिसर्च जर्नल ऑफ सोशल साइंसेस, खंड-2 (10) 11-15 अक्टूबर, 2013, नई दिल्ली, पृ.-12
5. एम. एन. श्री निवास; सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया; ओरियन्ट लॉंगमैन, (सं.) 1972, नई दिल्लो, पृ.-1
6. प्रोमीला कपूर, 'मैरेज एण्ड वर्किंग वीमेन, विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1970, पृ.-10

7. एस. देशाई, जिंडर इनइक्वीलिटीज एण्ड डेमोग्राफिक विहेवियर; इंडिया, सेंट मार्टिन्स प्रेस, न्यूयार्क, 1994, पृ.-117
8. दुर्गाबाई देशमुख, सोशल लेजिसलेसन, इट्स रोल इन सोशल वेलफेयर, पब्लिकेशन डिविजन, नई दिल्ली, 1996, पृ.-1
9. के.एम. मोदी, 'ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य सुधार हेतु उठाए गए कदम', प्रकाशित लेख, कुरूक्षेत्र, अगस्त 2012, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, पृ.-21

***

भाषा विज्ञान और संस्कृत ध्वनिग्राम

गणेश शंकर पाण्डेय *

भाषा का अर्थ भाषना अर्थात् बोलना है अर्थात् हम भाव को जिस रूप में सोचते हैं तथा बोलते हैं। भाषा मानव जीवन की प्राचीनतम् उपलब्धि है। भाषा मानव विकास के साथ–साथ समृद्ध होती रही। मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिये जिस सार्थक मौखिक साधन को अपनाता है, वह भाषा है। भाषा ही वह जीवन ज्योति है जो एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करती है। यह भाषा वस्तुतः मानव शरीर में देवी अंश है, जो इस सृष्टि में केवल मनुष्य मात्र को ही प्राप्त है।

वागरुपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमार्शिनी।।[1]

यह दिव्य ज्योति ही समस्त संसार में अपना प्रकाश फैलाये हुए हैं। इस भाषा रूपी ज्योति के बिना संसार घोर अंधकारमय होता है।

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[2]

ऋग्वेद में बाग् सूक्त का वर्णन प्राप्त होता है। वाग् सूक्त के आठ मन्त्रों में इस विषय की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि वाक्–तत्व या भाषा ही वह दिव्य ज्योति है, जो मानव को ऋषि, देवता या विद्वान बनाती है।[3] अतः भाषा व्यवहारिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। भाषा का अध्ययन भी भारत में चिरकाल से होता आ रहा है। 'वाग्वैपराच्यव्याकृता वदन्ते देवा'[4] इसी प्रकार 'वाचंदेवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः'[5] आदि वर्णनों से प्रमाणित होता है कि वैदिककाल, उपनिषदकाल में भाषा या वाणी को विशेष महत्व प्राप्त था। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी व्याकरण महाभाष्य में इसके महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है कि– एक शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके कामधुग् भवति।[6] आशय यह है कि भारत में भाषा के सम्बन्ध में सदा से विचार हो रहा है किन्तु भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन आधुनिक युग की देन है। आधुनिक युग में भाषा का इतना व्यापक एवं युक्ति–युक्त विवेचना हुआ कि इसका स्वरूप वैज्ञानिक अध्ययन की कोटि में आ गया। भाषा शब्द संस्कृत की भाष् धातु से बना है जिसका अर्थ है बोलना या कहना अर्थात् भाषा वह है जिसे बोला या कहा जाय। प्लेटो के अनुसार 'विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है। पर वही जब धवन्यात्मक होकर होठों पर पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा देते

---

* सहायक आचार्य, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, डी.ए.वी. पी.जी. कालेज, आजमगढ़।

हैं। स्वीट के अनुसार 'ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है। भाषा के प्रति जनमानस में अनेक जिज्ञासायें उत्पन्न हुई। जैसे भाषा क्या है? भाषा कैसे बनती है? भाषा का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। विश्व की भाषाओं का परस्पर क्या सम्बन्ध है? इन जिज्ञासाओं के समाधान के लिए शताब्दियों से प्रयत्न होते रहे, इधर लगभग 200 वर्षों से पाश्चात्य देशों में गम्भीर चिन्तन एवं मनन हुआ है। सर विलियम जोन्स ने 1986 ई0 में संस्कृत भाषा का अध्ययन करते समय संस्कृत की लैटिन और ग्रीक से अनेक अंशों में समानता प्राप्त की और उनके तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया।[7] इस प्रकार संस्कृत भाषा तुलनात्मक भाषा विज्ञान की मूल बनी। सर विलियम्स जोन्स द्वारा डाली गयी नींव ही आज विकसित, पुष्पित और पल्लवित होकर भाषा विज्ञान के रूप में प्रसिद्ध है। भाषा विज्ञान भाषा सम्बन्धी सभी प्रश्नों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। भाषा विज्ञान का सम्बन्ध विश्व की समस्त भाषाओं से है। अतः वह एक भाषा से सम्बद्ध विषयों का ही नहीं अपितु विश्व की समस्त भाषाओं का सामूहिक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

भाषा विज्ञान, भाषा के उच्चारण, प्रयोग और उपयोग की शिक्षा देता है। भाषा के विभिन्न अंगों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है। भाषा के सर्वांगीण विवेचन के साथ ही उसे जीवनोपयोगी भी बनाता है। भाषा विज्ञान विश्व भाषा शिक्षण में अत्यन्त सहायक है। यह विश्व की विभिन्न भाषाओं की समानता की स्थापना करके विश्व एकता एवं विश्व–बन्धुत्व का भाव जागृत करता है।

भाषा विज्ञान वर्तमान रूप में भारत के लिये नवीन है, पाश्चात्य देशों के समान भारत में भी इस विज्ञान के अनेक नामकरण हुए हैं। किन्तु इन नामकरणों पर अंग्रेजी नामों का प्रभाव अधिक है। जैसे तुलनात्मक भाषाशास्त्र तथा तुलनात्मक भाषा विज्ञान, इन नामों के अतिरिक्त हिन्दी में भाषा विचार भाषाशास्त्र तथा भाषातत्व, भाषा विज्ञान आदि शब्दों का भी व्यवहार होता है। श्री सीताराम चतुर्वेदी ने भाषालोचन नाम का भी प्रयोग किया है। भारत में प्रचलित 'भाषा विज्ञान' शब्द इसकी मूल आत्मा का अधिक सूचक है। इसके मूल में संस्कृत के भाषा एवं विज्ञान (विकल्परहित ज्ञान) का भी सहयोग है। अतः इस विज्ञान के लिए भाषा विज्ञान नाम ही अधिक उचित एवं सार्थक है। (शास्त्र) क्योंकि भाषा विषयक जिन मूल तत्वों को मनुष्य ने पकड़ लिया है। वे इस अध्ययन को विज्ञान की श्रेणी में स्थान पाने का अधिकारी बनाते हैं। इसीलिये इस अध्ययन का नाम भाषा विज्ञान उपयुक्त है, भाषा शास्त्र नहीं।[8] डा0 श्याम सुन्दरदास के अनुसार 'भाषा विज्ञान भाषा की उपत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।[9]

भाषा विज्ञान का वर्तमान रूप क्रमिक विकास का परिणाम है। भाषा विज्ञान की उत्पत्ति का बीज वेद में ही प्राप्त होता है, जैसे पदपाठ की रचना

की गयी, इसके अतिरिक्त शिक्षा, कल्प, निरूक्त, छन्द, व्याकरण नामक अंगों में से शिक्षा निरूक्त और व्यापक भाषा विज्ञान के कार्य करने वाले तत्व है। ब्राह्मण ग्रंथों में शब्दों की व्युत्पत्ति की प्रमाणितकता को भण्डारकर ने भी स्वीकार किया है। वेदमंत्रों के उच्चारण की शुद्धता के लिये ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रातिशाख्य के रूप में मिलता है। इन प्रातिशाख्यों में वेदों की प्रत्येक शाखा के अनुसार शब्दों और ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। उनके उच्चारण की सुरक्षा इनका मुख्य उद्देश्य है। परिणामतः मात्राकाल, स्वराधातु, उच्चारण सम्बन्धी नियमों का वैज्ञानिक अध्ययन ही प्रातिषाख्यों का मुख्य उद्देष्य है। प्रातिषाख्यों में पद के नाम (संज्ञा) आख्यात्, उपसर्ग और निपात चार विभाग किये गये हैं। प्रातिषाख्यों में स्वर और व्यंजन के उच्चारण सम्बन्धी स्वरूप का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया गया है। इसी प्रकार षिक्षा नामक वेदांग में स्वर, व्यंजन और मात्रा आदि के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। इसी क्रम में निघण्टु और निरुक्त महत्वपूर्ण हैं। निरुक्त की रचना यास्क महोदय ने की है। यही वह ग्रन्थ है जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति के नियमों का उचित निर्धारण किया गया है। निरुक्त भाषा वैज्ञानिक कार्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण भारतीय ग्रन्थ हैं। इसमें शब्द का अर्थ भाषा का वैज्ञानिक विवेचन, शब्दों का इतिहास, शब्द की श्रेष्ठता धातुओं में शब्दों का मूल विभाषाओं की ओर संकेत, पदो ंके नाम उपसर्ग, निपात, आख्यात आदि के सम्बन्ध में प्रारम्भिक सूत्रों की खोज की जा सकती है। निरुक्त की परिभाशा निम्नवत हो सकती है जैसे वर्णागम, वर्ण विपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाथ और धातु का अर्थ विस्तार यही निरुक्त के पाँच भेद भी हैं। इसके अन्तरगत ध्वनि, पद और अर्थ का समाहार हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निरुक्त में भाषा विज्ञान के मूलभूत तत्वों का विस्तार से अध्ययन हुआ है। यास्क के पश्चात् अनेक वैयाकरणों के नामों का उल्लेख यत्र–तत्र मिल जाता है। किन्तु उनकी रचनायें अलग–अलग होने के कारण उनके सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, इन वैयाकरणों में आपिशलि, और काथक्रत्सन का उल्लेख निरुक्तादि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। व्याकरण शास्त्र में पाणिनी का नाम महत्वपूर्ण है। यास्क के पश्चात भाषा को सुसंस्कृत करने वालों में पाणिनी विशेष प्रसिद्ध है। अष्टाध्यायी पाणिनी की ऐसी कृति है, जिसको यदि भाषा विज्ञान के वैज्ञानिक विवेचन के लिये मेरूदण्ड की संज्ञा दी जाय तो अत्युक्ति न होगी, अपनी विशेषताओं के कारण आज भी इस क्षेत्र का यह अमूल्य रत्न है।[10] भाषा का चरम अवयव पाणिनी ने वाक्य को स्वीकार किया है। वाक्य ही भाषा की इकाई है। इस मत के मूल में पाणिनी का यही धातु सिद्धान्त है। भाषा विज्ञान के विद्वानों ने भी इसी मत में अपनी आस्था व्यक्त की है। पाणिनी ने अपने सूत्रों में ध्वनि विज्ञान का प्रारम्भिक रूप प्रस्तुत किया है। स्थान, प्रयन्त तथा ध्वनि का सर्वांग पूर्ण वर्गीकरण पाणिनी का आज तक मान्यता प्राप्त है। लौकिक तथा वैदिक संस्कृति का तुलनात्मक

अध्ययन भी पाणिनी की अष्टाध्यायी की एक विशेषता है। पाणिनीय व्याकरण में ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ, आघात आदि भाषा का कोई ऐसा तत्व नहीं है, जिस पर विचार न किया गया हो। इसके अनन्तर कात्यायन का नाम महत्वपूर्ण है। कात्यायन एन्द्र सम्पद्राय के आचार्य हैं। कात्यायन ने पाणिनी के लगभग एक सौ पचास सूत्रों पर वार्तिक रचना की है। डॉ0 गौतम ने लिखा है कि "भाषा विज्ञान के इतिहास में एक तो अष्टाध्यायी के वार्तिक का अध्ययन बड़ा महत्वपूर्ण है। दूसरे इसमें तत्कालीन भाषा के परिवर्तन हो जाने के कारण आवश्यकतानुसार अष्टाध्याय के सूत्रों में यथा सम्भव परिवर्तन करके उन्हें सरल बनाने का स्तुत्य प्रयत्न हुआ है।[11] इसके अनन्तर महर्षि पतंजलि ने पाणिनी की अष्टाध्यायी लेकर महाभाष्य प्रस्तुत किया है। महाभाष्य भाषा का वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विवेचन करने वाला महत्वपूर्ण ग्रंथ है। उपर्युक्त मुनित्रय 'पाणिनी, कात्यायन, पतंजलि' भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन एवं व्याकरण के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त अन्य विद्वान भी अपनी रचना से भाषा विज्ञान एवं व्याकरण के क्षेत्र में सहयोग प्रदान किये हैं। जैसे व्याडि, वामन और जयादित्य, हरिदत्त, जिनेन्द्र बुद्धि, भर्तृहरि तथा कैय्यट आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों ने भाषा विज्ञान के विकास क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। शब्दों का निर्माण ध्वनियों से होता है। अतः भाषा विज्ञान में ध्वनियों का महत्व स्वयं सिद्ध है। ध्वनि विचार भाषा विज्ञान का नीरस, क्लिष्ट किन्तु अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण विषय है। इस विभाग के अन्तर्गत ध्वनि परिवर्तन, ध्वनि विकास, उसके कारण और दिशा के विश्लेषण के साथ ध्वनि अवयव ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया, ध्वनि तरंग आदि का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन सामान्य नियम निर्माण आदि का अध्ययन किया जाता है। डा0 गुणे के अनुसार, "वस्तुतः इसे ध्वनियों का उच्चारण, अक्षर रूप में उनका संयोग, उन अक्षरों का शब्द रूप में संयोग तथा अन्ततः शब्दों से वाक्यों का निर्माण आदि भाषा विषयक विभिन्न तत्वों पर विचार करना पड़ता है। डा0 भोलानाथ तिवारी के अनुसार भाषा ध्वनि वह ध्वनि है, जिसे मनुष्य अपने मुँह के नियत स्थान से निश्चित प्रयत्न द्वारा किसी ध्येय को स्पष्ट करने के लिए उच्चरित करें और श्रोता जिसे उसी अर्थ में ग्रहण करें।

भाषा विशेष में कुछ ध्वनियों का अपना परिवार होता है, जो अपनी विशिष्ट विशेषताओं के कारण परस्पर सम्बद्ध रहती हैं, उन्हें ध्वनिग्राम कहते हैं। ध्वनिग्राम में अनेक ध्वनियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए कमरा, काल, कपड़ा, कूप, कोण, कृषि, कमाल, कुसुम, कीड़ा, कुत्ता आदि की प्रारम्भिक ध्वनि 'क्' है। प्रत्येक शब्द में 'क्' की अपनी एक विशिष्ट ध्वनि है तथा प्रत्येक 'क' के आवक गुण भी अपने–अपने हैं। किन्तु समस्त ध्वनियों के लिए क ध्वनिग्राम है। एक परिवार है, जिस प्रकार परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व तथा व्यक्तित्व होता है किन्तु वे अपने परिवार से बँधे रहते हैं। उसी प्रकार एक ध्वनिग्राम में भी अनेक भाषा ध्वनियों का

अस्तित्व होता है। इन समस्त ध्वनियों का अध्ययन ध्वनिग्राम में किया जाता है। पाइक ने ठीक ही लिखा है कि ध्वनि विज्ञान कच्चा माल एकत्र करता है तथा ध्वनिग्राम उसे पकाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा की न्यूनतम इकाई ध्वनिग्राम है। एच0ए0 ग्लोसन के अनुसार, "ध्वनिग्राम भाषा के उच्चरित स्वरूप की वह न्यूनतम विशेषता है, जिसके द्वारा एक कही गयी बात का कही जाने वाली किसी अन्य बात से अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। ब्लूमफिल्ड का कहना है कि– ध्वनिग्राम विशिष्ट ध्वनि रूप की लघुत्तम इकाई है। किन्तु मोरिया पाई एवं फ्रेन्क के अनुसार, "ध्वनिग्राम प्रासंगिक ध्वनि विशेषताओं का न्यूनतम संघात है।" डोनियल जोन्स के अनुसार, "ध्वनिग्राम किसी भाषा में उन ध्वनियों का परिवार है, जो अपनी आधारभूत विशेषता के कारण सम्बद्ध है और उनमें से प्रत्येक की स्थिति शब्द में इस ढंग से होती है कि कोई अन्य ध्वनि दूसरी ध्वनि का स्थान नहीं ले सकती।" पाइक के अनुसार, "ध्वनिग्राम किसी भाषा विशेष की ध्वनियों में विश्लेषण करने के उपरान्त प्राप्त की हुई सार्थक इकाई है।"

ध्वनिग्राम का स्वरूप विवेचन–

ध्वनिग्राम किसी भाषा विशेष की संध्वनियों की सामूहिक संज्ञा है। वह उस भाषा की न्यूनतम विश्लेषित इकाई है। ध्वनिग्राम उस भाषा का मूलाधार है जिसका वह विश्लेषित अंग है। मानव मुख निस्सृत भाषण ध्वनियों को ध्वनि कहते हैं। एक ही ध्वनि भिन्न–भिन्न परिवेशों में आकर अपनी पृथक–पृथक विशेषताएं रखती है। जैसे 'म; ध्वनि मछली, मकान, मोहन, मेरू, मधुर, धर्म आदि भिन्न–भिन्न परिवेशों में घटित होकर प्रत्येक परिवेश में अपनी कुछ पृथक वैशिट्य रखती है। किन्तु व्यवहार में यह पृथक–वैशिष्ट्य ज्ञात नहीं होता, इसलिये यह 'म' प्रत्येक उच्चारणगत वैशिष्ट्य को समेटे हुए सर्वपरिवेशगत 'म' का प्रतिनिधित्व करता है। 'म' एक ध्वनि कुल का नाम है, जिसमें प्रत्येक परिवेश में घटित परिवेष वैशिष्ट्य युक्त 'म' सम्मिलित है। ध्वनिग्राम किसी भाषा की परिवेश विशेष में अर्थ परिवर्तन की क्षमता से युक्त न्यूनतम् इकाई है। ध्वनिग्राम की सार्थकता उसका महत्व और उसका उपयोग उसी भाषा के लिये होता है, जिस भाषा के वे ध्वनिग्राम हैं। भाषा का प्रयोग, वस्तुतः ध्वनियों का ही होता है। अतएव उन्हीं संध्वनियों का महत्व है। ध्वनिग्राम तो केवल इन्हीं मिलती–जुलती समान ध्वनियों की सामूहिक संज्ञा मात्र है। ध्वनिग्राम शब्द एक काल्पनिक संज्ञा है। क्योंकि भाषा में इनका प्रयोग नहीं होता है। भाषा में ध्वनिग्राम की संध्वनियाँ परस्पर पूरक वितरण में होती है, जहाँ एक ध्वनि घटित होती हैं। दूसरी वहाँ नहीं घटित होती, एक ध्वनि की संध्वनियाँ परस्पर एक दूसरे की घटिति–सीमा का उल्लंघन नहीं करती है, जो ध्वनियाँ स्वल्पान्तरणयुग्म में घटित होकर व्यक्तिरेकी हों, समान ध्वन्यात्मक परिवेष से घटित होकर व्यतिरेकोत्पादक या अर्थ वैषम्योत्पादक हो, वे ध्वनिग्राम कहे जाते हैं। समान ध्वन्यात्मक परिवेश घटित होने पर अर्थ व्यतिरेकता ध्वनिग्राम की कसौटी है।

वस्तुतः किसी भाषा की ध्वनि खण्डीय या अति खण्डीय न्यूनतम अर्थ भेदक इकाई ध्वनिग्राम है। कुछ विद्वान ध्वनिग्राम को भौतिक इकाई मानते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक इकाई मानते हैं। कुछ विद्वान इसको बीजगणितीय इकाई सिद्ध करते हैं। परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि ध्वनिग्राम को अमूर्त काल्पनिक इकाई मानना अधिक उचित है। ध्वनिग्राम–ध्वनि समूह का द्योतक है। अतः यह जाति है। जिस प्रकार जाति और व्यक्ति में जाति अमूर्त है और व्यक्ति मूर्त है। उसी प्रकार ध्वनिग्राम जाति होने के कारण अमूर्त और संध्वनिमूर्त हैं, जिस प्रकार लोक व्यवहार में जाति के स्थान पर व्यक्ति व्यवहार होता है। उसी प्रकार भाषा में संध्वनि का ही व्यवहार होता है ध्वनिग्राम का नहीं। प्रयोग की दृष्टि में संध्वनि का ही अस्तित्व है। ध्वनिग्राम इसके मूल स्वरूप को द्योतित करता है। इस प्रकार ध्वनिग्राम एक मेरू के रूप में आधार प्रदान करता है, जिस पर संध्वनियों का विकास होता है।

ध्वनिग्राम एवं अक्षर में भेद–

ध्वनिग्राम का अक्षर से भेद स्पष्ट है। अक्षर में एक या उससे अधिक ध्वनिग्राम हो सकते हैं। अक्षर में एक संध्वनि यदि उसके प्रारम्भ में तो उसी ध्वनिग्राम की दूसरी संध्वनि उसके अन्त में हो सकती है। इसके विपरीत संस्कृत भाषा के संध्यक्षर– ए, ओ, औ, दो स्वरों के संयोग से निष्पन्न हैं। किन्तु ये अ–इ, अ–उ, आ–इ, आ–उ या अ–ए, अ–ओ से पृथक ध्वनिग्राम के रूप में गृहीत हैं। ये दो ध्वनिग्रामों के रूप में गृहीत हैं। ये दो के योग से निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अॅ–र्–अॅ>ऋ तथा अँ–ल्–अँ>ल एक ही ध्वनिग्राम हैं। ध्वनि ग्रामिक अध्ययन के सन्दर्भ में आक्षरिक ध्वनिग्राम नितान्त उपयोगी हैं।

व्याकरण में ध्वनिग्राम की परिकल्पना–

व्याकरण शास्त्र में ध्वनिग्राम की परिकल्पना का प्रथम प्रभाव पतंजलि के महाभाष्य में हैं। यह भाष्यकार का 'वर्णाकृति' शब्द किसी ध्वनिग्रामीय सम्पूर्ण संध्वनियों का बोधक है। 'वर्ण' पद भी ध्वनिग्राम का ही पर्याय है। सिद्धान्त कौमुदी में, "लण् सूत्र स्थान वर्णेव सहोच्चार्य भाणो रेफो रलयोः संज्ञा (पा0 1.3.2) तथा ऋलू वर्णयोर्मियः सावर्ण्यवाच्यम् (पा0 8.2.1) वार्तिक के द्वारा मुक्त वितरण और क्वचित् व्यतिरेकी वितरण का कथन हुआ है। 'रलयोरभेदः' भी ध्वनिग्रामीय वितरण की मुक्तावस्था का ज्ञापक है। माहेश्वर सूत्र 'अ इ उ ण' के सन्दर्भ में महाभाष्यकार का कथन– अवर्णा कृतिरूपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति महाभाष्य (1.1) 'अ' ध्वनिग्राम का विधायक है। अवर्णाकृति पद यहां– |अ ा|आ|आ| |आं|आं|अँ|ओं|आँ| के उदात्व अनुदात्व स्वरित रूप त्रिविध भेद से 27 रूपों में प्रयुक्त होकर एक ध्वनिग्राम की संध्वनि होती है। इनमें प्रत्येक सदस्य 'अ' ध्वनिग्राम की संध्वनियां हैं।

ध्वनिग्रामिक वितरण–

ध्वनिग्रामिक विश्लेषण के लिए तीन प्रकार के वितरणों की कल्पना की गई है। इन वितरणों की कसौटी पर कसकर ध्वनियों में से ध्वनिग्रामों व्यतिरेकी ध्वनियों तथा अतिखण्डीय व्यतिरेकी तत्वों का विश्लेषण और संख्या निर्धारण करता है। ये त्रिविध वितरण– (1) व्यतिरेकी वितरण, (2) पूरक वितरण, (3) मुक्त वितरण कहे गये हैं।

1. **व्यतिरेकी वितरण–** जो ध्वनि किसी उच्चार खण्ड में अपनी घटिति और अघटिति से अर्थवैषम्य या व्यतिरेक उत्पन्न करे वह व्यतिरेकी वितरण होता है। यह ध्वनि खण्ड के आदि–मध्य और अन्त तीनों स्थितियों में घटिति होती है। जैसे–आम एक उच्चार खण्डहै। इसके पूर्व 'क्' जोड़ने से काम, 'र्' जोड़ने से राम। इसी प्रकार नाम, याम, वाम, धाम, शाम, घाम, गाम आदि पदों की कल्पना की जा सकती है। इनमें परस्पर अर्थ व्यतिरेक होने से क्, र्, न्, य्, व्, ध, श्, घ, ग् ..... व्यतिरेकी वितरण में हैं और पृथक–पृथक ध्वनिग्राम है। इसी प्रकार अर्म उच्चार खण्ड के आदि 'श्' जोड़ने पर शर्म और इसी प्रकार कर्म, चर्म, धर्म, वर्ग, नर्म, सार्थक पद बनते हैं, जिनमें अर्थ व्यतिरेक है। अतः 'क्' च्, घ्, व्, न्, ग् आदि व्यतिरेकी वितरण में आकर ध्वनिग्राम कहे जायेंगे। इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से प्रमाणित होती है कि व्यतिरेकी वितरण ध्वनिग्राम का एक महत्वपूर्ण वितरण है।
2. **पूरक वितरण–** व्यतिरेकी वितरण का ध्वनिग्रामों के विश्लेषण में उपयोग है। विश्लेषण के पश्चात् किसी ध्वनिग्राम की संध्वनियों का निर्धारण पूरक वितरण के द्वारा होता है। यदि कोई ध्वनि एक स्थान में घटित हो, वहां प्रथम न घटित हो, तो वे दोनों ध्वनियाँ पूरक वितरण में आकर एक ध्वनिग्राम की संध्वनियाँ होती है। एक ही ध्वनिग्राम की संध्वनियों का घटिति क्षेत्र पूर्ण निश्चित और विभाजित होता है। एक–दूसरे की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। संस्कृत में न्–म् व्यतिरेकी वितरण में आकर पृथक ध्वनिग्राम है। ङ्, ञ्, ँ इनके साथ पूरक वितरण है, यथा–

   ङ् – क वर्ग के पूर्व = शंका न् – व वर्ग के पूर्व = कान्ता
   ञ् – च वर्ग के पूर्व = चंचलः म् – प वर्ग के पूर्व =कम्पः
   ण् – ट वर्ग के पूर्व = कण्ठः
3. **मुक्त वितरण–** एक ही भाषा की दो विभिन्न बोलियों में एक ही उच्चार खण्ड में कोई ध्वनि भिन्न रूप से उच्चरित होती है। दोनों उच्चार खण्डों में व्यतिरेका भाव तथा अर्थवैषम्य नहीं होता है। ऐसी स्थिति में उच्चार खण्डीय दोनों भिन्न ध्वनियाँ मुक्त वितरण में होती है। जैसे– |चूडा| → |चूला|, |नाडः| → |नालः|, |जड़म्| → |जलम्|, |वकः| → |बकः|, |कावेरी| → |काबेरी|, |शुल्वः| → |शुल्बः|, |शितः| → |सितः|, |शारिका| → |सारिका|

उपरोक्त विवरण में ड्→ल्, व्→ब्, श्→स् आदि मुक्त वितरण में है।

निष्कर्ष– उपरोक्त विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि भाषा विज्ञान भाष का विशेष ज्ञान है, तुलनात्मक ज्ञान है, विशिष्ट ज्ञान है, वैज्ञानिक ज्ञान है। भाषा विज्ञान का विषय क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं विशाल है। भाषा विज्ञान की अध्ययन परिधि का एक क्षेत्र ध्वनिग्राम ही। ध्वनि ध्वनित घटना मात्र है। जबकि ध्वनिग्राम ध्वनिगत भेद हैं। ध्वनि का उच्चरण होता है तथा ध्वनि जाति रूप में विद्यमान है। भाषा के गहन विमर्ष के लिए ध्वनिग्राम विमर्श अति आवश्यक है।

सन्दर्भ :

1. वाक्य पदीय (1–124)
2. काव्यादर्श (1–4)
3. ऋग्वेद (10–125–5)
4. कृष्ण यजुर्वेद – तैत्तिरीय संहिता (6–4)
5. तैत्तिरीय ब्राह्मण।
6. महाभाष्य
7. अ शार्ट हिस्ट्री ऑफ लिंग्विस्टिक, पृ0 134
8. सामान्य भाषा विज्ञान, बाबूराम सक्सेना, पृ0 4
9. भाषा रहस्य, पृ0 2
10. सरल भाषा विज्ञान, पृ0 95
11. वही, पृ0 32

***

दलित चेतना एवं स्वैच्छिक संगठनों का संकल्प

उत्तम कुमार *

दलित शब्द का अर्थ है, जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ट, मर्दित, पस्त हिम्मत, हत्तोत्साहित, वंचित आदि। डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन (1998) में दलित शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है, 'दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है। '

इसी प्रकार कँवल भारती (1998) का मानना है कि, 'दलित वह है जिस पर अस्पृष्यता का नियम लागू किया गया है, जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है और इसके अंतर्गत वही जातियाँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।'

मोहनदास नैमिशराय 1997 दलित शब्द को और अधिक विस्तार देते हुए कहते हैं कि दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी है। दलित की व्याप्ति अधिक है, तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अंतर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अंतर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित सर्वहारा के अंतर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।'

दलित का स्पष्ट चित्रण बिहार धार्मिक न्यास बोर्ड के अध्यक्ष आचार्य किषोर कुणाल के दस सूत्र वाक्यों से होता है, जो निम्नलिखित हैं :

- दलित वह है, जिसका दारूण दलन, दोहन एवं षोषण होता रहा है तथा समाज में जो वंचित, उपेक्षित एवं प्रताड़ित रहा है।
- शोक जिसका आहार, अश्रु जिसका उद्‌गार और अभिशाप जिसका उपहार रहा है, वह दलित है।
- बहिष्कार जिसका सत्कार, बेगार जिसका दैनिक त्योहार और दुत्कार, फटकार एवं तिरस्कार जिसका पुरस्कार रहा है, वह दलित है।

---

* शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

- दुर्भाग्य जिसका पर्याय, दास्य जिसका व्यवसाय और दारिद्रय जिसका अमिट अध्याय रहा है, वह दलित है।
- अभाव जिसका भाग्य, अन्याय जिसका धनुष–बाण और अँगूठा जिसका अनूठा दान रहा है, वह दलित है।
- बंधन जिसका कंगन, उत्पीड़न जिसका इंधन और अधिकार–अपहरण जिसका आलिंगन रहा है, वह दलित है।
- विपत्ति जिसकी नियति, संपत्ति जिसका स्वप्निल स्मृति और क्रांति जिसकी प्रसुप्त प्रवृत्ति रही है, वह दलित है।
- दीनता जिसकी गृहिणी, दासता जिसकी भगिनी और अस्पृष्यता जिसकी संगिनी रही है, वह दलित है।
- मौन जिसकी वाणी, कंदन जिसकी कहानी और वेदना जिसकी रानी रही है, वह दलित है।
- श्रम और साध्य और कर्म को आराध्य मानकर भी दैन्य–दंष झेलने के लिए जो सदैव बाध्य रहा है, वह दलित है।

दलित कोई जाति नहीं बल्कि परिवर्तन और क्रांति का प्रतीक है। दलित मानवतावाद में विष्वास करता है। परंतु वह ईश्वर के अस्तित्व, पुनर्जन्म, आत्मा तथा उन तथाकथित धार्मिक ग्रंथों को अस्वीकार करता है जो भेदभाव की शिक्षा देते हैं। वह भाग्य तथा स्वर्ग की अवधारणाओं को भी अस्वीकार करता है। क्योंकि ये ही विचार उसको दासत्व का बोध कराते रहे हैं। वह इस देष में दबाए–सताए हुए समाज का प्रतिनिधित्व करता है। जो वर्षों से जानवर से भी बदतर जिंदगी जीने को अभिषप्त हैं। वह विरोध करता है एक बहुत ही सूझ–बूझ के साथ विकसित की गई हिंदू सामाजिक–व्यवस्था का जिसने कि मानव के रूप में उसके अस्तित्व को कभी स्वीकार ही नहीं किया तथा मानवीय गरिमा का निरंतर निरादर किया गया। जिसके मृतपाय षरीर को पीड़ा और वेदना का संत्रास झेलना पड़ा। यही अलगाववाद का बोध उन हजारों दलितों के पुनर्जागरण का अक्षय–स्त्रोत है।'

दलित अस्मिताबोधक शब्द है। यह संबोधन उत्पीड़न और षोषण का बोध भी कराता है। शोषक वर्ग के कृत्यों को याद दिलाते रहने वाला क्रांतिकारी भाव भी इस शब्द में निहित है। इसमें चेतना की अनुगूंज भी है। 'दलित' शब्द सहानुभूति के बजाय दायित्वबोध का एहसास कराता है। कहा जा सकता है कि दलित विमर्श 'दलित' शब्द के अभिप्राय के साथ सामाजिक परिवर्तन की ओर उन्मुख वाल्मीकि का विचार उल्लेखनीय है –

'दलित चेतना का सीधा सरोकार 'मैं कौन हूँ?' से बहुत गहरे तक जुड़ा हुआ है। चेतना का संबंध दृष्टि से होता है जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक भूमिका की छवि के तिलस्म को तोड़ती है। अधिकारों से वंचित सामाजिक तौर पर नकार दिया जाना यानी होना है और

उसकी चेतना दलित चेतना जो दलित आंदोलनों के एक लंबे इतिहास की देन है। अलग–अलग कालखंडों में यह अलग रूपों में दिखाई पड़ती है। भक्तिकाल के कवियों में यह रूप अलग है, लेकिन इस चेतना के बीज वहाँ मौजूद हैं, जिसे कालांतर में एक संघर्षशील, बौद्धिक रूप मिलता है ज्योतिबा फुले के संघर्ष के रूप में, आगे चलकर यह रूप एक नए और जुझारू रूप में विकसित होता है। डॉ. भीमराव अंबेडकर के जीवन–संघर्ष में, जो दलितों में एक नई चेतना का सूत्रपात करता है जिसे मुक्ति–संघर्ष की चेतना कहना ज्यादा प्रासंगिक होगा। यही चेतना साहित्य की प्रेरणा बनकर दलित साहित्य के रूप में दिखाई देती है जिसमें मुक्ति, स्वतंत्रता के गंभीर सरोकार विद्यमान हैं। अनीष्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टिबोध, पाखंड–कर्मकांड का विरोध, सामाजिक न्याय की पक्षधरता, वर्ण–व्यवस्था का विरोध, सामंतवाद विरोध, पूंजीवाद, बाजारवाद का विरोध, सांप्रदायिकता का विरोध, अधिनायकवाद का विरोध जैसे सवाल दलित साहित्य के सरोकारों में शामिल हैं। '

सदियों से दलित सामाजिक न्याय से वंचित रहे हैं। ऐसा नहीं है कि वे इसको अपनी नियति मानते थे, वास्तविकता तो यह है कि वे निरंतर इसके लिए संघर्षरत रहे। भले ही ये संघर्ष इतिहास में कभी बड़े आंदोलनों के रूप में दिखाई पड़ते हैं तो कभी छुटपुट घटनाओं के रूप में। प्राचीन काल में यह सामाजिक न्याय की लड़ाई बौद्धों, सिद्धों और नाथों के माध्यम से दिखाई पड़ती है, मध्यकाल में संतों में इसकी तीव्र ध्वनि सुनाई पड़ती है तो उन्नीसवीं सदी के सुधारवादी आंदोलनों में चरणबद्ध और नियंत्रित विकास के रूप में इसे देखा जा सकता है।

आज वंचितों के संघर्ष को जाति सघर्ष के रूप में चित्रित किया जा रहा है, वर्ग संघर्ष की अवधारणा को नकारा जा रहा है। यह भी सामंती और पूँजीवादी समाज का षड्यंत्र है, इसी में उसकी हित साधना है। वह संघर्ष को व्यापक होने से रोकना चाहता है। वास्तविकता यह है कि यह एक वर्ग संघर्ष ही है और इसे इसी रूप में देखा जाना चाहिए अगर ऐसा नहीं होता तो क्यों उच्च जाति का संपन्न व्यक्ति ही निम्न जातियों पर अत्याचार करता है।

कथा सम्राट प्रेमचंद ने अपनी एक टिपण्णी में कहा है कि संस्कृति अमीरों का, पेट भरों का, बेफ्रिकों का व्यसन है, दरिद्रों के लिए प्राणरक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है। उस संस्कृति में था क्या जिसकी वे रक्षा करें जब जनता मूर्छित थी तब उस पर धर्म और संस्कृति का मोह छाया हुआ था, ज्यों–ज्यों उसकी चेतना जागृत होती जाती है, वह देखने लगती है कि यह संस्कृति लुटेरों की संस्कृति थी, जो राजा बनकर, विद्वान बनकर, जगतसेठ बनकर जनता को लूटती है 'ऐसी सांस्कृतिक विरासत का विरोध करना दलित चेतना के सरोकारों में शामिल है। यथार्थ और जीवन की सच्चाइयों

से कटकर वर्तमान से निरपेक्ष भाव रखनेवाला साहित्य निर्जीव ही कहा जाएगा।

दलित चेतना का सरोकार इस प्रष्न से बहुत गहरे तक जुड़ा है कि मैं कौन हूँ ? मेरी पहचान क्या है? दलित की व्यथा, दुख, पीड़ा, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित चेतना नहीं है या दलित पीड़ा का भावुक और अश्रु–विगलित वर्णन, जो मौलिक चेतना से विहीन हो, चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से होता है जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका की छवि के तिलस्म को तोड़ती है । वह है दलित चेतना। दलित मतलब मानवीय अधिकारों से वंचित, सामाजिक तौर पर जिसे नकारा गया हो । उसकी चेतना यानी दलित चेतना।

दलित चेतना पर विमर्श करने से पूर्व भारतीय समाज–व्यवस्था पर ध्यान देना आवष्यक है । भारतीय समाज–व्यवस्था को समझे बगैर दलित चेतना की तीव्रता का अहसास कठिन है। हजारों वर्ष की प्रताड़ना, शोषण, द्वेष, वैमनस्य और भेदभाव से दबा दलित अपनी अस्मिता की खोज के लिए जागरूक दिखाई पड़ता है। ऐतिहासिक परिदृष्य में उसे अपनी पहचान कहीं दिखाई नहीं पड़ती । अतीत उसके लिए नरक से भी भयावह है।

दलित चेतना डॉ. अंबेदकर के जीवन–दर्शन से मुख्य ऊर्जा ग्रहण करती है। इस तथ्य से सभी दलित लेखक एकमत हैं। दलित चेतना के प्रमुख बिंदु हैं –

- मुक्ति और स्वतंत्रता के सवालों पर डॉ. अंबेदकर के दर्शन को स्वीकार करना।
- बुद्ध का अनीष्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टिबोध, पाखंड–कर्मकांड विरोध।
- वर्ण–व्यवस्था विरोध, जातिभेद–विरोध, सांप्रदायिकता विरोध।
- अलगाववाद का नहीं, भाईचारे का समर्थन।
- स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय की पक्षधरता।
- सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्धता।
- आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद का विरोध।
- सामन्तवाद, ब्राह्मणवाद का विरोध।
- अधिनायकवाद का विरोध।
- महाकाव्य की रामचंद्र शुक्लीय परिभाषा से असहमति।
- पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र का विरोध।
- वर्णविहीन, वर्गविहीन समाज की पक्षधरता।
- भाषावाद, लिंगवाद का विरोध।

डॉ. अंबेदकर ने गाँव को भारतीय गणतंत्र की अवधारणा का शत्रु माना था। उनके अनुसार हिंदुओं की ब्राह्मणवादी और पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म भारतीय गाँव में ही होता है। डॉ. अंबेदकर का कहना है कि भारतीय गाँव हिंदू–व्यवस्था के कारखाने हैं। उनमें ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद की साक्षात अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं। उनमें स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। भारतीय गाँव ब्राह्मणों के लिए स्वर्ग हो सकते हैं, परंतु दलितों के लिए तो वे नरक ही हैं। अतः दलित साहित्य भी गाँव के विकास और ग्राम पंचायत व्यवस्था का न केवल विरोधी है, बल्कि उनके विनाश में ही ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद का अंत मानता है।

इन दलितों के विकास के लिए देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना के बाद से ही प्रयास किया जा रहा है। प्रारंभ में दलितों की सुरक्षा एवं संरक्षण के लिए पृथक संवैधानिक एवं प्रशासनिक प्रावधान किये गए। साथ ही प्रत्येक पंचवर्षीय योजना के माध्यम से विकास के विभिन्न प्रतिमान तथा कल्याणकारी योजनाएँ बनाई गयीं। इस प्रकार विगत सात दशकों में दलित विकास हेतु विधायी प्रावधान, प्रशासनिक नीतियों का क्रियान्वयन तथा विविध स्तरीय समीक्षा एवं निगरानी का क्रम निर्बाध जारी है। इनमें समय–समय पर अपेक्षित परिवर्तन भी किये जाते रहे हैं। इन तमाम प्रयासों के बावजूद दलित विकास के पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति अभी बहुत दूर है। कमजोर एवं लचर आपूर्ति व्यवस्था, समुदाय की आवष्यकताओं एवं समस्याओं की अनदेखी तथा समुदाय की सहभागिता का अभाव ऐसे महत्वपूर्ण कारण रहे हैं, जिन्होंने अपेक्षित लक्ष्यों की पूर्ति में अवरोध उत्पन्न किया है । इसके अलावे दलित समुदाय में पायी जाने वाली सामाजिक कुरीतियाँ, अशिक्षा, बेरोजगारी, अज्ञानता जैसे कारण भी इस समुदाय के विकास में बाधक रहे हैं।

दलित समुदाय हमारे समाज का पिछड़ा हुआ हिस्सा है। इसे राष्ट्र की मुख्यधार से जोड़ना और उस तक विकास की पहुँच बनाना एक बहुत बड़ी चुनौती है। यह कार्य अकेले सरकार या नौकरशाही द्वारा संभव नहीं है। इसी कारण गैर–सरकारी संगठनों को दलित विकास में महत्वपूर्ण माना जा रहा है। इसका कारण यह है कि ये संगठन जनसहभागिता, जनसहयोग के साथ–साथ स्थानीय लोगों की प्राथमिक आवष्कताओं को ध्यान में रखते हुए अधिक संवेदनशील होकर कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त कार्य प्रक्रिया में लचीलापन, तीव्र निर्णय की प्रक्रिया एवं जमीनी स्तर पर अधिकांश कार्य स्थायनीय लोगों द्वारा किया जाता है। इस संपूर्ण पृष्ठभूमि को देखते हुए प्रस्तुत अध्ययन को दलित विकास में गैर–सरकारी संगठन की भूमिका पर केंद्रित किया गया है।

गैर सरकारी संगठन : गैर सरकारी संगठनों के अर्थ की बात की जाए तो, न तो इनका कोई निष्चित अर्थ है न निष्चित उद्देष्य और न ही कोई

निष्चित कार्य एवं गतिविधियाँ। गैर–सरकारी संगठन जिस संदर्भ में कार्य करते हैं उसी के अनुरूप उनका स्वरूप भी बहुत हद तक बदलता रहता है। साथ ही कुछ संगठन ऐसे भी होते हैं जो या तो समुदाय की जरूरत के अनुसार अपनी गतिविधियों में बदलाव लाते हैं या फिर धनराशि पाने के लिए उसमें फेरबदल कर लेते हैं। फिर भी गैर–सरकारी संगठन निम्न स्तर पर कार्यकर्ताओं द्वारा एक साथ कार्य करने हेतु संगठित किया गया एक समूह होता है जिसके अंतर्गत जनसमूह, स्वैच्छिक संगठन, स्वैच्छिक एजेंसी, समाज कल्याण समूह आदि सभी आते हैं। ये सभी संगठन समुचित अधिनियम के तहत पंजीकृत होते हैं तथा इनका मुख्य उद्देष्य समाज सेवा करना होता है न कि लाभ कमाना । अर्थात् ऐसे बड़े एवं छोटे संगठन जो कि देश की प्रशासनिक व्यवस्था के पद सोपानिक क्रम में नहीं आते, परंतु जनता के विकास हेतु कार्यरत हैं उन्हें गैर–सरकारी संगठन कहा जाता है। ये संगठन स्थानीय स्तर, राष्ट्रीय स्तर व अंतर्राष्ट्रीय सभी स्तरों के होते हैं।

प्रभाकरण ने स्वैच्छिक संगठनों को परिभाषित करते हुए कहा है कि एक ऐसा अभिकरण है जो कि संगठित और असंगठित, ढ़ाँचागत और अढ़ाँचागत होते हुए समुदाय के कल्याण के लिए कार्य करता है। [1]

गेंग्रेड ने स्वैच्छिक संगठन उसको कहा है जो कि वैधानिक रूप से पंजीकृत हो, उसका एक प्रशासनिक ढ़ाँचा हो, उसके लक्ष्य और उद्देष्य स्पष्ट हो और उसके सदस्य बाहरी दबावों से मुक्त तथा लोकतांत्रिक सिद्धांतों का पालन करते हुए निर्णय एवं कार्य करते हैं। [2]

वेबरेज कहते हैं कि स्वैच्छिक संगठन एक ऐसी संस्था होती है जिसमें कार्यशील लोग वैतनिक और अवैतनिक दोनों प्रकार के होते हैं और कभी–कभी ये किसी विचारधारा से भी जुड़े रहते हैं । इसमें सदस्यता मुक्त होती है और एक वृहद् लक्ष्य को पाने के लिए लोग प्रयासरत रहते हैं। [3]

अतः स्पष्ट है कि समाज सेवा के उद्देष्य से संगठित संगठन को हम गैर–सरकारी संगठन मान सकते हैं । साथ ही, यह समझना भी आवष्यक है कि सभी गैर–सरकारी संगठन स्वैच्छिक संस्थाएँ नहीं हैं जबकि सभी स्वैच्छिक संस्थाएँ, गैर–सरकारी संगठन हैं। अर्थात् सभी गैर–सरकारी संगठनों का उद्देष्य समाज सेवा नहीं होता है जबकि स्वैच्छिक संगठनों का मुख्य उद्देष्य समाज सेवा तथा जनकल्याण करना होता है।

गैर–सरकारी संगठनों की विशेषताएँ

गैर–सरकारी संगठनों को निम्नलिखित तीन विशेषताओं के आधार पर अन्य संगठनों से अलग किया जा सकता है –

- **अलाभ की प्रकृति :** इन संगठनों की मुख्य विशेषता जो इन्हें अन्य संगठनों से अलग करती है वह लाभ की लालसा का अभाव। निजी संगठनों का कार्य ज्यादा से ज्यादा लाभ प्राप्त करना होता है जबकि इन संगठनों का मुख्य उद्देष्य जनता के विकास एवं कल्याण हेतु कार्य करना होता है। किंतु वर्तमान समय में स्वैच्छिक संगठनों की धारणा, स्वरूप तथा चरित्र में

अहम् परिवर्तन हुआ है। एक समय था जब स्वयं सेवी संगठन कुछ संपन्न लोगों द्वारा किए गए चंदे या सहारा के सहारे चला करत थे और इनको चलाने वाले संत, महात्मा या निःस्वार्थ भाव से समर्पित व्यक्ति होते थे जिनका मुख्य लक्ष्य समाज के सबसे कमजोर तबके, दीन–हीन, गरीब तथा अपाहिजों का कल्याण करना होता था। किंतु अब तमाम तरह के उद्देष्यों को लेकर स्वैच्छिक संगठन खड़े किए जा रहे हैं। राजनीतिक दलों, सेवानिवृत्त और कार्यरत नौकरशाहों, व्यवसायियों और सरकार एवं कोषदाता एजेंसियों में पहुँच रखने वाले प्रभावशाली लोगों के बीच स्वैच्छिक संगठनों को खड़े करने की दौड़ सी लगी हुई है। इनमें से कई तो संसाधनों को हड़पने और अपने अन्य उद्देष्यों की पूर्ति के लिए इन संस्थाओं का उपयोग कर रहे हैं। [4]

वास्तव में पिछले दो दशकों से यह कार्य एक प्रकार का व्यवसाय बन गया है। इस बदलाव का एक अन्य पहलू अच्छा और आशाजनक भी है। व्यवसाय बनने का सबसे बड़ा प्रभाव शायद यह हुआ है कि इनके काम में निरंतरता आई है। सिर्फ कुछ विशिष्ट लोगों के बजाय, समाज के सभी तरह के तबकों के लोग अब इस काम में स्थायी रूप से जुड़ पा रहे हैं। इन लोगों ने चाहे बहुत ऊँची औपचारिक शिक्षा प्राप्त न की हो, परंतु अनुभव के आधार पर इन्होंने विकास के मुद्दों पर अपनी गहरी समझ और दक्षता बना ली है और काफी हद तक इस बदलाव के कारण न सिर्फ स्वयं सेवी संस्थाओं की संख्या में वृद्धि हुई है, अपितु उनके द्वारा उठाए जा रहे मुद्दों और कार्य क्षेत्र में भी विस्तार हुआ है। [5]

- **स्वतंत्रता :** ये संगठन पूर्ण रूप से स्वतंत्र होते हैं अर्थात् इन संगठनों पर किसी प्रकार का राजनीतिक या अन्य प्रकार का नियंत्रण एवं दबाव नहीं होता। यह संगठन सरकारी पद सोपानिक व्यवस्था से अलग रहते हुए स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं। इन संगठनों का सैद्धांतिक रूप से सरकार से कोई कार्यलीन संबंध नहीं होता है तथा ये संगठन सरकार को गरीब लोगों तक पहुँचाने एवं उनकी समस्याओं से परिचित कराने के लिए काम में आने वाले तरीकों एवं उपयोग में लिए जाने वाले साधनों के रूप में सहायता प्रदान करते हैं। साथ ही, सरकार से गरीबों की आवष्यकताओं की पूर्ति हेतु समन्वय स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

पिछले दो दशकों से गैर– सरकारी संगठनों की इस विशेषता पर भी प्रष्न चिन्ह लगाए जा रहे हैं, क्योंकि कोई भी संगठन केवल स्वयं को गैर–सरकारी बताकर सरकारी नियंत्रण से बच नहीं पाता और विशेषकर उन स्थितियों में जब वह सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त कर रहा हो। सम्प्रति देश में सूचना के अधिकार का क्रियान्वयन हो चुका है और यदि कोई संगठन सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त कर रहा है तो जन सामान्य को उससे जानकारी प्राप्त करने का पूरा अधिकार है। साथ ही यदि कोई गैर–सरकारी संगठन सरकार से वित्तीय व अन्य स्वायत्तता हासिल कर

पाएगा जिनसे वह वित्तीय सहायता प्राप्त कर रहा है? आज के दौर में तो गैर– सरकारी संगठन आर्थिक सहायता के लिए चौराहे पर खड़ा है। जहाँ से उसे यह सहायता प्राप्त होगी वह लेगा और इस हेतु चाहे उसके उद्देष्यों में ही परिवर्तन क्यों न करना पड़े। [6]

- **वित्तीय सहायता पर निर्भर :** ये संगठन स्वपोषित नहीं होते, अर्थात् इन संगठनों के पास अपने स्वयं के वित्तीय स्त्रोत बहुत ही कम होते हैं। अतः अपने को बनाए रखने के लिए इन संगठनों को हर समय बाहरी वित्तीय सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आजादी के बाद स्वयं सेवी आंदोलन एक नए रूप में उभरा, एक संगठित नई पीढ़ी सामने आई जा कि पेशेवर तथा तकनीकी उन्मखता से लेस है। वर्तमान में ग्रामीण लोगों की इन संगठनों के प्रति बढ़ती रूची और विष्वसनीयता के कारण इनकी संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है या यूँ कहे कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विभिन्न मुद्दों को लेकर देश में स्वयंसेवी संगठनों की बाढ़ सी आ गई है। इस समय न तो सरकार के पास और न ही किसी अन्य संस्थान के पास ऐसे संगठनों की वास्तविक संख्या उपलब्ध है। इस क्षेत्र में सक्रिय विशेषज्ञों का मानना है ि कइस समय देश में करीब एक लाख से अधिक स्वयं सेवी संगठन है। यद्यपि इनमें सक्रिय संगठनों के बारे में जानकारी बहत ही कम है। अधिकांशतः जानकारी नक संगठनों के बारे में है जिनको या तो भारत सरकार के किसी मंत्रालय से अथवा राज्य सरकार के किसी विभाग से अनुदान मिलता है या किसी क्षेत्रीय अथवा अंर्तराष्ट्रीय संस्था के माध्यम से विदेशी वित्तीय सहायता प्राप्त हुई है। आधिकारिक तौर पर वर्तमान में पूरे देश में करीब 16 हजार ऐसी गैर–सरकारी संस्थाएँ हैं जिन्हें विदेशों से धन प्राप्त हुआ है। ऐसी संस्थाएँ सर्वाधिक तमिलनाडु में हैं और इसके बाद क्रमशः दिल्ली, महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, आंध्रप्रदेश और पष्चिम बंगाल का नाम आता है।

गैर–सरकारी संगठनों की कार्यप्रणाली : गैर–सरकारी संगठनों की सफलता का मूल मंत्र इनकी कार्यप्रणाली है। आज सामाजिक, आर्थिक जीवन से जुड़ी ऐसी कोई समस्या नहीं है जिस पर गैर–सरकारी संगठन काम नहीं कर रहे हों विशेषकर ग्रामीण विकास, प्र्यावरण संरक्षण, जनसंख्या नियंत्रण, जनजागरण एवं आदिवासी विकास कुछ ऐसे विशिष्ट क्षेत्र हैं जहाँ इनकी उपलब्धियाँ सरकारी क्षेत्र से कहीं अधिक है। चूंकि ये संगठन जन सहयोग, जन सहभागिता, जन संपर्क पर अपना ध्यान केंद्रित करते हुए लोगों के बीच रहकर कार्य करते हैं इसलिए इनकी पहुँच और विष्वसनीयता आम लोगों में सरकारी अधिकारियों तथा कर्मचारियों की अपेक्षा अधिक है। वस्तुतः विकासात्मक योजनाओं और कार्यक्रमों को सफल बनाने में जनता की भागीदारी बहुत जरूरी है। यह कार्य नियम–कानून के दायरे में बंधकर सरकारी अधिकारी व कर्मचारी उतनी अच्छी तरह से नहीं कर सकते जिस

तरह से गैर–सरकारी संगठनों के कार्यकर्ता कर सकते हैं क्योंकि ये बाहरी दबावों व नियंत्रणों से मुक्त रहते हैं।

जब ये संगठन किसी लक्ष्य को लेकर अपना कार्यक्षेत्र चुनते हैं तो सर्वप्रथम इनके कार्यकर्ता वहीं के निवासियों के बीच पहुँचकर उनकी संस्कृति, सामाजिक परंपराओं, मान्यताओं और जन विष्वासों को जानते व समझते हैं, उनके बीच रहकर अपनी पहचान बनाते हैं, मित्रवत व्यवहार कर विष्वास अर्जित करते हैं, उसके बाद अपनी योजना को लेकर जनता के बीच पहुँचते हैं। विष्वास निर्माण की यह पूरी प्रक्रिा इतनी मजबूत होती है कि गाँव के लोग स्वयं इन संस्थाओं को अपनी मित्र तथा हितैषी मानने लग जाते हैं।

वैसे भी इन संगठनों के कार्यकर्ता आमतौर पर ग्रामीण समुदाय से ही होते हैं। उन्हें स्थानीय लोगों के दुखः दर्द और पेरशानियों की अच्छी खासी समझ होती है, इस कारण उन्हें जनसामान्य से तादात्म्य बनाने में कोई परेशानी नहीं होती। जहाँ गाँव के लोग सरकारी कर्मचारियों और अधिकारियों से बात करने और उन्हें अपने दुखः दर्द बताने में झिझक महसूस करते हैं और कुछ दूरी बनाए रखना चाहते हैं, वहीं स्वैच्छिक संगठनों के कार्यकर्ताओं को वे खुलकर अपनी बात बताते हैं। यही कारण है कि सरकारी संस्थाएँ और कर्मचारी अपनी निष्ठा और लगन के बावजूद गाँव के आम आदमी से घनिष्ठ संबंध कायम नहीं कर पाते हैं और स्वैच्छिक संगठन इसमें सहज ही कामयाब हो जाते हैं। [7]

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इन स्वैच्छिक संगठनों के पास सहभागी पद्धति से विकास कार्य करने का व्यापक अनुभव होता है। सहभागी पद्धति द्वारा समाज के हर उस व्यक्ति की भागीदारी सुनिष्चित की जाती है जिससे उसका संबंध है या जिसका उस पर प्रभाव होने वाला है। यह स्वैच्छिक संगठनों की बहुत बड़ी ताकत है जो सफलता के मार्ग को आसान बना देती है। [8]

कार्य प्रक्रिया की तीसरी विशेषता इनकी कार्यविधि में लचीलापन और तीव्र निर्णय की प्रक्रिया है। अधिक स्वतंत्र होने के कारण ये संगठन नए कार्यक्रमों के प्रयोग एवं परीक्षण के लिए अधिक योग्य और सक्षम हैं। राजकीय तंत्र के कर्मचारी यह अपेक्षा रखते हैं कि लोग उन तक पहुँचे परंतु इन संगठनों की कार्यपद्धति उल्टे ढ़ंग से चलती है। ये स्वयं लोगों के पास पहुँचाते हैं, उनकी समस्याओं को जानते हैं ौर समाधान सुझाते हैं। साथ ही सरकार को तो संपूर्ण देश में काम करना होता है मगर ये संगठन अपने काम के लिए छोटा सा क्षेत्र चुनते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ये जमीनी स्तर और इसके अन्य अंदरूनी कामकाज में ज्यादा सहभागिता पूर्ण हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन संगठनों में नीति बनाने वाले ही उसका क्रियान्वयन करते हैं अतः वे ज्यादा जवाबदेह, धरातल के नजदीक तथा क्रियान्वयन की समस्या से रूबरू होते हैं।

अभी तक सरकार काफी हद तक विकास कार्य ठेकेदारों के माध्यम से करती थी। इसके कारण विकास कार्य के लिए उपलब्ध धन काफी बड़ा हिस्सा ठेकेदारों की जेब में चला जाता था और अफसरशाही की ताम–झाम पर जो खर्च होता था सो अलग। इसके अतिरिक्त विकास के कई ऐसे कार्यक्रम हैं जिनमें तकनीकी ज्ञान की जरूरत पड़ती है, जो या तो सरकारी महकमे के पास है या स्वैच्छिक संगठनों के पास। इन संगठनों के पास शिक्षित, प्रशिक्षित और तकनीकी ज्ञान से लैस विशाल कर्मचारी वर्ग है जो एक तरफ से सामाजिक, आर्थिक विकास का कार्य कर रहे हैं वहीं दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक स्तर पर भावनात्मक परिवर्तन लाकर लोगों को उनके अधिकारों के प्रति ज्यादा संवेदनशील बना रहे हैं। राजकीय एवं स्वयंसेवी संस्थाओं की कार्यशैली के इस अंतर से ही आज स्वयंसेवी संस्थाओं की साख बढ़ती जा रही है। [9]

स्वयं सेवी संगठनों के कार्यकलापों की अन्य विशेषता, इनके द्वारा समय–समय पर कार्यों का मूल्यांकन करना है। ज्यादातर सरकारी कार्यों में कार्य की समाप्ति पर ही यह जानने का प्रयास किया जाता है कि कार्य पूर्ण हुआ या नहीं किंतु स्वैच्छिक संगठन समय–समय पर परियोजना के विभिन्न चरणों में कार्य का प्रबोधन तथा मूल्यांकन करते रहते हैं ताकि यह पता चलता रहे कि जिस उद्देष्य को लेकर कार्य प्रारंभ किया गया था उसकी वास्तविक स्थिति क्या है ? और यदि कहीं पर कुछ ठीक न हो रहा है तो उसे समय रहते सुधारा जा सके। इस तरह कार्य करने में सफलता की संभावना ज्यादा रहती है।

स्वैच्छिक संगठनों की कार्य प्रक्रिया की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त प्रशिक्षण प्रविधि भी महत्वपूर्ण है। इन संगठनों ने प्रशिक्षण की कई ऐसी विधियों का अन्वेषण किया है जिससे अनपढ़ लोगों से लेकर समाज के कमजोर वर्गों जैसे महिलाएँ, आदिवासी तथा अन्य पिछड़ी जातियों को अलग–अलग ढ़ंग से प्रशिक्षण दिया जा सके। सहभागी पद्धति से प्रशिक्षण एक सफल तरीका साबित हो चुका है और आज सरकारी ही नहीं, संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्थाएँ भी इस बात को मान चुकी हैं कि स्वैच्छिक संगठनों द्वारा दिया गया प्रशिक्षण ज्यादा उपयोगी तथा कारगर होता है। [10]

आज स्वैच्छिक संगठनों के पास ग्रामीण क्षेत्रों में विकासात्मक कार्यों को करने का कई तरह का अनुभव प्राप्त है जिसमें तकनीकी ज्ञान व विशेषज्ञता शामिल है। इसे उन्होंने वर्षों के प्रयोगात्मक कार्यों के अनुभव के आधार पर प्राप्त किया है। कम खर्चीला तथा आसानी से उपलब्ध होने वाला यह तकनीकी ज्ञान ग्रामीण लोगों के लिए वरदान साबित हुआ है।

संदर्भ :

1 प्रभाकरण (1992), वोलेन्टरी एजेन्सीज फॉर रूरल डेवलपमेन्ट, मोहिन्दर सिंह (संपा), रूरल डेवलपमेंट इन इन्डिया : करेन्ट प्रॉस्पेक्टिव, इन्टेलेक्चुअल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 290

2 के.डी. गेंग्रेड (1987), डेवलपमेंट ऑफ वोलेन्टरी एक्शन, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल वर्क इन इन्डिया, मिनिस्ट्री ऑफ वेलफेयर, गवर्नमेंट ऑफ इन्डिया, पृ. 220
3 सुन्दरम (1986), वोलेन्टरी एजेन्सीज एण्ड रूरल डेवलपमेंट, बी.आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, नई दिल्ली, पृ. 57–58
4 राजेश टण्डन, बदलते सन्दर्भों में स्वैच्छिक क्षेत्र की चुनौतियाँ, कुरूक्षेत्र, जनवरी–फरवरी, 1996, पृ. 10–13
5 नीलिमा खेतान, स्वयंसेवी, संस्थाएँ : कुछ मुद्दे, मूलप्रष्न, जनवरी–अप्रैल, 2003, पृ. 2–4
6 आन्द्रे बैतेयी, सिविल सोसायटी और स्वैच्छिक संगठन, मूलप्रष्न, जनवरी–अप्रैल, 2003, पृ. 5–14
7 बलकार सिंह, पूनिया, ग्रामीण विकास में गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका और दायित्व, कुरूक्षेत्र, नवम्बर 2005, वर्ष–52, अंक–1, पृष्ठ 46–48
8 उमेशचन्द्र अग्रवाल, पंचायती राज संस्थाओं के विकास में स्वैच्छिक संगठनों से अपेक्षाएँ, कुरूक्षेत्र, सितम्बर 2000, वर्ष–46, अंक 2, पृष्ठ 8
9 राजेन्द्र उपाध्याय, ग्रामीण विकास एवं स्वयंसेवी संगठन, कुरूक्षेत्र, जनवरी–फरवरी, 1996, पृष्ठ 32–33
10 देवेन्द्र ठाकुर (1997), रोल ऑफ वालेन्टरी आर्गेनाईजेशन इन ट्राइबल डेवलपमेंट, दीप पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 75–96

***

प्रथम बौद्ध संगीति अध्यक्ष बुद्ध अग्रश्रावक महाकाश्यप

डॉ. यु. कुण्डला *

चीनी बौद्ध साहित्य के अनुसार महाकाश्यप का जन्म मगध प्रान्त में ''महातीथा'' नामक गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्हें चीनी भाषा में ''महोचासू'' के नाम से जाना जाता है। इनके बचपन का नाम पिप्पली कुमार था। इनके पिता का नाम कपिल और माता सुमना देवी थी।

पिप्पली को युवा होते देख इनके माता–पिता इन्हें वैवाहिक बंधन में बाँधना चाहते थे, लेकिन पिप्पली आजीवन अविवाहित रहकर जीवन व्यतीत करना चाहते थे। जब उनके माता–पिता ने बार–बार उनसे एक सुन्दर वधू के लिए कहा तो पिप्पली ने जवाब दिया, आप लोग चिन्ता न करें जब तक आपलोग जिन्दा रहेंगे तब तक मैं आप लोगों की सेवा करता रहूँगा, क्योंकि माता–पिता की मृत्यु के बाद वे सन्यासी का जीवन व्यतीत करना चाहते थे। फिर भी इनके माता–पिता बार–बार इनके लिये वधू लाने के लिए प्रयास करते रहे।

अन्त में पिप्पली मध्यम मार्ग अपनाकर अपने माता–पिता की इच्छा को पूर्ण करने के लिए तैयार हो गए, परन्तु उन्होंने अपने माता–पिता के सामने एक शर्त रखी कि अगर लड़की मेरे विचार की होगी तो ही मैं शादी करूँगा अन्यथा नहीं। पिप्पली ने अपने दिल से एक सुन्दर कन्या की तस्वीर बनाई जो स्वर्णमिश्रित थी। इन्होंने इस तस्वीर को अपने माता–पिता को दिखा कर कहा–

''अगर आप लोग इस जैसी सुन्दर कन्या मेरे लिए खोजते हैं तो मैं गृहस्थ जीवन में रहूँगा।'' उनके माता–पिता ने आठ ब्राह्मणों से सम्पर्क किया एवं उन्हें अपने साथ पिप्पली की बनाई गई तस्वीर को देते हुए कहा कि चारों तरफ ऐसी कन्या को खोज डालो।

ब्राह्मणों ने सोचा, सबसे पहले हमलोग ''भद्र'' देश चले जहाँ की कन्यायें सुन्दर होती है। उन लोगों ने सागल नाम की सुन्दर कन्या को खोज लिया, जो कि उस तस्वीर जैसी ही थी। वह भद्राकपिलानी थी, जो एक धनी ब्राह्मण की बेटी थी। भ्रदा कपिलानी की उम्र 16 साल की थी, जो पिप्पली से चार साल छोटी थी। उनके माता–पिता ने विवाह के प्रस्ताव के लिए स्वीकृति दे दी। इस तरह सभी ब्राह्मणों ने लौट कर अपनी सफलता के बारे में बताया। भद्रा कपिलानी को भी विवाह की इच्छा नहीं थी। वह भी

---

* सहायक प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष, चीनी एवं जापानी अध्ययन विभाग, नव नालन्दा महाविहार, (मानित विश्वविद्यालय) संस्कति मंत्रालय, भारत सरकार, नालन्दा।

एक धार्मिक जीवन जीना चाहती थी, फिर पिप्पली ने भद्रा कपिलानी को संदेष भेजा कि 'भद्रा' कृपया तुम किसी अच्छे विचार वाले पुरूष से विवाह कर लो। मैं स्वयं एक सन्यासी का जीवन जीना चाहता हूँ। कृपया पश्चाताप न करो''। पुनः भद्रा ने भी इसी तरह का खत पिप्पली के नाम से भेजा। येन–केन–प्रकारेण दोनों की शादी हो गयी। विवाहोपरान्त दोनों शय्या के बीच फूल की माला रखकर सोते थे। इस प्रकार वे ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। पिप्पली के पास अपार धन–संपत्ति थी। फिर भी दोनों वर्षों तक वैरागी जीवन व्यतीत करते रहे।

एक दिन जब पिप्पली खेत पर घूमने के लिए गए थे, उस समय किसान खेत में हल चला रहे थे। हल चलाते समय कुछ कीड़े जमीन से निकल रहे थे, जिन्हें आकाश में विचरण करने वाले पक्षी अपना आहार बना रहे थे। इस दृश्य को पिप्पली ने स्वयं अपनी आँखों से देख कर इस पाप का उत्तरदायित्व अपने पर लिया, उसके मन में बहुत ही पश्चाताप होने लगा। उन्होंने उसी समय सारी वस्तुएँ त्याग देने का निश्चय किया।

भद्रा भी घर में कौवों को देख रही थी, जो धूप में सूखते तिल से कीड़े खा रहे थे। उसने भी इस दृष्य से द्रवित हो गृहत्याग का संकल्प ले किया।[1] भद्रा एवं पिप्पली के विचार समान थे। सभी धन सम्पत्ति दोनों ने दास दासियों के बीच बाँट कर दोनों आपस में एक दूसरे का बाल काट एवं काषाय वस्त्र पहन हाथ में पात्र लेते हुए घर से निकल पड़े। पिप्पली एवं भद्रा दोनों ने साथ चलते हुए कुछ दूर जाकर सोचा कि दोनों का साथ जाना ठीक नहीं है। पुनः दोनों ने अलग–अलग दिशाओं में जाने का निश्चय किया। एक चौराहे से पिप्पली ने दाहिने तरफ एवं भद्रा ने बायें तरफ का मार्ग पकड़ लिया।

कहा जाता है कि जब दोनों पति एवं पत्नी चौराहे से अलग हुए तो धरती काँप उठी थी। उस वक्त भगवान बुद्ध राजगीर के वेणुवन में निवास कर रहे थे। भगवान कुछ समय बाद अपने आसन से उठ कर दूर तक गए। राजगृह एवं नालन्दा के बीच बुद्ध प्रभा फैलाकर बहुपुत्रक नाम के निग्रोध के नीचे बैठ गए।[2]

उसी समय पिप्पली रास्ते से गुजर रहे थे। पिप्पली ने भगवान को देख जान लिया कि वे ही उनके गुरू हैं। गृह त्याग के समय ही उन्होंने संकल्प ले लिया था कि संसार में जो अर्हन्त हैं, वे ही उनके शास्ता होगे। एक दिन भगवान ने उन्हें तीन बातों का उपदेश देकर अपना शिष्य बना लिया। ''काश्यप अपने आप को इस प्रकार सुशिक्षित करो। ज्येष्ठ भिक्षुओं के प्रति, श्रामणेरों के प्रति और समवयस्कों के प्रति आदर तथा सम्मान की भावना रखनी चाहिए। जो धर्म तुम सुनोगे जो कि सब की भलाई के लिए होगा। तुम उसे सजग होकर, कान खोल कर अपनी इच्छा से ग्रहण करोगे। शरीर के प्रति जागरूकता की कभी उपेक्षा नहीं करोगे।[3]

राजगीर में जाकर भगवान ने अपना पुराना चीवर काश्यप को दिया एवं काश्यप ने अपना नया चीवर भगवान को प्रदान किया। काश्यप के इस महापुण्य के कारण धरती काँप गई थी। काश्यप ने आठ दिनों के अंदर अर्हन्त पद को प्राप्त किया था। कहा जाता है कि बत्तीस महापुरूष लक्षणों में से उनके शरीर पर छः लक्षण मौजूद थे।

भगवान ने ही उसे महाकाश्यप कहकर सर्वप्रथम संबोधित किया था। यह माना जाता है कि उनके ''कोसिक गोत्र''[4] के नाम पर ही उनका काश्यप नाम रखा गया होगा। पालि साहित्य में भगवान बुद्ध के षिष्यों में बहुत से काश्यप का नाम आता है जैसा कि उरूवेला काश्यप, नदी काश्यप, पूरण काश्यप, कुमार काश्यप। लेकिन उन सभी में महाकाश्यप का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

प्रथम भेंट के दौरान ही भगवान ने अपना चीवर महाकाश्यप को दिया था, इस बात से प्रतीत होता है कि उनके प्रति भगवान की बहुत आस्था रही होगी। महाकाश्यप ने इस घटना को बड़े ही अभिमान के साथ याद रखा।[5] यह कहा जाता है कि महाकाश्यप ही भगवान के पश्चात् धर्म संगीति करवायेगें, यह भगवान जानते थे।[6]

एक समय श्रावस्ती में विहार करते हुए उनके संबंध में भगवान ने कहा–

''भिक्षुओं! काश्यप चीवर से संतुष्ट रहता है, चाहे वह कैसा भी हो, वह उसकी प्रशंसा करता है। भोजन कैसा भी हो वह उससे संतुष्ट रहता है। शयनासन कैसा भी हो वह उससे संतोष रखता है। गिलान प्रत्यय जैसा भी हो वह खुशी से स्वीकार करता है। अतः भिक्षुओं यह सीखना चाहिए कि हम भी इसी प्रकार संतोष पायेंगे।[7]

महाकाश्यप हमेशा आदर्श जीवन व्यतीत किया करते थे। वे जंगल में वास किया करते थे। केवल भिक्षा पर ही निर्भर रहते एवं चीथड़ों का ही चीवर पहनते थे। वे समाज पर कम से कम निर्भर रह कर जीते थे। एक बार भगवान ने जब इस नियम को छोड़ने के लिए कहा तो उन्होंने इससे इनकार कर दिया। इसका कारण पूछने पर वे बोले– ''मैं केवल अपने लिए ही नहीं बल्कि आने वाले भिक्षुओं का ख्याल करके ही इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा हूँ।[8] तब भगवान ने उनकी बड़ी प्रशंसा की थी।

थेरगाथा में महाकश्यप कहते हैं कि, ''पांच अंगों ये युक्त मृदंग से मुझे वैसा आनन्द नहीं मिलता, जैसा कि एकाग्रचित्त हो सम्यक् रूप से धम्म का दर्शन करने से मिलता है।''[15]

महाकाश्यप को गरीबों के प्रति अपार करूणा थी, वे दरिद्रों की बस्ती में ही भिक्षाटन किया करते थे। कालविलंगिक की कथा से यह स्पष्ट होता है कि वे गरीबों का कितना ख्याल करते थे।[9]

जब भगवान का महापरिनिर्वाण हुआ था तो उस समय महाकाश्यप उपस्थित नहीं थे, वे पावा से कुशीनारा की ओर यात्रा कर रहे थे, तभी रास्ते में उन्हें आजीवक मिला एवं भगवान के महापरिनिर्वाण की सूचना दी। ऐसा

कहा जाता है कि भगवान की चिता में आग लगाने की कई बार कोशिश की गई पर सब व्यर्थ हो चला था। तभी वहाँ पर उपस्थित अर्हन्तों ने बताया कि जब तक महाकाश्यप नहीं आते तब तक चिता में आग नहीं लग सकती। वे पाँच सौ भिक्षुओं के साथ चिता–स्थल पर पहुँचे एवं उन्होंने भगवान के श्रीपाद पर अपना माथा रखकर तीन बार चिता की परिक्रमा की। उसके बाद ही चिता में आग लगी।[10] यह मान्यता है कि राजा अजातशत्रु को भगवान की अस्थि का जो भाग प्राप्त हुआ वह महाकाश्यप द्वारा ही राजगृह में ले जाया गया था।[11]

भगवान के चले जाने से कुछ भिक्खु शोक विलाप करने लगे वे जो कि अर्हन्त नहीं थे, रोते–विलखते भिक्षुओं को भिक्षु सुभद्र ने कहा था– ''आयुष्मानों! महाश्रमण महापरिनिर्वाण हो गया तो ठीकहुआ। वह हमें हमेशा कहते रहे भिक्षुओं यह करो, यह न करो। अब हम जैसा चाहे वैसा कर सकेंगे।'' उसी समय महाकाश्यप ने इन शब्दों को सुनकर प्रथम बौद्ध संगीति बुलाने का निश्चय कर लिया था। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तीन महीने बाद ही महाकाश्यप की अध्यक्षता में राजगृह स्थित सप्तपर्णी गुफा में बौद्धों की प्रथम संगीति (487 ई0 पू0) आयोजित हुई थी, जिसमें बुद्ध वचन, सद्धर्भ और संघ की आधारशिला रखी गई। आनंद एवं उपालि के सहयोग से ही बुद्ध वचनों का संगायन किया गया जो कि आज ''त्रिपिटक'' के रूप में विद्यमान है। प्रथम संगीति के अवसर पर वे एक सौ बीस वर्ष के बताये जाते हैं।[12] कहा जाता है कि वे एक सौ बीस साल एक शय्या पर नहीं सोये थे।[13]

चीनी बौद्ध साहित्य के अनुसार अभी तक महाकाश्यप का परिनिर्वाण नहीं हुआ है। सम्प्रति कुकुटपादगिरी में निवास कर रहे हैं, जो कि आज बिहार राज्य में स्थित बोधगया से 60 किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित है। इस नाम का पहाड़ आजकल चीन के खुअन प्रान्त में स्थित है। चीनी में एक लोकप्रिय कहावत है– ''अगर महाकाश्यप नहीं होते तो बुद्ध शासन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।[14]

अतः हमे कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए 'अगर गौतम बुद्ध धर्मचक्रपवर्तक, सारिपुत्र धम्म सेनापति थे तो महाकाश्यप सद्धर्म के असली ध्वजवाहक थे।

इस प्रकार अपनी दूरदर्षिता, प्रभावशीलता एवं अनुशासन प्रियता के कारण ही इस महान संदेशवाहक का बौद्ध जगत् में एक अद्वितीय स्थान है। महाकश्यप का जीवन सादगीपूर्ण होने के कारण एवं चिथड़ों से बने चीवर पहनने एवं धुतांग व्रत धारण करने के कारण ही ''भगवान बुद्ध ने उन्हें अपने धुतांगव्रतधारी भिक्षुओं में अग्र घोषित किया था।''[16]

भवतुसब्ब मंगलं!

सन्दर्भ :

1. भद्दाकपिलानी थेरी अपदान, अपदान, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, 2017।
2. मज्झिमनिकाय अट्ठकथा पृ0– 347–357.
3. संयुक्तनिकाय, भाग– 2, पृ0– 220.
4. अपदान, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, 2017।
5. संयुक्तनिकाय, भाग– 2, पृ0– 221.
6. संयुक्तनिकाय, भाग– 2, पृ0– 230.
7. वही
8. धम्मपद अट्ठकथा, भाग– 1, पृ0– 423.
9. दीघनिकाय, भाग– 2, पृ0– 163.
10. महावंस परिच्छेद उ0 प्र0 पृ0– 146, भदंत आनंद कौसलयायन
11. संयुक्तनिकाय अट्ठकथा
12. दीघनिकाय अट्ठकथा
13. 10 Disciples of the Buddha By Shing Yun Ta Shu (Fo Kuang Shan) Publish 1984, 08-03. (Chinese Books)
14. In the Footsteps of Lord Buddha By Wai Keng Kay, Publish. 1985, 05-25 (Chinese Book)
15. थेरगाथा, (हिन्दी अनु. डॉ विमलकीर्ति), सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ0 373।
16. महाकस्सप भगवान बुद्ध के महाश्रावक (धुतांगधारियों में अग्र), विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, नासिक, महाराष्ट्र, 2012, पृ0 07।

***

प्रश्न पत्र गुणवत्ता रेटिंग स्केल उपकरण का निर्माण एवं मानकीकरण

*सुनील कुमार तोमर**
*डॉ. राकेश कुमार शर्मा***

शोधसार

शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर प्रचलित परीक्षा प्रणाली की सहायता से शिक्षण प्रक्रिया एवं अधिगम उद्देश्यों का सफलता पूर्वक आंकलन किया जाता है। छात्रों के अर्जित ज्ञान का मापन करने के लिए परीक्षा का सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान है। परीक्षा निर्धारित उद्देश्यों के मापन एवं मूल्यांकन में सहायता प्रदान करती है। प्रश्न पत्र परीक्षा प्रणाली का एक महत्वपूर्ण अंग है। गुणवत्ता पूर्ण प्रश्न पत्रों के बिना परीक्षा के माध्यम से प्राप्त आंकड़ों द्वारा शैक्षिक प्रक्रिया एवं छात्र उपलब्धि का सटीक आंकलन असंभव है।वर्तमान अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा प्रश्नपत्र गुणवत्ता रेटिंग स्केल उपकरण का निर्माण एवं मानकीकरण किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रश्न पत्र गुणवत्ता के आयामों का चयन, कथनों की रचना, विश्लेषण, प्रारम्भिक जाँच, पद विश्लेषण, विश्वसनीयता, वैधता एवं मानकीकरण की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है।

मूलशब्द – प्रश्न पत्र गुणवत्ता, प्रारम्भिक जाँच, पद विश्लेषण, चयन, विश्वसनीयता, वैधता।

प्रस्तावना –

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन की गुणवत्ता को सुनिश्चित करना चाहता है। इस प्रक्रिया में वह जीवन में कई सारे चरणों से गुजरता है। उनमें से ही एक महत्वपूर्ण चरण शिक्षा है। जो मनुष्य के जीवन निर्माण को सुनिश्चित करती है। जब शिक्षा प्रक्रिया से मनुष्य गुजरता हैं तो प्रत्येक स्तर पर उसे परीक्षाओं का सामना करना होता है, क्योंकि परीक्षा ही वो प्रक्रिया है जो शिक्षा को पूर्णवत्ता प्रदान करने में सहायता प्रदान करती हैं। विद्यालय, महाविद्यालय व विश्वविद्यालय स्तर पर समय के साथ पर विभिन्न परीक्षायें आयोजित की जाती हैं। जिसके माध्यम से शैक्षिक प्रक्रिया एवं छात्र उपलब्धि का आंकलन या मापन किया जाता हैं। परीक्षा के माध्यम से निर्धारित शैक्षिक उद्देश्यों को मापा जाता हैं कि किस सीमा तक उन उद्देश्यों का प्राप्त कर लिया जाता है। जब परीक्षा के माध्यम से शैक्षिक उपलब्धियों के आंकलन की बात आती है तो उसके लिए परीक्षा आयोजन हेतु प्रयोग किये गये प्रश्न पत्रों का गुणवत्ता पूर्ण होना अति आवश्यक है। गुणवत्ता पूर्ण प्रश्न

* शोधार्थी, शिक्षा विभाग, चौ. चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ
** एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, चौ. चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

पत्रों के बिना परीक्षा के माध्यम से प्राप्त आंकड़ों द्वारा शैक्षिक प्रक्रिया एवं छाल उपलब्धि का सटीक आंकलन असंभव है। एक उत्तम प्रश्न पत्र गुणवत्ता पूर्ण तभी होता है जब उनमें भाषा सरल एवं स्पष्ट हो, सम्पूर्ण पाठ्यक्रम का समावेश हो, निर्धारित उद्देश्यों के अनुसार प्रश्नों में वृहदता हो, निर्धारित समय के अनुसार प्रश्नों की संख्या एवं प्रश्नों के स्वरूप का निर्माण किया गया हो। प्रस्तुत शोध में शोधकर्ता न परीक्षा के अन्तर्गत प्रयोग किये जाने वाले प्रश्नपत्रों को महत्वता को देखते हुए प्रश्न पत्र गुणवत्ता रेटिंग स्केल उपकरण के निर्माण एवं मानकीकरण करने का प्रयास किया है। इसमें उपकरण रचना एवं मानकीकरण प्रक्रिया सम्बन्धी सिद्धान्तों को अपनाया है।

प्रश्न पत्र गुणवत्ता रेटिंग स्केल की रचना –

उपकरण का निर्माण प्रश्न पत्र की गुणवत्ता का आंकलन करने के लिए किया गयाहै। शोधकर्ता ने प्रश्नपत्रों की गुणवत्ता से सम्बन्धी सात आयामों का चयन किया है। जिसके माध्यम से उपकरणका निर्माण उद्देश्यों के अनुसार किया जा सके। अध्ययन उद्देश्यों एवं विषय वस्तु के अनुरूप प्रश्न पत्र गुणवत्ता के आयामों में प्रश्न पत्रों की रचना एवं भाषा, कठिनाई स्तर, प्रश्नों की व्यापकता, प्रासंगिकता, उद्देश्यपरकता, प्रश्नों के उत्तर के लिए अंक विभाजन तथा प्रश्नों का स्वउत्तरीय स्वरूप को सम्मिलित किया गया है। शोधकर्ता ने प्रश्न पत्र गुणवत्ता सम्बन्धी आयामों के निर्धारण हेतु प्रश्न पत्र गुणवत्ता सम्बन्धी लेखों, शोध ग्रन्थों, शोध निर्देशक एवं विशेषज्ञों से विचार विमर्श, एवं स्वयं के अनुभव के आधार पर किया। इन आयामों पर शोधकर्ता ने 81 कथनों की रचना की। उपकरण का स्वरूप लिकर्ट विधि पर आधारित है।

उपकरण की प्रारम्भिक जाँच –

उपकरण की प्रारम्भिक जाँच में तैयार किये गये 81 कथनों की जाँच सम्बन्धित विशेषज्ञों द्वारा करायी गयी, जिसमें वरिष्ठ शिक्षक, मनोवैज्ञानिक, सेवानिर्वत शिक्षक, संकायाध्यक्ष आदि 40 विशेषज्ञों को सम्मिलित किया। शोधकर्ता ने उपकरण निर्माण के उद्देश्यों जिसमें क्या उपकरण में सम्मिलित कथन उपकरण निर्माण उद्देश्यों के अनुरूप है, क्या कथनों की भाषा सरल एवं स्पष्ट है, क्या उपकरण के निर्देश स्पष्ट एवं व्याख्यात्मक है आदि के साथ प्रत्येक विशेषज्ञ को उपकरण की प्रति उपलब्ध करायी गयी तथा उपकरण में सम्मिलित प्रश्नों के लिए सहमत एवं असहमत प्रतिक्रिया देने के लिए कहा गया। शोधकर्ता द्वारा विशेषज्ञों से उपकरण की प्रतियों को प्राप्त कर विश्लेषण किया गया और पाया गया कि विशेषज्ञों द्वारा 81 कथनों में से 49 कथनों पर अधिकतम (50 प्रतिशत से अधिक) सहमती प्रदान की गयी। अतः उन्हें उपकरण में सम्मिलित कर लिया गया तथा शेष 32 कथनों कों उपकरण से हटा दिया गया।

कथनों की अंकन प्रक्रिया –

कथनों की अंकन प्रक्रिया के लिए के पांच बिन्दू विधि को अपनाया गया है। विश्लेषण तालिका–1 में दिखाया गया है।

तालिका–1

कथनों की अंकन प्रक्रिया

कथन	पूर्ण सहमत	सहमत	अनिश्चित	असहमत	पूर्ण असहमत
सकारात्मक	5	4	3	2	1
नकारात्मक	1	2	3	4	5

पद विश्लेषण –

वैध एवं विश्वसनीयउपकरण निर्माण के लिए पद विश्लेषण एक आवश्यक प्रक्रिया है। यह उपकरण की वास्तविक जाँच प्रक्रिया है। इसके लिए चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालयके अन्तर्गत बी0एड0 पाठ्यक्रम संचालित करने वाले महाविद्यालयों (अनुदानित व स्ववित्तपोषित) में कार्यरत 400 शिक्षकों का चयनउद्देश्यपूर्ण यादृच्छिक प्रतिचयन विधिद्वारा किया गया। शोधकर्ता ने उपकरण सम्बन्धी आवश्यक दिशा–निर्देशों के साथ–साथ बी0एड0 पाठ्यक्रम के सत्र 2018–2020 का प्रथम वर्ष का कोड E–101 (Contemporary India and Education) का प्रश्न पत्र भी मानक निर्धारण के उद्देश्य से शिक्षकों को दिया, जिसके आधार पर प्रारम्भिक जाँचमें उपकरण में सम्मिलित प्रश्नों पर प्रतिक्रिया देने को कहा गया।

उपकरण प्रतियों को प्राप्त करने के पश्चात् प्रत्येक कथन की अलग–अलग जाँच की गयी तथा कथनों की विभेदन क्षमता का आंकलन किया गया। प्राप्तांकों को आरोही क्रम में व्यवस्थित किया गया। जिसके लिए सर्वप्रथम कैली विधि द्वारा 27 प्रतिशत उच्च समूह व 27 प्रतिशत निम्न समूह में शिक्षकों को छांटकर प्रत्येक कथन के दोनों समूहों के प्राप्तांकों में टी–परीक्षण द्वारा टी के तालिका मान 0.05 स्तर पर 1.97 व 0.01 स्तर पर 2.59के आधार परसार्थकता की माप को ज्ञात किया गया। जिन कथनों का मान सार्थक पाया गया, उन्हें उपकरण में सम्मिलित कर लिया गया तथाशेष कों अस्वीकार कर दिया गया। 49 कथनोंमेंसे 36कथनोंका मान सार्थक पायागया।अतः उन्हें उपकरणमेंसम्मिलित कर लिया गयातथा शेष 13 कथनों कोंउपकरण से हटा दिया गया।

विश्लेषण तालिका–2व तालिका–3में दिखाया गया है।

तालिका–2

कथनों की स्वीकृति / अस्वीकृति

कथन क्रम संख्या	टी–मान	निर्णय	कथन क्रम संख्या	टी–मान	निर्णय
1	2.95	स्वीकृत	23	4.06	स्वीकृत
2	3.21	स्वीकृत	24	4.51	स्वीकृत
3	3.07	स्वीकृत	25	1.89	**अस्वीकृत**
4	4.05	स्वीकृत	26	4.05	स्वीकृत
5	6.13	स्वीकृत	27	5.71	स्वीकृत
6	1.94	**अस्वीकृत**	28	3.28	स्वीकृत
7	6.71	स्वीकृत	29	4.36	स्वीकृत
8	1.85	**अस्वीकृत**	30	1.76	**अस्वीकृत**
9	1.79	**अस्वीकृत**	31	3.76	स्वीकृत
10	5.91	स्वीकृत	32	1.88	**अस्वीकृत**
11	6.07	स्वीकृत	33	4.62	स्वीकृत
12	3.12	स्वीकृत	34	3.10	स्वीकृत
13	2.48	स्वीकृत	35	1.89	**अस्वीकृत**
14	3.74	स्वीकृत	36	4.69	स्वीकृत
15	1.87	**अस्वीकृत**	37	5.43	स्वीकृत
16	3.57	स्वीकृत	38	1.89	**अस्वीकृत**
17	4.43	स्वीकृत	39	3.25	स्वीकृत
18	5.45	स्वीकृत	40	3.57	स्वीकृत
19	1.83	**अस्वीकृत**	47	1.91	**अस्वीकृत**
20	3.26	स्वीकृत	48	1.90	**अस्वीकृत**
21	2.97	स्वीकृत	49	4.70	स्वीकृत
22	1.92	**अस्वीकृत**			

तालिका–3

प्रश्न पत्र गुणवत्ता के आयामों के आधार पर स्वीकृतकथनों की संख्या

क्रम संख्या	आयाम	कथनों की संख्या
1	प्रश्न पत्रों की रचना एवं भाषा	6
2	प्रश्नों का कठिनाई स्तर	5
3	प्रश्नों की व्यापकता	6
4	प्रश्नों की प्रासंगिकता	4
5	प्रश्नों की उद्देश्यपरकता	6
6	प्रश्नों के उत्तर के लिए अंक विभाजन	5
7	प्रश्नों का स्वःउत्तरीय स्वरूप	4
	कुलकथन	**36**

उपकरण की विश्वसनीयता–

प्रश्न पत्र गुणवत्ता रेटिंग स्केल की विश्वसनीयता को ज्ञात करने के लिए अर्द्ध–विच्छेदन विधि (Split half Method) का प्रयोग किया गया। कथनों को सम–विषम के आधार पर दो भागों में बांटकर विश्वसनीयता ज्ञात की गयी। उपकरणका विश्वसनीयतागुणांक 0.74 पायागया।अर्द्ध–विच्छेदन विधिमें परीक्षण की लम्बाई दो भागों में विभक्त होने के कारण विश्वसनीयतागुणांक भी कम हो जाता है। अतः इस त्रुटि को कम करने के लिए स्पीयरमैन–ब्राउन द्वारा दिये गए सूत्र का प्रयोग किया गया और परीक्षण काविश्वसनीयतागुणांक 0.85 प्राप्त हुआ।

उपकरण की वैधता–

प्रश्न पत्र गुणवत्ता रेटिंग स्केल की वैधता को ज्ञात करने के लिए अंकित वैधता (Face Validity) को अपनाया गया है। अंकित वैधता ज्ञात करने के लिए विशेषज्ञों द्वारा उपकरण की जांच करायी गयी। जिसके अन्तर्गत उपकरण के उद्देश्य, कथन निर्माण, प्रकरण, भाषा शैली, दिशा निर्देश, स्पष्टता, सुगमता आदि तथ्यों पर विशेषज्ञों ने अपनी रेटिंग प्रदान की। रेटिंग का विश्लेषण कर यह पाया गया कि उपकरण निर्धारित उद्देश्यों का पालन करता है।

उपकरण का मानकीकरण–

उपकरण का मानकीकरण चौ0 चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ से सम्बद्ध, बी0एड0 पाठ्यक्रम संचालित करने वाल अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित महाविद्यालयों के शिक्षकों पर किया गया। मानकों का निर्धारण अन्तिम रूप से जाँच के बाद सांख्यिकी विधियों द्वारा किया गया।विश्लेषण तालिका–4व तालिका–5 में दिखाया गया है।

तालिका–4
सांख्यिकी विवेचन

N	मध्यमान	मानक विचलन
400	135.57	12.08

तालिका–5
मानकीकरण

क्रम संख्या	मूल प्राप्तांक	स्तर
1	158.61 से ऊपर	अति श्रेष्ठ
2	143.25 - 158.61	उच्च
3	127.89-143.25	औसत
4	112.53-127.89	निम्न
5	112.53 से नीचे	अतिनिम्न

निष्कर्ष–

शोधकर्ता द्वारा प्रश्न पत्र गुणवत्ता रेटिंग स्केल का निर्माण प्रश्न पत्रों की गुणवत्ता का आंकलन करने के लिए किया गया है। इस उपकरण का प्रयोग प्रत्येक स्तर की परीक्षा के प्रश्न पत्रों की गुणवत्ता का आंकलन करने में सहायक होगा। इस उपकरण को भविष्य में समय अनुसार पाठ्यक्रम अनुरूप भी संशोधित कर उपयोगिता के आधार प्रयोग किया जा सकेगा। यह उपकरण परीक्षा प्रणाली को उद्देश्यों के अनुसार सफल बनाने में सहायक होगा।

संदर्भ सूची :

- कौल, एल० (2014), *शैक्षिक अनुसंधान की कार्य प्रणाली*, विकास पब्लिशिंग हाउस, लि0 नोएडा।
- गुप्ता, एस०पी० एवं गुप्ता, ए० (2016), *आधुनिक मापन एवं मूल्यांकन*, शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज।
- शर्मा, आर०ए० (2016), *आधुनिक अनुसंधान के मूलतत्व एवं शोध प्रक्रिया*, आर०लाल० बुक डिपो, मेरठ।
- गुप्ता, एस०पी० (2017), *अनुसंधान संदर्शिका*, शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज।
- Yadl,R.(2018), "*A Study on the Construction of the Scale to Measure the Socio-Economic Status in Rural and Urban Communities in India*"International Research Journal of Human Resources and Social Sciences, ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218) Volume 5, Issue 1, pp.495-506.

***

लिंग एवं परिवेश के आधार पर माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति एवं बुद्धि-लब्धि का अध्ययन

*दीपक मिश्रा**

शिक्षा मानव जीवन को सार्थक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वर्तमान समाज में अशिक्षित व्यक्ति को प्रायः उपेक्षा या हेय दृष्टि से देखा जाता है। अतः माता–पिता या अभिभावक अपने पाल्य को सुशिक्षित करना परम कर्तव्य समझते है। शिक्षा के द्वारा ही बालक की प्रवृत्तियों का शोधन एवं परिमार्जन होता है, जिससे उसका व्यवहार संतुलित, नियंत्रित एवं परिष्कृत होता है। विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के निर्माण में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, इस प्रकार बालक की जैसी शिक्षा–व्यवस्था होती है, उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व निर्माण होता है। विद्यार्थियों को समाज के लिए उपयोगी सिद्ध करना वर्तमान शिक्षा पद्धति का मूलभूत उद्देश्य है, परन्तु हमारे देश में शिक्षा का प्रमुख स्तर माध्यमिक शिक्षा की स्थिति सुदृढ़ नहीं है, जिसका प्रमुख कारण माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों को उचित मार्ग–दर्शन न मिल पाने के कारण उनमें ज्ञान के प्रति सन्तोषजनक विकास नहीं हो पाता, जिससे विद्यार्थी योग्य होने के बावजूद उचित निर्देशन के अभाव में वाँछित उपलब्धि को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। शोध के परिणामों से पता चलता है, कि विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति पर उनके बुद्धि–लब्धि का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। मानसिक रूप से स्वस्थ विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति एवं बुद्धि–लब्धि अपेक्षाकृत अस्वस्थ विद्यार्थियों से अधिक होती है। विद्यार्थियों के परिवेश, लिंग एवं शैक्षिक वातावरण पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है, इसलिए अभिभावकों को अपने पाल्यों के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखना चाहिए, जिससे विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति एवं बुद्धि–लब्धि उत्तम हो सके, ताकि वे भविष्य में अपनी सीखने की प्रक्रिया को सुगम एवं वाँक्षित उपलब्धियों को प्राप्त करने में सक्षम बन सकें।

मूल शब्दः शैक्षिक निष्पत्ति, बुद्धि–लब्धि, माध्यमिक स्तर के विद्यार्थी, परिवेश एवं लिंग।

प्रस्तावना–

बुद्धि–लब्धि, प्रत्यय प्राचीन काल से व्यक्ति की तत्परता, तात्कालिकता, समायोजन, उपलब्धि तथा समस्या समाधान की क्षमता के सन्दर्भ में प्रयोग होता रहा है, वास्तव में जिस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से रंग–रूप, कद–काठी, भाषा आदि में भिन्न होता है, उसी प्रकार मानसिक योग्यता में भी भिन्न–भिन्न होता है। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थियों

* शोध छात्र, शिक्षाशास्त्र विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.।

की मानसिक योग्यता में भिन्नता का विशेष महत्व होता है। एक ही आयु या कक्षा के कुछ छात्र मानसिक क्रियाओं को करने में तीव्र होते है, तो वहीं कुछ छात्र औसत बुद्धि–लब्धि या निम्न बुद्धि–लब्धि के होते हैं, कुछ बालक एक ही बार पढ़ाने पर पाठ्य–वस्तु को सीख जाते हैं, जबकि कुछ को कई बार पढ़ाना पड़ता है, छात्रों की मानसिक योग्यता में यह अन्तर बुद्धि–लब्धि के कारण ही होता है।

संसार का प्रत्यके व्यक्ति या बालक बुद्धि–लब्धि की दृष्टि से अन्य व्यक्तियों या बालकों से भिन्न होता है, शैक्षिक दृष्टि से छात्रों की बुद्धिगत विभिन्नता का अध्ययन करना अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि छात्रों की मानसिक योग्यता के अनुरूप ही उनके लिए शिक्षा व्यवस्था का नियोजन तथा क्रियान्वयन किया जाता है, जो विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति को प्रभावित करता है।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शैक्षिक निष्पत्ति जानने की जिज्ञासा रहती है। शैक्षिक निष्पत्ति उत्तम होने पर कार्य में गुणवत्ता आती है तथा उत्साह बढ़ता है, जबकि इसके विपरीत निम्न शैक्षिक निष्पत्ति होने पर कार्य के प्रति हतोस्साहित होता है। प्रत्येक विद्यार्थी विभिन्न कक्षाओं में विभिन्न ज्ञान प्राप्त करते हैं, कक्षा में सभी विद्यार्थियों का ज्ञान एवं ज्ञानार्जन की सीमा अथवा प्रगति एक समान नहीं होती है। किसी कक्षा या विषय में विद्यार्थियों ने कितनी मात्रा में ज्ञानार्जन किया है, उसे शैक्षिक निष्पत्ति कहते हैं, जिसकी जाँच विभिन्न परीक्षाओं के द्वारा की जाती है, उसे उपलब्धि परीक्षण कहते हैं। वास्तव में विद्यार्थी का अंक पत्र ही उसकी शैक्षिक निष्पत्ति को प्रदर्शित करता है।

विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति पर बुद्धि–लब्धि का प्रभाव पड़ता है, जिस विद्यार्थी की बुद्धि–लब्धि अधिक होती है, प्रायः उसकी शैक्षिक निष्पत्ति भी अधिक होती है, वह अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा शीघ्र ही सीखने में सफल हो जाता है और अपने परिवेश एवं परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को समायोजित करने में अधिक सक्षम पाता है। अतः प्रत्येक विद्यार्थी की शैक्षिक उपलब्धि समद्ध होनी चाहिए, जिससे वह अपना जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत कर सकें, साथ ही साथ स्वस्थ बुद्धि–लब्धि का रहना भी अति आवश्यक है, जिससे वह किसी समस्या अथवा परिस्थिति के साथ सामजस्य स्थापित करने में सफल हो सके।

समस्या की उत्पत्ति, आवश्यकता एवं महत्व– प्रस्तुत समस्या की उत्पत्ति विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति पर बुद्धि–लब्धि के प्रभाव का पता लगााना एवं उनका प्रभावी ढंग से सुधारात्मक विकास करके अधिकतम शैक्षिक निष्पत्ति प्राप्त करने में सहायता प्रदान करना है, क्योंकि उच्च शैक्षिक निष्पत्ति किसी भी विद्यार्थी के उन्नयन का प्रमाण मानना जाता है। प्रायः उच्च शैक्षिक निष्पत्ति वाले विद्यार्थी जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करते हुए अपने को वातावरण में समायोजित करने में सक्षम

होते हैं। विद्यार्थियों को उच्च शैक्षिक निष्पत्ति प्राप्त करने में अनेक कारकों का अपना–अपना महत्व होता है, परन्तु इस क्षेत्र में बुद्धि–लब्धि का क्या महत्व होगा, शोधकर्ता ने यह जानने का प्रयास किया है, शोधकर्ता ने विद्यार्थियों के उसके विभिन्न विषयों में उपलब्धि प्राप्तांको का प्रभाव कितना है? अभी तक माध्यमिक स्तर पर शैक्षिक निष्पत्ति एवं बुद्धि–लब्धि का प्रभाव जानने हेतु बहुत कम शोध हुए हैं, अतः शोधकर्ता ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए समस्या का चुनाव किया है, इस प्रकार के अध्ययन से हम विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति एवं बुद्धि–लब्धि के मध्य सम्बन्धों को पता करके उनकी शैक्षिक श्रेष्ठता का विकास करने हेतु समुचित प्रयास करेगें। इस लघु शोध अध्ययन का महत्व शिक्षकों, अभिभावकों, निर्देशकों एवं शिक्षार्थियों के लिए लाभप्रद है, क्योंकि शैक्षिक निष्पत्ति एवं बुद्धि–लब्धि में सम्बन्ध को जानकर, वह विद्यार्थियों को उचित दिशा–निर्देश प्रदान कर सकेगें।

शोध के उद्देश्य–

1. माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की लिंग (छात्र और छात्राओं) एवं परिवेश (शहरी और ग्रामीण) के आधार पर शैक्षिक निष्पत्ति में अन्तर ज्ञात करना।
2. माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की लिंग (छात्र और छात्राओं) एवं परिवेश (शहरी और ग्रामीण) के आधार पर बुद्धि–लब्धि में अन्तर ज्ञात करना।

शोध परिकल्पना– प्रस्तुत लघुशोध में निम्नवत परिकल्पनाएँ 0.01 सार्थकता स्तर पर बनायी गयी है–

1. माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की शैक्षिक निष्पत्ति में कोई अन्तर नहीं है।
2. माध्यमिक स्तर के शहरी और ग्रामीण विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति में कोई अन्तर नहीं है।
3. माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की बुद्धि–लब्धि में कोई अन्तर नहीं है।
4. माध्यमिक स्तर के शहरी और ग्रामीण विद्यार्थियों की बुद्धि–लब्धि में कोई अन्तर नहीं है।

शोध की परिसीमाएँ–

- प्रस्तुत लघु शोध कार्य उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद, प्रयागराज से सम्बद्ध माध्यमिक विद्यालय के विद्यार्थियों पर किया गया है।
- अध्ययन के लिए न्यादर्श में सिर्फ 100 विद्यार्थियों को शामिल किया गया है।
- प्रस्तुत लघु शोध कार्य में वाराणसी जनपद के माध्यमिक विद्यालयों को ही लिया गया है।

सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण–

मेनन, (1973)[1] ने अपने शोध अध्ययन में पाया कि उच्च उपलब्धि वाले तथा निम्न उपलब्धि वाले उन छात्रों के व्यक्तित्व के गुणों का अध्ययन किया, जो उच्च योग्यता के थे। यह शोध अध्ययन त्रिवेन्द्रम के दसवीं कक्षा में पढ़ने वाले 2400 विद्यार्थियों पर किया गया। इस शोध के निष्कर्ष में पाया गया, कि उच्च शैक्षिक उपलब्धि वाला समूह, जिसमें श्रेष्ठ एवं सामान्य योग्यता के लड़के और लड़कियाँ थीं, बुद्धि–लब्धि के अनुरूप कम शैक्षिक योग्यता वाले लड़के एवं लड़कियों की तुलना में कम बर्हिमुखी तथा कम कुसमायोजित हैं।

शिवप्पा, डी0 (1980)[2] ने अपने शोध अध्ययन में यह पाया कि,

1. अध्ययन की आदत, शैक्षिक आकांक्षा, सामाजिक–आर्थिक स्थिति आवश्यकता, उपलब्धि तथा बुद्धि में सार्थक रूप में धनात्मक सह–सम्बन्ध है, जबकि व्यक्तित्त्व समायोजन तथा प्रत्यक्ष चिन्ता में सार्थक रूप से नाकारात्मक सह–सम्बन्ध है।
2. शैक्षिक उपलब्धि में सहायक कारक, बुद्धि–लब्धि, प्रत्यक्ष चिन्ता तथा अध्ययन आदत है।
3. कक्षा 10 की परीक्षा के स्तर पर छात्रों की सफलता के लिए अध्ययन की आदत, शैक्षिक उपलब्धि एवं सामाजिक–आर्थिक कारक में नकारात्मक सम्बन्ध है।

उस्मानी, एस0 एन0 (1981)[3] ने विज्ञान और कला वर्ग के 800 छात्र–छात्राओं के प्रतिदर्श का अध्ययन किया है, इनके शोध का शीषर्क है– "Creativity in relation to alienation, ego-strength, and intelligence in arts and science streams of intermediate students."

उपरोक्त अध्ययन में यह निष्कर्ष पाया गया किः–

1. विज्ञान और कला वर्ग के छात्रों के प्राप्तांकों में सार्थक अन्तर है।
2. विज्ञान वर्ग के छात्र, कला वर्ग के छात्रों की अपेक्षा बुद्धि में सार्थक रूप से अधिक पाए गये है।
3. अहं शक्ति और बुद्धि में धनात्मक और सार्थक सहसम्बन्ध है।

शर्मा, अरविन्द (2002)[4] ने अपने शोध अध्ययन में यह पाया कि,

1. उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्र–छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया गया है।
2. उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्रों की बुद्धि–लब्धि, छात्राओं की बुद्धि–लब्धि से अधिक पायी गयी है।
3. उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्रों की शैक्षिक रूचि, छात्राओं की शैक्षिक रूचि से अधिक पायी गयी है।
4. उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्रों का आकांक्षा स्तर, छात्राओं के आकांक्षा स्तर से अधिक पाया गया है।

5. उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्रों का माता–पिता से स्वीकारोक्ति पूर्ण सम्बन्ध, छात्राओं के माता–पिता से स्वीकारोक्ति पूर्ण सम्बन्ध से अधिक पाया गया है।
6. उच्चतर माधयमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि का बुद्धि–लब्धि में धनात्मक सहसम्बन्ध पाया गया है।
7. उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि का शैक्षिक रूचि से धनात्मक सहसम्बन्ध है।

आलम, मेहताब (2011)[5] ने अपने शोध अध्ययन में पाया कि,

1. छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि पर मानसिक दबाव का प्रभाव पड़ता है। प्राप्तांकों के माध्य के आधार पर कहा जा सकता है, कि कम मानसिक दबाव के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि अधिक मानसिक दबाव के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि से अपेक्षाकृत अधिक होती है।
2. ग्रामीण क्षेत्र के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर मानसिक दबाव का प्रभाव पड़ता है। प्राप्तांकों के माध्य के आधार पर कहा जा सकता है, कि कम मानसिक दबाव के ग्रामीण क्षेत्र के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि अधिक मानसिक दबाव के ग्रामीण क्षेत्र के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि से अपेक्षाकृत कम होती है।
3. शहरी क्षेत्र के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर मानसिक दबाव का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। प्राप्तांकों के माध्य के आधार पर कहा जा सकता है, कि कम मानसिक दबाव के शहरी क्षेत्र के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि अधिक मानसिक दबाव के शहरी क्षेत्र के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि से अपेक्षाकृत अधिक होती है।

विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर मानसिक स्वास्थ्य का प्रभाव पड़ता है। प्राप्तांकों के माध्य के आधार पर कहा जा सकता है कि मानसिक स्वास्थ्य परीक्षण में सामान्य से अधिक अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, मानसिक स्वास्थ्य परीक्षण में सामान्य से कम अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि से अपेक्षाकृत अधिक होती है।

यादव, कमला प्रसाद (2015)[6] ने स्नातक स्तर के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर सामाजिक– आर्थिक स्तर, बुद्धि एवं अध्ययन आदतों के प्रभाव हेतु वर्णनात्मक अनुसंधान के अन्तर्गत पश्चोंन्मुखी अनुसन्धान विधि का प्रयोग किया। शोधकर्ता द्वारा न्यादर्श के रूप में वाराणसी, गाजीपुर एवं जौनपुर जिले के दो–दो महाविद्यालयों (एक शहरी एवं एक ग्रामीण) से कक्षा बी0 ए0 भाग दो के 250 छात्राओं को बहुस्तरीय यादृच्छिक न्यायदर्शन विधि द्वारा न्यादर्श के रूप में चयन किया गया है। शोधार्थी द्वारा प्राप्त आकड़ो के विश्लेषण के आधार पर निम्नलिखित परिणाम प्रस्तुत है–

1. विद्यार्थियों की बुद्धि जितनी ही अधिक होगी, शैक्षिक उपलब्धि भी उसी अनुपात में उतनी ही अधिक रहेगी।

2. लिंग, परिवेश एवं सामाजिक–आर्थिक स्तर का मुख्य प्रभाव, संयुक्त प्रभाव अर्न्तक्रियात्मक प्रभाव शैक्षिक उपलब्धि पर नहीं पड़ता है।
3. अध्ययन आदत का सामाजिक–आर्थिक स्तर से संयुक्त प्रभाव शैक्षिक उपलब्धि पर नहीं पड़ता है, जबकि अध्ययन आदत, लिंग व सामाजिक–आर्थिक स्तर का अर्न्तक्रियात्मक प्रभाव शैक्षिक उपलब्धि पर पड़ता है।
4. बुद्धि एवं सामाजिक–आर्थिक स्तर का संयुक्त प्रभाव तथा अध्ययन आदत, बुद्धि एवं सामाजिक–आर्थिक स्तर का अर्न्तक्रियात्मक प्रभाव शैक्षिक उपलब्धि पर पड़ता है।

अध्ययन विधि– शोधकर्ता ने सारी विधियों का अध्ययन करने के पश्चात अपने लघु शोध को भली भाँति सम्पन्न करने के लिए सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया है।

समष्टि– प्रस्तुत लघु शोध अध्ययन हेतु वाराणसी जनपद (शहरी क्षेत्र) के माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों को सम्मिलित किया गया है।

न्यादर्श– प्रस्तुत लघु शोध कार्य में न्यादर्श के रूप में वाराणसी जनपद (शहरी क्षेत्र) के माध्यमिक शिक्षा परिषद प्रयागराज, उत्तर प्रदेश से सम्बद्ध माध्यमिक विद्यालय के विद्यार्थियों का चुनाव यादृच्छिक विधि से किया गया है, जिसमें क्रमशः 50 छात्रों एवं 50 छात्राओं को लिया गया है।

प्रयुक्त उपकरण– शोधकर्ता ने शैक्षिक निष्पत्ति के मापन हेतु प्रो0 ए. के. सिंह एवं डॉ0 ए. सेन गुप्ता द्वारा निर्मित सामान्य कक्षा उपलब्धि परीक्षण और बुद्धि–लब्धि जानने हेतु डॉ0 आर. के. टण्डन द्वारा निर्मित सामूहिक मानसिक योग्यता परीक्षा (2/70) का प्रयोग किया गया है।

सांख्यकीय विधि का प्रयोग– अनुसंधान में प्रायः बहुत से आकड़ो को एकत्र करना होता है। प्रस्तुत लघु शोध कार्य में शोधकर्ता ने माध्यमिक स्तर (कक्षा–9 एवं 10) पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति एवं बुद्धि–लब्धि का अध्ययन करने के लिए मध्यमान, प्रामणिक विचलन, टी–अनुपात परीक्षण का प्रयोग किया और प्राप्त परिणामों के आधार पर परिकल्पना का 0.01 स्तर पर 'टी' मान की सार्थकता ज्ञात की गयी है।

प्रदत्तों का विश्लेषण एवं व्याख्या–

5. **परिकल्पना–1** माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की शैक्षिक निष्पत्ति में कोई अन्तर नहीं है।

उपयुक्त उद्देश्य का विश्लेषण व निर्वचन अग्रलिखित है–

सारणी–1

माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की शैक्षिक निष्पत्ति के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का सार्थकता अन्तर–

प्रतिदर्श	N	M	S.D	D	σ_D	df	t	सार्थकता स्तर
छात्र	50	56.14	8.6	10.14	1.79	98	5.66	0.01 स्तर
छात्रा	50	53.69	5.2					
निष्कर्ष	$H_0 = \mu_1 - \mu_2 = 0$			0.01 स्तर पर स्वीकृत है।				

व्याख्या– सारणी–1 से स्पष्ट है, कि परिगणतीय मान 5.66 है जो df 98 के 0.01 सार्थकता स्तर पर सारणी मान 2.63 से अधिक है। अतः शोध परिकल्पना कि माध्यमिक स्तर पर छात्र एवं छात्राओं की शैक्षिक निष्पत्ति के प्रति उनकी प्रतिक्रिया में अन्तर है। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की शैक्षिक निष्पत्ति के मध्यमानों में अन्तर सार्थक है।

परिकल्पना–2

माध्यमिक स्तर के शहरी एवं ग्रामीण विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति में कोई अन्तर नहीं है।

उपयुक्त उद्देश्य का विश्लेषण व निर्वचन अग्रलिखित है–

सारणी–2

माध्यमिक स्तर के शहरी एवं ग्रामीण विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का सार्थकता अन्तर–

प्रतिदर्श	N	M	S.D	D	σ_D	df	t	सार्थकता स्तर
शहरी	50	55.68	8.2	6.61	1.81	98	3.65	0.01 स्तर
ग्रामीण	50	62.29	9.9					
निष्कर्ष	$H_0 = \mu_1 - \mu_2 = 0$			0.01 स्तर पर स्वीकृत है।				

व्याख्या– सारणी–2 से स्पष्ट है, कि परिगणतीय मान 3.65 है जो df 98 के 0.01 सार्थकता स्तर पर सारणी मान 2.63 से अधिक है। अतः शोध परिकल्पना कि माध्यमिक स्तर पर शहरी एवं ग्रामीण विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति के प्रति उनकी प्रतिक्रिया में अन्तर है। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि माध्यमिक स्तर के शहरी एवं ग्रामीण विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति के मध्यमानों में अन्तर सार्थक है।

परिकल्पना–3

माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की बुद्धि–लब्धि में कोई अन्तर नहीं है।

उपयुक्त उद्देश्य का विश्लेषण व निर्वचन अग्रलिखित है–

सारणी–3

माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की बुद्धि–लब्धि के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का सार्थकता अन्तर–

प्रतिदर्श	N	M	S.D	D	σ_D	df	t	सार्थकता स्तर
छात्र	50	42.23	6.9	11.46	11.38	98	1.0	0.01 स्तर
छात्रा	50	53.69	5.2					
निष्कर्ष	$H_0 = \mu_1 - \mu_2 = 0$			0.01 स्तर पर स्वीकृत है।				

व्याख्या– सारणी–3 से स्पस्ट है, कि परिगणतीय मान 1.0 है, जो df 98 के 0.01 सार्थकता स्तर पर सारणी के मान 2.63 से कम है। अतः शून्य परिकल्पना कि माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की बुद्धि–लब्धि में अन्तर नहीं है, स्वीकृत होती है। इस प्रकार हम कह सकते है, कि माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की बुद्धि–लब्धि में सार्थक अन्तर नहीं है।

परिकल्पना–4

माध्यमिक स्तर के शहरी और ग्रामीण विद्यार्थियों की बुद्धि–लब्धि में कोई अन्तर नहीं है।

उपयुक्त उद्देश्य का विश्लेषण व निर्वचन अग्रलिखित है–

सारणी–4

माध्यमिक स्तर के शहरी और ग्रामीण विद्यार्थियों की बुद्धि–लब्धि के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का सार्थकता अन्तर–

प्रतिदर्श	N	M	S.D	D	σ_D	df	t	सार्थकता स्तर
शहरी	50	52.34	7.1	11.35	11.32	98	1.0	0.01 स्तर
ग्रामीण	50	63.69	8.32					
निष्कर्ष	$H_0 = \mu_1 - \mu_2 = 0$			0.01 स्तर पर स्वीकृत है।				

व्याख्या– सारणी–4 से स्पस्ट है, कि परिगणतीय मान 1.0 है, जो df 98 के 0.01 सार्थकता स्तर पर सारणी के मान 2.63 से कम है। अतः शून्य परिकल्पना कि माध्यमिक स्तर के शहरी और ग्रामीण विद्यार्थियों की बुद्धि–लब्धि एवं शैक्षिक निष्पत्ति में अन्तर नहीं है, स्वीकृत होती है। इस प्रकार हम कह सकते है, कि माध्यमिक स्तर के शहरी और ग्रामीण विद्यार्थियों की बुद्धि–लब्धि में सार्थक अन्तर नहीं है।

शैक्षिक निहितार्थ–

प्रस्तुत लघु शोध के निम्नवत शैक्षिक निहितार्थ है–

- प्रस्तुत लघु शोध के निष्कर्ष से स्पष्ट है, कि बुद्धि–लब्धि का सीखने की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान होता है एवं उनके बीच सकारात्मक सम्बन्ध होता है। अतः शिक्षकों को विद्यार्थियों की बुद्धि–लब्धि का अध्ययन करके उन्हें अभिप्रेरित किया जा सकता है, जिससे उनकी शैक्षिक निष्पत्ति में वृद्धि हो सके।
- ग्रामीण परिवेश के विद्यार्थियों की शिक्षा–दीक्षा पर शहरी परिवेश के विद्यार्थियों की तरह ही पर्याप्त ध्यान दिया जाए, तो उनकी बुद्धि–लब्धि एवं शैक्षिक निष्पत्ति भी उच्च हो सकती है।

- छात्र एवं छात्राओं का शैक्षिक उपलब्धि समुन्नत करने के लिए उनके बीच स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना का विकास करके उन्हे उन्नति के मार्ग पर ले जाया जा सकता है।

उपरोक्त निष्कर्षो पर अधारित शैक्षिक निहितार्थ से स्पष्ट होता है, कि माध्यमिक स्तर पर शहरी परिवेश के विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति एवं बुद्धि–लब्धि पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जबकि ग्रामीण परिवेश के विद्यार्थियों पर कम ध्यान दिया जाता है। अतः विद्यालय के प्रबन्धक व प्रधानाचार्य को समय–समय पर शिक्षकों की कार्यशैली में सुधार हेतु वर्क–शाप, सेमिनार, शैक्षिक भ्रमण, कार्य–गोष्ठी इत्यादि का आयोजन करना चाहिए, जिसमें वह नयी–नयी शिक्षण विधियों, प्रविधियों, तरीकों एवं जानकारीयों को प्राप्त कर सकें और उनका प्रयोग कर अपनी शैक्षिक उपादेयता को और भी प्रभावशाली कर सकें।

भावी शोध हेतु सुझाव–

प्रस्तुत लघु शोध से सम्बन्धित परिणामों तथा उससे प्राप्त निष्कर्ष को आधार मानते हुए संभावित शोध कार्य करने हेतु निम्नलिखित सुझावों को लिपिबद्ध किया गया हैं–

1. प्रस्तुत शोध माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों पर किया गया है, इसे उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तर के विद्यार्थियों को लेकर भी किया जा सकता है।
2. प्रस्तुत शोध कार्य वाराणसी जनपद के परिप्रेक्ष्य में किया गया है, इसे वृहद स्तर पर मण्डल के परिप्रक्ष्य में भी किया जा सकता है।
3. प्रस्तुत शोध कार्य उत्तर प्रदेश बोर्ड के विद्यार्थियों पर किया गया है, इसे C.B.S.E एवं I.C.S.E बोर्ड के विद्यार्थियों पर किया जा सकता है।
4. प्रस्तुत शोध केवल विद्यार्थियों पर किया गया है, इसके अतिरिक्त शिक्षकों तथा अन्य व्यवसाय से जुड़े व्यक्तियों को लेकर भी किया जा सकता है।
5. शैक्षिक उपलब्धि एवं बुद्धि–लब्धि के अतिरिक्त शासकीय सुविधा, सामाजिक जागरूकता के अतिरिक्त अन्य चरों को भी आधार बनाकर अध्ययन किया जा सकता है।

संदर्भ :

1. सिंह, अरूण कुमार (2017), मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा शिक्षा में शोधकर्ता विविधयाँ, मोतीलाल बनारसीदास, पटना।
2. राय, पारसनाथ (2010), अनुसन्धान परिचय, लक्ष्मी नरायण अग्रवाल, आगरा।
3. पाण्डेय, कामता प्रसाद (2012), शैक्षिक अनुसंधान, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
4. पाठक, पी.डी. (2014). शिक्षा मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।

5. गुप्ता, एस0पी0 एवं गुप्ता, अल्का (2017), उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
6. भटनागर, आर.पी. (2003). मनोविज्ञान और शिक्षा में मापन एवं मूल्यांकन, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ।

---

[1] मेनन, एस0 के0 (1973), उच्च क्षमता वाले शैक्षणिक सफलताओं कि व्यक्तित्व प्रोफाइल का एक तुलनात्मक अध्ययन, शैक्षिक अनुसंधान का पाँचवां सर्वेक्षण, वाल्यूल–1 नई दिल्ली, एनसीईआरटी।

[2] शिवप्पा, डी0 (1980), फैक्टर इफेक्टिंग दी एकेडमिक एचीवमेंट ऑफ हाईस्कूल प्यूपिल्स, पी0–एच0डी0, एजूकेशन, कर्नाटक यूनिवर्सिटी, कर्नाटक।

[3] Ushmani, S.M. (1981) Creativity in relation to alienation, ego-strength, and intelligence in arts and science streams of intermediate students, PhD., Education, B.H.U, Varanasi.

[4] शर्मा, अरविन्द (2002), उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्र–छात्राओं की बुद्धि–लब्धि, शैक्षिक रूचि, आकांक्षा स्तर एवं पारिवारिक सम्बन्धों से शैक्षिक उपलब्धि का सम्बन्ध : एक तुलनात्मक अध्ययन, पी0–एच0डी0, शिक्षाशास्त्र, छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर।

[5] आलम, मेहताब (2012), कक्षा आठ में अध्ययनरत् विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर मानसिक दबाव, मानसिक स्वास्थ्य एवं शैक्षिक अभिरूचि के प्रभाव का अध्ययन, पी0–एच0डी0, शिक्षाशास्त्र, एम0जे0आर0 विश्वविद्यालय, बरेली।

[6] यादव, कमला प्रसाद (2015), वीर बहादुर सिंह पूर्वान्चल विश्वविद्यालय की शैक्षिक उपलब्धि पर सामाजिक आर्थिक स्तर, बुद्धि एवं अध्ययन आदतों के प्रभाव का एक अध्ययन, पी0–एचडी0, शिक्षाशास्त्र, वीर बहादुर सिंह पूर्वान्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर।

***